CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचितं

नाट्यदर्पणम्

थानेशचन्द्र उप्रेति

Jayatu Sanskrit... K... ...epal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुस्तक परिचय

भारतीय वाङ्मय में नाट्यकला का अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन है। नाट्यशास्त्र के निर्माता के रूप में आचार्य भरत मुनि को स्मरण किया जाता है। इसी के आधार पर की गई रचना **नाट्यदर्पण** रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है। उन्होंने ही इस ग्रन्थ की विशद व्याख्या के लिए **स्वोपज्ञ-वृत्ति** की भी रचना की। इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों के मत-मतान्तरों का उल्लेख भी हुआ है। इसमें स्थल स्थल पर सुशिक्षित कवियों के लिए भी प्रेरक विचार सूक्ति रूप में आबद्ध हैं।

ग्रन्थ के सम्पादनकर्ता विद्वान् ने **नाट्यदर्पण** के प्रत्येक सूत्र का सरल अनुवाद किया है। तदनन्तर ग्रन्थ के विवरण के अनुकूल ही अपनी 'विमर्श' नामक व्याख्या प्रस्तुत की है, जो इस ग्रन्थ को सुगमतया हृदयङ्गम करने में अत्यन्त उपादेय है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में ग्रन्थकार कृत विवरण दिया गया है जो संस्कृतज्ञों के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

डा० केशव प्रसाद उपाध्याय
सरस्वती नगर, चावहिल 6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Parimal Sanskrit Series No-23

NĀṬYADARPAṆA

OF

RĀMACANDRA & GUṆACANDRA

WITH THEIR OWN COMMENTARY

'SVOPAJÑAVṚTI'

Edited with Hindi

Translation and 'Vimarśa'

By

T. C. UPRETI

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Published By:

PARIMAL PUBLICATIONS

27/28, Shakti Nagar,

DELHI- 110007

© Publishers

First Edition 1986

Second Edition 1994

Price Rs. 125.00

Printed at: Raj Offset Printers, Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या-२३

रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितं

नाट्यदर्पणम्

स्वोपज्ञविवरणभूषितम्

व्याख्याकारः

पं० थानेशचन्द्र उप्रेती

सांख्य-योग-पुराणेतिहासाचार्यः

साहित्याचार्यः

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकाशकः

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर,

दिल्ली- ११०००७

प्रथम संस्करण- १९८६

द्वितीय संस्करण- १९९४

© प्रकाशक

मूल्य- १२५००

मुद्रकः राज आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भूमिका

"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्" महाकवि कालिदास की यह उक्ति नाट्य के विषय में सर्वथा सत्य है, कि विभिन्न रुचि के लोगों के मनोरंजन का साधन एकमात्र नाट्य है।

अमरकोषकार अमरसिंह के अनुसार नृत्य, गीत एवं वाद्य इन तीनों के समुच्चय को नाट्य कहते है। "तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।"

नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ निकलता है—"नटस्येदं कर्म नाट्यम्" नट का जो कर्म नाचना; गाना एवं बजाना उसी को नाट्य कहते हैं।

वस्तुतः नाट्य शब्द का मुख्य अर्थ रस है, जैसा कि भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में लिखा है "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त का कहना है कि यतश्च तं विनाऽर्थः प्रयोजनं प्रीति पुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते।" रस के बिना विभावादि पदार्थ व्याख्यान करने के लिए बुद्धि में नहीं आते हैं। आशय यह है कि रस के बिना आनन्द के साथ व्युत्पत्ति का होना असम्भव सा है, जो कि काव्य का मुख्य फल है। तस्मात् नाट्य ही रस है।

रस, नर्तन या नटन रूप हो नहीं सकता है, अतः मुख्यार्थ बाध होने से, रसाभिव्यञ्जन समर्थ चतुर्विध अभिनय युक्त नर्तन को भी लक्षणा के द्वारा नाट्य कहा है और सामाजिकों के निर्विघ्न रस की प्रतीति के साधनरूप नट के व्यापार को अभिनय कहते हैं, जिसके द्वारा काव्योपात्त-विभावादि की प्रतीति होती है। जैसा कि संगीतरत्नाकर में भी कहा है—

नाट्यशब्दो रसे मुख्यो, रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः ॥१॥

नर्तनं नाट्यमित्युक्तं सर्वत्राभिनयो भवेत्।
काव्यबद्धं विभावादि व्यञ्जयन् यो नटे स्थितः ॥२॥
सामाजिकानां जनयन् निर्विघ्नरससंविदम् ॥

लक्षणा से नाट्य पद का अर्थ होगा चतुर्विध अभिनय या अभिनय हेतुक राम की प्रतीति। वह अभिनय रस का अभिव्यञ्जक है, क्योंकि अभिनय और रस में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है। अतः इस परम्परा से नाट्य का अर्थ रस ही होगा। लोक व शास्त्र में इस प्रकार के अर्थ का व्यवहार बहुत प्रचलित है। जैसे—उपनिषद् पद का मुख्य अर्थ है—विद्या, तथापि लक्षणा द्वारा वह ईशावास्यादि मन्त्रसमूह में भी प्रचलित है। भरतसूत्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त के अनुसार भी रसस्वभाव—वस्तु का नाम ही नाट्य है, जो लौकिक पदार्थों से भिन्न है, केवल आस्वादन रूप संवित् विशेष है, सामाजिक इसका अनुभव करते हैं। परवर्ती विद्वानों में दशरूपककार धनञ्जय व धनिक ने भी अभिनव व्यापार व उससे होने वाले आनन्द के बीच की जो सामाजिक की प्रतीति—ज्ञान है, उसको नाट्य कहा है।

दशरूपककार धनञ्जय ने लिखा है कि—"**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**" अर्थात्—अवस्था का अनुकरण ही नाट्य है। इसे और स्पष्ट करते हुए टीकाकार धनिक ने लिखा है कि "**काव्योपनिबद्ध धीरोद्धत्ताद्यवस्थानुकारः, चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिः, नाटयम्।**" अर्थात्—काव्यों में जो रामादि नायकों की धीरोदात्तत्वादि अवस्थायें लिखी हैं, उनके अभिनय-अनुकरण से सामाजिकों को जो नट में रामत्व की प्रतीति होती है, (अथवा अपने में जो रामत्व की प्रतीति होती है।) वही नाट्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इन्हीं विकल्पों को हृदयङ्गम करते हुए लिखा है कि भावना विशेष रूप दोष की महिमा से सामाजिक अपने को दुष्यन्तत्व से अवच्छादित मानता है। यदि कोई यह कहे कि राम व दुष्यन्तादि तो पहिले हो चुके फिर वे तो राजा थे, सामाजिक तो अभी वर्तमान है, वह सामान्य व्यक्ति है, वह अपने में रामत्व या दुष्यन्तत्व की प्रतीति कैसे करेगा ? तो इसके उत्तर में कहना है कि भावना विशेष रूप दोष की महिमा से अपने में दुष्यन्तादि अभेद बुद्धि अच्छी तरह हो जाती है, क्योंकि काव्यों में जो दुष्यन्त शकुन्तलादि शब्द हैं, वे धर्मविधया धर्मी का बोध कराते हैं। अर्थात् दुष्यन्तत्वेन शकुन्तलात्वेन उनसे दुष्यन्त व शकुन्तला की प्रतीति होगी। "**भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि इति।**" "**स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहततोत्यादिकमपास्तम् इति, तेन स्वात्मनि दुःष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।**"

प्रस्तुत ग्रन्थ, नाट्यदर्पण के अनुसार अनुरञ्जनपूर्वक सभ्यों के हृदय को जो नचा दे वही नाटक है—ऐसा नाटक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करके, पुनः विचार पूर्वक नाटक का वास्तविक अर्थ चतुर्विध पुरुषार्थ के साथ-साथ राजाओं व अमात्यों के लिये भी जो शिक्षाप्रद हो वह नाटक है ऐसा निश्चय किया है—"**नाटयति रञ्जनाप्रवेशेन विचित्रं सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्, यद्यपि कथादयोऽपि श्रोतृहृदये नाटयन्ति, तथाप्यङ्गोपायादीनां वैचित्र्यहेतूनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम्।**

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा प्रधानपुरुषार्थेन राज्ञां तदङ्गभूतेष्वमात्यादीनां च बहूनां व्युत्पादकमिति" ऐसा विवरण में लिखा है। इसका विशेष विवेचन पाठक विमर्श में अवलोकन करें। यद्यपि नाट्य के सभी रूपों में नर्तन, अनुकरण व आरोपणादि सामान्येन विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह अनुकरण या आरोप केवल सदृशानुकार मात्र नहीं है, अपितु सम्पूर्ण जगत् के हितों का उपदेशक भी है, और श्रमार्त व शोकार्तों के लिये सुख व शान्तिप्रद भी है, जैसाकि नाट्य के उद्देश्य के प्रसङ्ग में भरत मुनि ने कहा है—

हितोपजननं लोके धृतिक्रीडासमन्वितम् ।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतत् भविष्यति ।।

चाहे नाटक हो या गद्य काव्य उसमें वर्णित या चित्रित घटनाओं का जब हम मानसप्रत्यक्ष करते हैं, तभी हमें हृदय में आनन्दोद्रेक होता है। यही आनन्दोद्बोध या रसोन्मेष कराना काव्य या रूपक का अन्तिम फल है। इसी में रूपक की रमणीयता भी है। यद्यपि यह रसोन्मेष श्रव्य काव्य के द्वारा भी होता है परन्तु वह शब्द द्वारा होने से कुछ परोक्ष सा मालूम पड़ता है। दृश्यकाव्य-रूपक या नाटक में तो यह सब वर्णित विषय बिल्कुल प्रत्यक्ष सा मालूम पड़ता है। समग्र घटनायें चित्रपट की तरह नाना रङ्गों में हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है।

इसलिये तो नाट्य को तीनों लोकों का भावानुकीर्तन कहा है।

नैकान्ततोऽत्र भावानां देवानां चानुकीर्तनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

सुख-दुःखादि नाना विकृतियों की परम्परा के प्रवाह का नाम ही संसार है और नाट्य को आनन्द के प्रकाश में इन सबका आस्वादन कराना है, वह भी केवल शब्दतः नहीं, अपितु विचित्र-चित्र-पुरस्सर प्रत्यक्ष। तभी तो दर्शक के हृदय में इसकी अमिट छाप रहेगी। अतः इस काव्य को कहीं अधिक रोचक व रम्य बनाना कवि का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसलिये तो कहा है—**"काव्येषु नाटकं रम्यम्।"**

संस्कृत नाटकों की विशेषताएं

संस्कृत नाटक भारतीय संस्कृति के प्रचार व प्रसार के साथ-साथ मानव जीवन की अनेक सुखदुःखात्मक समस्याओं के समाधान में व्यस्त रहते हैं। लोक व्यवहार व लोक भाषा के विषय में भी ये नाटक औचित्य का हमेशा ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में हम संस्कृत के साथ-साथ पात्रानुकूल प्राकृत भाषा का भी मनोरम मिश्रण पाते हैं। जिस समय इन नाटकों का निर्माण हुआ उस समय जनसामान्य की भाषा प्राकृत थी, पर उच्च श्रेणी के व्यक्तियों की बोलचाल

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की भाषा संस्कृत ही थी, इसलिए अधिकतर स्त्रियों व निम्नवर्ग के पात्रों के मुख से कवि लोग प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करवाते हैं।

संस्कृत नाटक अङ्कों में विभक्त किये जाते हैं। अङ्क की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रङ्गमञ्च से बहिर्गमन होता है। नाटकीय पात्रों में विदूषक एक विचित्र ही पात्र होता है। यह नायक का मित्र होता है दास नहीं। इसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है, अपितु समय आने पर यह नायक के अनेक कार्यकलापों में सहायक होता है।

कवि का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह भारतीय संस्कृति के अनुकूल आदर्श वातावरण को अपने नाटक में उपस्थित करे, जिससे ललितकला के साथ-साथ दर्शकों के हृदय में अत्यधिक भावना की अनुभूति कला की कोमल रसाभिव्यक्ति के सहारे हो जाये।

रङ्गमञ्च में वे ही दृश्य उपस्थित किये जाते हैं जो सभ्य, शिष्ट तथा उदात्त हों। कुरुचि उत्पादक घृणित, अत्यन्त अश्लील व वध-बन्धादि अनुचित दृश्यों को रङ्ग-मञ्च में प्रदर्शन न करके आवश्यक कुछ घटनाओं की सूचनामात्र दी जाती है।

नाटक का पर्यवसान हमेशा सुखान्त बनाया जाता है। भारतीय जीवन-दर्शन के अनुसार मानवमात्र का पर्यवसान व प्रारम्भ हमेशा सौन्दर्य तथा आनन्द के मधुमय संयोग में ही होता है।

नाट्य का प्राण "लोक" है। नाटक में कितनी वस्तुएँ प्राप्त हैं, कितना अभिनय अभिनन्दनीय है, और कितना निन्दनीय है—इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर लोक से ही प्राप्त होता है। इसलिए विस्तृत व व्यापक व्यवहार की जानकारी के लिए कवि को लोकवृत्त की शरण लेनी चाहिए। भरत मुनि के शब्दों में लोकस्वभाव अनुपेक्षणीय है।

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥

वस्तुतः लोक के नाना अवस्थाओं का जो सम्मिलित वृत्त है, उसी के कलात्मक संविधान का संकीर्तन ही तो नाट्य है, जो कि धर्मार्थकाम के अभिमुख है—

लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम्।
तदङ्गाभिनयोपेतं नाट्यमित्यभिसंज्ञितम्॥ (ना० शा० ११५)

रूपकों की रमणीयता तीन तत्त्वों पर निर्भर है—

(१) वस्तु, (२) नेता और (३) रस।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वस्तु से अभिप्राय है नाटकीय इतिवृत्त का या कथानक का। इसके भी आधिकारिक व प्रासङ्गिक रूप से अनेक भेद होते हैं। इसका विस्तृत विवेचन नाट्यदर्पण के विमर्श में दे दिया है।

इसी कथानक का वैज्ञानिक विभाजन पञ्चसन्धियों में किया जाता है। ये सन्धियां—पांच अवस्थाओं व पांच अर्थप्रकृतियों के क्रमशः सम्मिलन से होती हैं।

१. अवस्थायें—आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागम—

२. अर्थप्रकृतियां—बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्य—

३. सन्धियां—मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्श-निर्वहण—

किसी नाटक में पञ्च सन्धियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी से नाटक की विशेषता भी है, इन्हीं अवस्था व अर्थप्रकृतियों से सन्धियों का संगठन ही कवि का कठिन कार्य है। इसके अभाव में तो नाटक केवल एक इतिवृत्तिमात्र है।

इन अवस्था, अर्थप्रकृति व सन्धियों का विवेचन दर्पण व विमर्श में विस्तार से है, जिज्ञासु पाठक वहीं से अवगम कर लें।

नेता—नेता या नायक के वर्णन के अन्तर्गत नाटक का नायक तथा उसके अन्य परिकरों का भी समावेश हो जाता है। नेता में सुन्दर गुणों की सत्ता अनिवार्य है। "त्यागी कृती कुलीनो रूपयौवनोत्साही" इत्यादि। इसी प्रकार नायिका के लिए भी उक्त गुणों का होना जरूरी है।

यह नेता मुख्यरूप से चार प्रकार का होता है—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त व, (४) धीरोद्धत।

भरत मुनि ने पात्रों को प्रकृति के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा है—उत्तम प्रकृति, मध्यम प्रकृति, तथा अधम प्रकृति। "प्रकृति" का अर्थ स्वभाव है। स्वभाव के अनुसार ही ये तीन भेद होते हैं, और अयनी अपनी प्रकृति के अनुसार उनके कार्य कलाप भी होते हैं। जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास ने महर्षि के काव्य को उनकी उत्तम व उदात्त प्रकृति के अनुसार ही चित्रित किया है। वे उत्तम प्रकृति के पात्र हैं। फलतः उनका प्रत्येक कार्य, भाषा तथा भाव, कथन व आचरण सब कुछ उसी प्रकृति के अनुरूप है। वे वैदिक ऋषि हैं। इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाओं में वैदिक यज्ञ याग की सुगन्धि आती है। अन्य पात्रों का भी वर्णन उनके प्रकृति के अनुरूप ही होना चाहिए।

रस—रस तो नाटक का प्राण है। यदि दर्शकों का मन रस के आनन्द से उल्लसित नहीं होता, तो वह अभिनय केवल प्रदर्शनमात्र है, नाटक नहीं। नाट्य का समग्र संविधानक रसोन्मेष की ओर अग्रसर होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाट्य के समस्त अङ्ग व उपाङ्ग-जागरूक रहते हैं। अभिनय, संवाद, छन्द व अलंकार, स्वर-संगीत आदि विशाल सामग्री का व्यापार केवल रसोन्मीलन के उद्देश्य से ही होता है। रस की सत्ता स्वीकार करके ही भरत ने काव्य में गुण दोष की व्यवस्था की है। गुण वही है जो रस अनुगुण हो, और दोष वही है जो रस के प्रतिकूल हो। इसी रस की निष्पत्ति के लिए काव्य व नाटक में समग्र अङ्गों का उपाख्यान होता है। अतः विशेषकर नाटक में कवि को रसैकतान होना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकारों की यह सूक्ति कथमपि नहीं भुलाई जा सकती है।

अलङ्कारमृदुःपन्था कथादीनां सुसञ्चरः।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य, रसकल्लोलसङ्कुलः ॥

इस दिशा में निश्चित ही संस्कृत नाटककारों का महान् अध्यवसाय है। कवित्व की कसौटी ही वस्तुतः नाटक है। कहा भी है—"नाटकान्तं कवित्वम्"।

संस्कृत नाटककारों में भास, कालिदास, शूद्रक हर्षवर्धन, भवभूति व विशाखदत्त और नारायण भट्ट निश्चित ही रस सिद्ध कवि व नाटककार हैं जिनकी कृतियों से संस्कृत साहित्य गौरवान्वित है। इनका स्वच्छ व सुरम्य यश आज भी इस धराधाम को धवलित कर रहा है।

नाट्य-कला का उद्भव व विकास

भारतीय वाङ्मय में अन्य कलाओं की तरह नाट्य-कला का भी अस्तित्व बहुत पुराना है। साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ विचार क्षेत्र में नाटकों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। वैदिक युग में ही नाट्यकला के उद्भव का पर्याप्त पता चल जाता है। ऋग्वेद जो कि विश्वसाहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, उसमें यत्र पत्र नाट्य-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री विकीर्ण है।

उषा के वर्णन प्रसङ्ग में उसकी उपमा एक नर्तकी से दी गई है। पुरुखा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि, सरमा-पाणिस आदि ऋग्वेदोक्त संवादों में नाट्य-कला की यथेष्ट सामग्री विद्यमान है।

मैक्समूलर, लेंबी, और ओल्डेनवर्ग प्रभृति विद्वानों ने वेदों में प्रयुक्त इसप्रकार के संवादात्मक सूक्तों को आधार मानकर भारतीय नाट्य कला की उत्पत्ति वैदिक युग में ही सिद्ध की है।

ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद में नाट्य-सम्बन्धी विचारों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के एक प्रसङ्ग से अवगत होता है कि यज्ञ के अवसरों पर नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परवर्ती साहित्य में नाट्य कला व उसके शिल्पादि सामग्री का और भी विशद विवेचन मिलता है। अष्टाध्यायी, रामायण, अर्थशास्त्र, बौद्धजातक और महाकाव्यों में हमें नाट्यकला के विभिन्न अङ्गों, उसके पात्रों व पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

रामायण काल की अयोध्या नगरी में नाटक-मण्डलियाँ प्रभूत ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। कुशीलव (नट-नर्तक) लोगों का उस समय काफी प्रचार हो चुका था। रामायण के एक प्रसङ्ग में कहा गया है कि नटों, नर्तकों और गायकों की कर्ण सुखद गीतों को जनता पूरी तन्ययता से सुनती है। महामुनि वाल्मीकि का कथन है कि शासकहीन जनपद में नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते हैं।

नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥१॥
"नीराजके जनपदेऽप्रहृष्ट नटनर्तका :।" इत्यादि।

महावैय्याकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में हमें भिक्षु सूत्रों व नटसूत्रों के प्रणेता पाराशर्य, शिलालि तथा कृशाश्व नामक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसके बाद "महाभारत" में नाटकों के शिल्प सम्बन्धी विधानों का अधिक व स्पष्ट वर्णन मिलता है। महाभारत के अन्तिम भाग हरिवंश के प्रद्युम्न विवाह के अवसर पर यह दिखलाया है कि भद्र नामक एक नट ने अपने आकर्षक अभिनय से उपस्थित ऋषि-महर्षियों को प्रसन्न किया था जिसके फलस्वरूप उसने आकाश में विचरण करना तथा स्वेच्छया रूपधारण करने का वरदान प्राप्त किया था।

मौर्य साम्राज्य की कीर्ति कथा को धरती पर फैला देने वाले अद्भुत विद्वान् कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि अन्य कलाओं के अतिरिक्त जितनी भी ललित कलायें थीं, उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उस समय राज्य की ओर से पूरा प्रबन्ध था। इसी अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ से यह भी जानकारी मिलती है कि उस समय नट-नर्तक, गायक वादक-कुशीलव आदि विभिन्न वर्ग गा-बजाकर और नाटक करके जीविकोपार्जन किया करते थे और इन्हें राज्य को निर्धारित कर भी देना पड़ता था। इसी प्रकार पतञ्जलि के महाभाष्य में दो नाटक कंसवध व बालिवध का उल्लेख मिलता है।

डॉ० कीथ का कहना है कि पतञ्जलि के समय तक नट केवल नर्तक ही नहीं रह गये, अपितु वे संगीत व अभिनय में चतुर थे।

कामशास्त्र के विख्यात आचार्य वात्स्यायन के कथनानुसार तत्कालीन कलापूर्ण सरस्वती-भवनों में पक्ष या मास के प्रसिद्ध पर्वों पर राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा अभिनय किया जाता था और इस उत्सव को "समाज" कहा जाता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार भारतीय नाट्य-कला वैदिक काल से वर्तमान युग तक अपने विशुद्ध व विस्तृत रूप में हमें उपलब्ध होती है। निश्चित ही ईशा की छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक मध्य काल इसके चरमोत्कर्ष का समय था, उस समय नाट्य के उन सभी अङ्गों का सोङ्गोपाङ्ग विवेचन होता था, और तदनुसार नाट्य की सभी विधाओं का मनोरम निर्माण भी होता रहा। यही कविता का अन्तिम निष्कर्ष समझा जाने लगा, इस प्रसङ्ग में अभिनव गुप्त का यह कथन है कि, "अभिनय क्रिया कलाप के द्वारा हृदयहीन सामाजिक भी सहृदय सामाजिक की तरह अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है" सर्वथा सत्य है।

इस दृष्टि से एक काव्यकार की अपेक्षा एक नाटककार का कहीं अधिक दायित्व है। यद्यपि दोनों कवि हैं, किन्तु कवि की वर्तमान के प्रति उतनी निष्ठा नहीं रहती, जितनी कि भविष्य के प्रति। परन्तु नाटककार के समक्ष भविष्य की अपेक्षा कहीं वर्तमान का तकाजा अधिक है। यही कवि और नाटककार में मौलिक भेद हैं।

भारतीय रङ्गमञ्च में जैसे-जैसे इस नाट्यकला की ओर जनता, शासक तथा पण्डितों की अभिरुचि बढ़ती गई, या जिस गति से इस कला का सर्वाङ्गीण विकास होता गया। उसी अनुपात में इसको सुव्यवस्थित करने के नाट्य सम्बन्धी संविधानों की चर्चा भी समुन्नत होती गई। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि नाट्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य का नव निर्माण होने लगा, जो कि नाट्यकला के समुत्कर्ष का निदर्शक है।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय

(१) **आचार्य भरत** :—आचार्य भरत या भरत मुनि नाट्यशास्त्र के निर्माता के रूप में स्मरण किये जाते हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार सर्वशक्तिमान् जगत् पिता ब्रह्मा ने नाट्य नामक पञ्चम वेद की रचना की, और इसके अभिनय का पूरा भार महामुनि भरत को सौंप दिया। स्त्री पात्रों के लिए अनिंद्य सुन्दरी अप्सराओं की रचना की गई। रंगशाला की साजसज्जा का सारा दायित्व विश्वकर्मा ने स्वीकार किया। उसमें सर्वप्रथम "असुर पराजय" फिर क्रमशः "अमृतमन्थन" और "त्रिपुरदाह" आदि नाटकों का अभिनय हुआ।

नाट्यशास्त्र में नाटकीय संविधान के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय आलोचना का भी पूरा विश्लेषण है। जिसमें रस, रीति, दोष, गुण व अलङ्कारों पर पूरा प्रकाश डाला गया है। भरत के मतानुसार नाट्य नामक पञ्चम वेद तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है—

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"

सभी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण होने के कारण नाटक में सभी प्रकार का ज्ञान, शिल्प-विद्यायें, कलायें, व शास्त्र-ज्ञान भी विद्यमान है। नाट्य-वेद पञ्चम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेद है। इसमें इतिहास और श्रुति-स्मृति, सदाचार तथा सबको विनोद प्रदान करने के साधन भी विद्यमान रहते हैं।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की एक जैसी धारणायें हैं। भरत मुनि ने नाटक का प्रयोजन जिन दुःखार्त, श्रमार्त, एवं शोकार्त जनों की संतुष्टि के लिए बताया है, उसी बात को यूनान के युग द्रष्टा विद्वान् अरस्तू ने भी कहा है।

(२) **नन्दिकेश्वर** :—संगीतरत्नाकर में मतङ्ग के साथ नन्दिकेश्वर के मत का भी उल्लेख किया गया है। इनकी कृति का नाम "अभिनयदर्पण" है।

रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दीश्वर संहिता के लेखक और अभिनयदर्पण के कर्ता नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति है। पर अन्य विद्वानों का इसमें मतभेद है। अभिनयदर्पण में आङ्गिक अभिनय का विस्तृत विवेचन है। इनके समय के विषय में विद्वानों का एकमत नहीं है।

(३) **सागरनन्दी**—आचार्य सागरनन्दी की कृति—"नाटक-लक्षण-रत्न कोश" है। इस ग्रन्थ में दशरूपक के समान ही नाट्य सम्बन्धी विवेचन है। कहीं-कहीं अभिनय सम्बन्धी चर्चा भी है। सम्भवत: इनका समय भी दशरूपककार धनञ्जय के आस-पास है। इस ग्रन्थ की विशेष महत्ता यह है कि इसमें हर्ष वार्तिक, मातृगुप्त, गर्म, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरि नामक नाट्याचार्यों का उल्लेख किया गया है।

४. **धनञ्जय**—आचार्य धनञ्जय का ग्रन्थ दशरूपक है। इसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में किन्तु बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णित तथा विवेचित हैं। धनिक ने इस पर अवलोक नामक टीका लिखी है।

इनका समय दशम शती का उत्तरार्थ है। ये ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं।

(५) **रामचन्द्र गुणचन्द्र**—रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य माने जाते हैं। इनका समय तेरहवीं शताब्दी हैं। नाट्यदर्पण इन दोनों की सम्मिलित कृति है। यह ग्रन्थ धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्वन्दिता में लिखा गया है, इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

(६) **शारदातनय**—शारदातनय का "भावप्रकाशन" अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्य सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लिया है, अपनी भी मौलिक दृष्टि रक्खी है। यत्र तत्र दार्शनिक विषयों की झलक भी दृष्टि-गोचर होती है। भारत के विविध प्रदेशों का भी वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से यह एक विशाल ग्रन्थ है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(७) **शिङ्ग भूपाल**—शिङ्ग भूपाल का समय लगभग तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इन्होंने रसार्णव-सुधाकर व नाटक परिभाषा दो ग्रन्थों का निर्माण किया है। नाटक परिभाषा में केवल नाट्य-विषय का वर्णन किया गया है और रसार्णव सुधाकर में काव्य के अन्य विषयों के साथ-साथ नाट्य का भी संक्षिप्त वर्णन है।

(८) **रूपगोस्वामी**—रूप गोस्वामी का समय सोलहवीं शताब्दी है। ये चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। इन्होंने "भक्तिरसामृतसिन्धु" तथा "उज्ज्वलनीलमणि" नामक दो काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की है, और "नाटक चन्द्रिका" नामक नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ की भी रचना की। इस ग्रन्थ के आरम्भ में रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि उन्होंने भरत तथा रससुधाकर का अनुसरण किया है, और साहित्यदर्पण के मतों का निराकरण किया है।

(९) **सुन्दर मिश्र**—सुन्दर मिश्र का समय सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ है। इनकी कृति का नाम "नाट्यप्रदीप" है। यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है।

उपर्युक्त नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त त्र्यम्बक का "नाटक दीप" रुय्यक की "नाटकमीमांसा" पुण्डरीक का "नाटकलक्षण" त्रिलोचनादित्य का "नाट्यालोचन" तथा नन्दिकेश्वर का नाट्यार्णव, इत्यादि ग्रन्थों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त कुछ काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ है जिनमें नाट्य सम्बन्धी विवेचन है—

(१) भोजराज का शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण, जिनमें काव्य शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ नाटक के विषयों की भी चर्चा की गई है।

(२) हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, जिसमें काव्याङ्गों के साथ-साथ नाट्य का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। हेमचन्द्र विविध विषयों के अनेक कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। काव्यानुशासन में अनेक आचार्यों तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। किन्तु दशरूपककार धनञ्जय व धनिक का कोई उल्लेख नहीं है।

(३) विश्वनाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, यह ग्रन्थ कारिका वृत्ति और उदाहरण के रीति से लिखा गया है। इसमें तैलंगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव की प्रशंसा की गई है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं, जिनमें नायक, नाटक, रसादि का विवेचन किया गया है। इसका समय चतुर्दश शताब्दी माना जाता है।

(४) विश्वनाथ का साहित्यदर्पण—विश्वनाथ का समय चतुर्दश शताब्दी है। साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र के सभी विषयों का सरल सुबोध भाषा में विवेचन किया

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें काव्यप्रकाश की अपेक्षा नायक-नायिका वर्णन तथा नाट्य-विषय का विवेचन अधिक है। इस प्रकार पूर्वोक्त ग्रन्थ रत्नों के ऊहापोह व उनकी आलोचना-प्रत्यालोचन की परम्परा से संस्कृत नाट्यशास्त्र का विकास होता गया।

नाट्यदर्पण

नाट्यदर्पण, जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है। नाट्यदर्पण नाट्य सम्वन्धी अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों में अन्यतम है। यह ग्रंथ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। नाट्य व काव्य कला के समग्र विषयों का प्रतिपादक नाट्यशास्त्र एक विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर कश्मीर निवासी अभिनव गुप्त पादाचार्य की प्रोढ़ व विस्तृत व्याख्या समुपलब्ध है।

इसके अठारहवें अध्याय में प्रायः नाटक सम्बन्धी विषयों का ही वर्णन है। इसी अठारहवें अध्याय में वर्णित नाटक-सामग्री के सुविस्तृत वर्णन का सार संकलित कर, मालवीय-मुञ्ज महीपति के पण्डित विष्णु शर्मा के पुत्र धनञ्जय ने चार प्रकाशों में विभक्त दशरूपक का निर्माण किया। इसकी प्रतिस्पर्धा में उक्त ग्रन्थकारों ने भी नाट्यदर्पण की रचना की। साथ ही साथ दर्पण के विशद आशय के अवगम के लिए विवरण नामक विस्तृत व्याख्या का भी निर्माण किया। इसीलिए स्थल-स्थल में भरत सिद्धान्त के प्रतिकूल प्राचीन आचार्यों का केचित्, अन्ये, अपरे इत्यादि संकेत से मतान्तरों को उपस्थित कर उनकी समालोचना की गई है।

रूपकों के वर्गीकरण की पूर्व प्रचलित प्रणाली को छोड़कर नयी व प्रामाणिक सरणी का अवलम्बन लिया गया है। "दशधैव रसाश्रयम्" इत्यादि धनञ्जयादि के दश प्रकार के रूपकों में नाटिका व प्रकरणी का समावेश कर "रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यथा न्याय्ये घृतं पथि" इत्यादि रीति से बारह प्रकार के रूपकों के भेद स्वीकार किये गये हैं।

विश्व को न्याय मार्ग का प्रदर्शन करने वाले इन द्वादशाङ्ग आचार की तरह द्वादश रूपों का फल भी चतुर्वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष) बतलाया है, जबकि अन्यत्र केवल "त्रिवर्गसाधनं नाटयम्" कहा है।

नाट्य-कवियों के लिए निर्देश

कवि के लिए कवित्व के प्रति व नाट्य-कवित्व के विषय में ग्रन्थकारों ने प्रारम्भ में ही कवित्व शिक्षा पूर्ण मनोहर उपदेश बारह पद्यों में दिया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसमें भी ग्रन्थकारों ने विशेष कर नाट्य-कवियों को अत्यन्त सचेत किया है कि नाटक का विषय बड़ा ही नाजुक है, और विविध भाव व रसों से संङ्कीर्ण है, ऐसे-ऐसे सुकुमार विषय के लिए कवि को हमेशा सावधान होना चाहिए।

कुछ सूक्तियां तो इतनी उपादेय है कि जो महाकवियों के लिए भी एकान्त में माननीय हैं—

न गीत-वाद्य-नृत्तज्ञाः लोकस्थितिविदो न ये।
अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखा ॥

दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कुलः।
आरङ्काद्-भूर्षति यावत् औचितीं न विदन्ति ये।
स्पृहयन्ति कवित्वाय खेलनं ते सुमेधसाम् ॥

इत्यादि सुशिक्षितों के भी प्रेरक विचार इस ग्रन्थ में निबद्ध किये हैं।

रस के विषय में भी प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ अपूर्व ही सामग्री प्रस्तुत की है। जैसे "सुख-दुःखात्मको रसः" कहकर फिर विवरण में विद्वानों के मनोविनोद के लिए प्रकृष्ट विचार भी किया गया है।

इस प्रकार परिश्रम पूर्वक लिखा गया यह ग्रन्थ भारतीय नाट्यशास्त्र के जिज्ञासु पाठकों के लिए अभिनव सामग्री समुपस्थित करता है।

ग्रन्थकारों का परिचय

नाट्यदर्पण के कर्ता हेमचन्द्राचार्य के प्रसिद्ध शिष्य ये दोनों रामचन्द्र और गुणचन्द्र गुजरात के अनेक नरेश—सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनमें रामचन्द्र प्रबन्ध शत कर्त्ता की उपाधि से मण्डित है। वस्तुतः रामचन्द्र व गुणचन्द्र की संस्कृत नाट्यशास्त्र को यह एक अपूर्व देन है।

इस प्रकार के उपयुक्त ग्रन्थ की उपयोगिता को देखकर और परिमल प्रकाशन के अध्यक्ष महोदय की पवित्र प्रेरणा पाकर, इस ग्रन्थ का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद कर पाठकों के करकमलों में समर्पण कर रहे हैं।

पाठक विवरण के विषय से परिचित हों, इसलिए दर्पण को विमर्श से और स्वच्छ कर दिया है। इसके व्याख्यानालोचना व मुद्रण के प्रमाद जन्य त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता हूं।

विनीत
थानेशचन्द्र उप्रेती

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विषयानुक्रमणी

(प्रथम विवेक)

(१) मङ्गलाचरण, अभिनेयकाव्यकवित्व-नाट्यकवित्वादिविचार, नाट्यलक्षण-विषय प्रतिज्ञा, द्वादशरूपकनामनिर्देश १-८

(२) **नाटकलक्षण**—नायक-विषय भेद, चरित शब्द की व्याख्या—१२, नाटकीय इतिवृत्ति के भेद १४-१६, अङ्क लक्षण—१६, अङ्क संख्या परिमाण—२१, विष्कम्भक स्वरूप—२३, प्रवेशक—२४, अङ्कास्य-चूलिका लक्षण—२५, अङ्कावतार—२६, उपाय व्याख्या—२७, बीजलक्षण—२९, पताका लक्षण—३०, पताका-स्थानक लक्षण और भेद—३०-३२, प्रकरी लक्षण—३३, बिन्दु लक्षण—३३, कार्यलक्षण—३४।

(३) **दशा भेदः**—आरम्भ—३५, प्रयत्न—३६, प्राप्त्याशा—३६, नियताप्ति—३६, फलागम—३७।

(४) **सन्धिभेदः**—मुख-प्रतिमुख-गर्भ-अवमर्श-निर्वहण—३७-४२

(५) **मुखसन्ध्यङ्गः**—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, समाहित, उद्भेदः, करण, विलोभन, भेदन, प्रापण, युक्ति, विधान और परिभावना—४३-४८।

(६) **प्रतिमुख-सन्ध्यङ्गः**—विलास, धूनन, रोध, सान्त्वन, वर्णसंहृति, नर्म, नर्मद्युति, ताप, पुष्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास, अनुसर्पण—४८-५३।

(७) **गर्भ-सन्ध्यङ्गः**—संग्रह, रूप, अनुमान, प्रार्थना, उदाहृति, क्रमः, उद्वेग, विद्रव, आक्षेप, अधिछल, मार्ग, असत्याहरण, तोटक—५४-५९

(८) **अवमर्श-सन्ध्यङ्गः**—द्रव, प्रसङ्ग, सम्फेट, अपवाद, छादन, द्युति खेद, विरोध, सरम्भ, शक्ति, प्ररोचना, आदान, व्यवसाय—५९-६५।

(९) **निर्वहण-सन्ध्यङ्गः**—सन्धि, निरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषा, उपास्ति, कृति, आनन्द, समय, परिगूहन, भाषण, पूर्वभाव, काव्यसंहार, प्रशस्ति—६५-७२।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(द्वितीय विवेक)

(१) प्रकरण लक्षण ... ७३
(२) नाटिका लक्षण ... ७६
(३) प्रकरणी लक्षण ... ७८
(४) व्यायोग लक्षण ... ८०
(५) समवकार लक्षण ... ८१
(६) भाषा लक्षण ... ८३
(७) प्रहसन लक्षण ... ८५
(८) डिम लक्षण ... ८६
(९) उत्सृष्टिकाङ्क लक्षण ... ८७
(१०) ईहामृग लक्षण ... ८९
(११) वीथी लक्षण—व्याहार, अधिबल, गण्ड, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, असत्प्रलाप, वाक्केली, नालिका, मृदव, उद्घात्यक, अवगलित, अवस्पन्दित ... ९०-९७

(तृतीय विवेक)

(१) भारती लक्षण ... ९९
(२) सात्वती लक्षण ... १०२
(३) कैशिकी लक्षण ... १०३
(४) आरभटी लक्षण ... १०४
(५) रस भेदः—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त। रसदोष, रसों के ९ स्थायीभाव एवं ३३ व्यभिचारी भाव ... ११८-१४५
(६) रसादिज अनुभाव—वेपथु, स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु, मूर्छन, स्वेद, वैवर्ण्य ... १४५-१४९
(७) अभिनय भेद—वाचिक, आङ्गिक, सात्विक, आहार्य, ... १४९-१५१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(चतुर्थ विवेक)

(१) नान्दी लक्षण	...	१५२
(२) ध्रुवा या कविध्रुवा का लक्षण	...	१५३
(३) नाटकीय पात्रों की प्रकृति—उत्तम, मध्यम, नीच	...	१५४-१५५
(४) मुख्य नायक के गुण—तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, ललित, गौणनायक, प्रतिनायक, विदूषक, नायिका लक्षण व उनके भेद	...	१५५-१६१
(५) नायिकाओं के प्रसिद्ध भेद - प्रोषितप्रिया, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, अभिसारिका	...	१६०-१६१
(६) स्त्रियों के यौवनस्थ धर्म—अङ्गज (३) स्वभावज (१०) अयत्नज (७) भाषा प्रकार, स्त्रीपात्रों का नाम निर्देश, अन्य कल्पनीय नाम	...	१६२-१६९
स्वोपज्ञविवरणम्	...	१७१-२९१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ॐ श्री गणेशाय नमः

श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्राभ्यां संसूत्रितं

नाट्यदर्पणम्

प्रथमम्

नाट्यदर्पणकाराणां सहृदयेभ्यो नाट्य-कवित्वकामुकेभ्यो भावि-श्रेयः सिद्धि-संसूचकमुपदेशसमन्वितमिदं प्ररोचनम्—

चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ॥१॥

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः ।
स्वयं च स्वोपज्ञजं नाट्य-लक्ष्म विवृण्महे ॥२॥

अलङ्कारमृदुपन्था कथादीनां सुसञ्चरः ।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य, रसकल्लोलसङ्कुलः ॥३॥

न गीतवाद्यनृत्यज्ञाः लोकस्थितिविदो न मे ।
अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः ॥४॥

स कविस्तस्य काव्येन, मर्त्या अपि सुधान्धसः ।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये, यस्य नृत्यति भारती ॥५॥

नानार्थशब्दलौल्येन, पराञ्चो ये रसामृतात् ।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणां, अर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥६॥

श्लेषालङ्कारभाजोऽपि, रसनिष्यन्दकर्कशाः ।
दुर्भगा इव कामिन्यः, प्रीणन्ति न मनो गिरः ॥७॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आरङ्कात् भूपतिं यावत्, औचितीं न विदन्ति ये ।
स्पृहयन्ति कवित्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम् ॥८॥

प्राणाः कवित्वं विद्यानां, लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै, ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥९॥

नासिकान्ते द्वयं श्वित्रं, द्वयोर्व्रीडा रसज्ञयोः ।
कुचाभावः कुरङ्गाक्ष्याः, काव्याभावो विपश्चितः ॥१०॥

अकवित्वं परस्तावत कलङ्कः पाठशालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्याऽपि चूलिका ॥११॥

कवित्ववन्ध्याः क्लिश्यन्ते,सुखीकर्तुं जगन्ति ये ।
नेत्रे निमील्य विद्वांसः, तेऽधिरोहन्ति पर्वतम् ॥१२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सर्वप्रथम

"नाट्य-दर्पण" नामक ग्रन्थ के प्रणेता विद्वत् शिरोमणि श्री रामचन्द्र व गुणचन्द्र महाशयों का, नाटककार बनने की अभिलाषा वाले—अथवा नाट्य-कवित्व की कामना वाले, या नाट्य-कर्म की विवेचना करने वाले सहृदय शिरोमणियों के प्रति यह कल्याण-कारक उपदेश-निदेशक—

विनीत निवेदन है कि—वीतराग-मुनियों की वाणी का परिशीलन कर, और महाकवियों के द्वारा निबद्ध बहुत से नाटकादिकों का अवगमन कर बारह, भेदों में विभक्त जो नाटक-प्रकरण आदि हैं, उनकी समीक्षा करके, उद्देश्य-लक्षण-परीक्षा-प्रणाली से यथोचित उन लक्षणों की व्याख्या करते हैं—

क्योंकि नाटकान्तं कवित्वं की सूक्ति के अनुसार अलंकारसार कथा-काव्यादियों का मार्ग सरल है, पर रस लहरियों से संङ्कीर्ण यह नाट्य-कर्म या नाटकों का निर्माण अत्यन्त ही गहन या विचारणीय विषय होने से दुर्गम है। अतः प्रत्येक लेखक या कवि को इसके लिए सावहित और सावधान रहना चाहिए।

जो कवि या लेखक गीत, वाद्य व नृत्य के विशेषज्ञ नहीं हैं, और न लोक-वृत्त से ही सुपरिचित हैं, वे न तो अभिनय के अधिकारी हैं, और न नाटक प्रणयन के योग्य हैं।

जिसकी वाणी नाट्य में नर्तन करती हुई सहृदयों के ही नहीं अपितु देवताओं का भी हृदयावर्जन करे वही कवि है जो लोग केवल शब्दार्थ की व्युत्पत्ति प्रदर्शन के लोभ से नाट्य के सर्वस्वभूत रस से पराङमुख रहते हैं—वस्तुतः वे कवित्व कोटि से परे हैं। श्लेषादि कठिन अलंकारों के प्रणयन परायण—कवि जब रसास्वाद-पराङ्मुख होता है तो वह काव्य या नाटक कुरूप-कामिनी की तरह हृदयावर्जन नहीं करता।

जो कवि सामान्य-रङ्क गरीब से लेकर महाराजाधिराजाओं के चरित के औचित्य से बहिर्मुख है और महाकवित्व की अभिलाषा रखते हैं, वास्तव में वे महामेधावी कवीन्द्रों के मध्य खिलवाड़ ही करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अङ्गनाओं के लावण्य की तरह कवित्व निखिल-विद्याओं का प्राण है, इसी लिए तो वेदों के पारङ्गत पण्डित भी इसके लिए लालायित रहते हैं।

कुरङ्गाक्षी श्री के कुचाभाव की तरह कवित्व का अभाव वस्तुतः पण्डित के लिये भी महान् परिताप का विषय है।

कुकवित्व की अपेक्षा तो कवि न होना ही अच्छा है, क्योंकि कुकवित्व या अकवित्व तो बहुत बड़ा कलङ्क-बदनामी है, और दूसरे के काव्य की सहायता से कवि होना तो और भी बुरा है।

कवित्व-कला-शून्य जो सुधीजन संसार को अपने सदुपदेशों द्वारा सुखी करने का दुःसाहस करते हैं। वे आंख मूंद कर विषम-भयङ्कर पर्वत-मार्ग पर विचरण करते हैं।

———

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाट्य-दर्पणे

नाटक-निर्णयनामके प्रथमविवेके

मङ्गलाचरणम्

चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं, यया न्याय्ये धृतं पथि ॥१॥

अनुवाद—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप चतुर्वर्ग फल को देने वाली, जिनोपदिष्ट—वीतराग ऋषियों की उस उपदेश समन्वित वाणी की हम निरन्तर उपासना करते हैं। जिसके प्रसिद्ध आचारादि अङ्गों के उपदेश से यह समस्त संसार अथवा मनुष्य लोक न्याय्य—सन्मार्ग, अहिंसा-दानादि सत्कर्म रूप मार्ग में स्थित है।

नाटक पक्ष में—"रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्" इत्यादि उपादान धनादि द्वारा धमार्थ काम मोक्ष—रूप चतुर्वर्ग फल को प्रदान करने वाली वीतराग विद्वानों की इस नाट्य लक्षण—प्रमाणोदाहरण-व्याख्यान-स्वरूप वाणी का हम निरन्तर परिशीलन करते हैं। जिसके वारह (नाटक प्रकरणादि रूपों)-रूपकों के द्वारा यह सारा विश्व—देव-दैत्य-मनुष्यादि समुदाय नीति मार्ग या सन्मार्ग में स्थित है।

लास्यताण्डवनृत्याभ्यां जगतां शुभशंशिनौ।
वन्दे नाट्यकलाऽभिज्ञौ, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥

श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्र-विनिर्मितेऽस्मिन्।
नाट्याङ्गभेदभरिते शुचि दर्पणेऽत्र ॥
भावं विभाव्य विवृताविह सादरेण।
सारं विमर्शविधिना अहमातनोमि ॥२॥

विमर्शः—सर्वप्रथम नाट्य-दर्पण सूत्रकार—श्री रामचन्द्र व गुणचन्द्र प्रस्तुत ग्रन्थ के विघ्न-विघात हेतु तथा शिष्ट-सदाचार के प्रचार के लिए और सन्दर्भ-गर्भस्थ विशिष्ट वस्तु के प्रदर्शनार्थ अभीष्ट-देवता-जिन भारती को नमस्कार करते हैं—'चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनीं वाच मुपास्महे' इत्यादि श्लोक से। ग्रन्थकारों नें अपने इस दर्पण के विस्तृत व गम्भीर व्याख्यान विवरण में स्वयं लिखा है कि—"उपास्महे" इस पद का स्वारस्य नमस्कार है, "अत्रापि व्याख्याने श्रद्धापरत्वेन नमस्कारपरतैव श्लोकस्य"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

साथ ही साथ सूत्र व वृत्तिकारों की समान कर्तृकता भी सूचित की है।

प्रकृत पद्य नमस्कारात्मक मङ्गल परक होते हुए भी—"सूच्यार्थ सूचनं मुद्रा" इस नाटकीय नियमानुसार उक्त पदों से ही अभिनेय परक अर्थ का सूचक होने से मुद्रालंकार से भी भूषित है। "रूपैर्द्वादशभिः" इत्यादि पदों से द्वादश आचाराङ्ग के साथ-साथ रूपक के भी इन्होंने द्वादश भेद माने हैं। जब कि दशरूपककार धनञ्जय व साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने केवल दश भेद ही रूपक के माने हैं। उन्होंने रूपकों के भेदों के अन्तर्गत नाटिका और प्रकरणी इन दो भेदों को अधिक माना है।

प्रायः विद्वानों ने नाटक को धर्मार्थकाम तक ही सीमित माना है, जैसा कि अग्नि-पुराण में कहा है "त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्" इत्यादि परन्तु नाट्यदर्पणकारों ने चतुर्वर्ग धर्मार्थकाममोक्ष फल वाला नाटक माना है। उन्होंने विवरण में लिखा है कि जिस व्यक्ति के लिए जो पुरुषार्थ अभीष्ट है वही उसका प्रधान फल है तदितर गौण फल है। "इष्ट लक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्ट स तस्य प्रधानमपरो गौण इति"। नाटक का लोकोपयोगी-उपकार तथा उद्देश्य को दिखलाते हुए कहते हैं कि नायक तथा प्रतिनायक का नीति तथा अनीति पूर्ण कार्यों का सुपरिणाम तथा दुष्परिणाम प्रदर्शन करते हुए नाटक-जन सामान्य के मनोरञ्जन के साथ-साथ नीतिपूर्ण सदुपदेश द्वारा नाटक, कुमार्ग गामियों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त कराता है। "नायक-प्रतिनायकयोर्हि नयानयफलोपदर्शनेन नाटकादिभिर्दुर्दान्तचेतसां न्यायादनपेते कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते।

अब नाटक के लक्षण के विषय में कहते हैं—

अभिनेयस्य काव्यस्य भूरि भेदभृतः क्रियत्।
कियतोऽपि प्रसिद्धस्य, दृष्टं प्रचक्ष्महे ॥२॥

अनुवाद—वाचिक-आङ्गिक-सात्विक व आहार्य भेद से चार प्रकार के अभिनयों से प्रत्यक्षी भवन योग्य काव्य (नाटक) के यद्यपि प्रचुर भेद हैं, फिर भी प्रसिद्ध किन्हीं द्वादश प्रकार के रूपकों के लिए उपयुक्त निश्चित लक्षण का निरूपण करते हैं।

विमर्श—अभिनय चार प्रकार का होता है—

(१) **वाचिक**—वचन के द्वारा किये जाने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है। इसी को पाठ्य भी कहते हैं।

(२) **आङ्गिक**—भुजादि अङ्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक कहलाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(३) सात्विक—सुखदुःखादि भावों से समन्वित अन्तःकरण को सात्विक कहते हैं, इन मनोभावों के द्वारा किया जाने वाला अभिनय सात्विक कहलाता है।

(४) आहार्य—नटों में आरोपित उचित नेपथ्य—वेशभूषादि के द्वारा किया जाने वाला अभिनय आहार्य है।

इस प्रकार यह अभिनय चार प्रकार का होता है। अभिनय का अर्थ स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—"भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ॥१॥ "नटैरङ्गादिभि रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थाऽनुकरणमभिनयः।" अर्थात्—नटों के द्वारा विभिन्नअङ्गों व भाव-भूषादियों से रामयुधिष्ठिरादि का अनुकरण करना ही अभिनय है। इसी अभिनय कौशल के योग्य काव्य को नाट्य-नाटक या रूपक कहते हैं। जैसा कि धनञ्जय ने अपने दशरूपक में भी लिखा है—"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' नट का भाव या कर्म— नाट्य कहलाता है। काव्योपनिवद्ध नायकों की धीरोदात्तादि अवस्थाओं के अभिनय से अनुकार्य रामादि के साथ तादात्म्य (नट में राम है इस प्रकार की एकरूपता) ही नाट्य है।

"काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।" यही नाट्य-या-नाटक दृश्य—प्रत्यक्षीभावनयोग्य चाक्षुष ज्ञान का विषय होने से रूप और आरोप किये जाने से रूपक भी कहलाता है। जैसा कि दशरूपक में कहा है—

"रूपं दृश्यतयोच्यते, रूपकं तत्समारोपात्" इत्यादि। ग्रन्थकारों ने उक्त पद्य में "कियत्-कियतः प्रसिद्धस्य" इत्यादि पदों से यह बताने का प्रयास किया है कि हम उन नान्तरीयक अङ्गों का जिसमें सन्धि सन्ध्यङ्ग इत्यादियों का(जो कि नाटक के लिए अपरिहार्य है, उनका)विशेष जिगर लक्षण के अवसर पर न करके उन प्रसिद्ध-रस प्रधान होने से सम्पूर्ण लोक के मनोरञ्जक तत्त्वों का ही प्रतिपादन करेंगे जो संख्या में बारह हैं, उन्हीं का अनभिनेयदिकों से व्यावर्तन कर, सारासारविवेकपूर्वक संक्षेप और विस्तार से लक्षण करेंगे ॥२॥

जब तक किसी वस्तु विशेष का नाममात्रेण संकीर्तनात्मक—"उद्देश्य" निश्चित न किया जाय तब तक उसका लक्षण करना भी असम्भव है, अतः उक्त रूपों का नाममात्रेण संकीर्तन करते हैं—

नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारः भाणः प्रहसनं डिमः ॥३॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः ।
त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ, कैशिकी-परिवर्जनात् ।।४।।

अनुवाद—नाटक,प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण प्रहसन, डिम, अङ्क, ईहामृग, वीथी, ये बारह रूपक होते हैं। इनमें से प्रथम चार—नाटक-प्रकरण नाटिका-प्रकरणी में भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी ये चारों वृत्तियां होती हैं, जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा। अवशिष्ट आठ रूपों में भारती, सात्वती, आरभटी ये पृथक्-पृथक् या समस्त तीन ही वृतियाँ होती हैं। यहाँ कौशिकी वृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है ।।४।।

विमर्श—पूर्वोक्त द्वादश रूपों में नाटक-प्रकरण, नाटिका प्रकरणी का प्रथम निर्देश करने का कारण यह है कि ये चार चतुर्विध फल-धर्मार्थिकाम मोक्ष फल वाले हैं और महापुरुषों के उपदेश योग्य चरित से सुसम्पन्न होते हैं। इसलिए प्राधान्येन इनका निर्देश किया गया है। अवशिष्ट रूपकों का पश्चात् परिगणन इसलिए किया गया है कि ये न तो महार्ह चरित से सम्पन्न रहते हैं, और न नाट्यशास्त्रीय सभी सन्धि-सन्ध्यङ्ग आदि से ही ये परिपूर्ण रहते हैं। यद्यपि समवकार में भी शृंगार रस रहता है, परन्तु वह यहां काममात्र पर्यवसायी है। इसमें पूर्व नाटकादिकों की तरह विलासोत्कर्ष नहीं है। धनञ्जय ने भी अपने दशरूपक में—"वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः" कहकर—कथावस्तु के भेद से, रस के भेद से और नेता नायक के भेद से इन रूपकों में परस्पर भेद दिखलाया है।

पाश्चात्य-समीक्षा शास्त्र में तथा वर्तमान हिन्दी जगत् में भी नाटकों के भेदक तत्त्व तीन से छः तक हो गये हैं जो इस प्रकार हैं। (१) कथावस्तु (२) चरित्र-चित्रण (३) शैली (४) विचार या संवाद (५) अभिनेयता (६) गीत। भारतीय विद्वानों ने इन तीन वस्तु, नेता और रस तत्त्वों में ही सभी का अन्तर्भाव कर दिया है।

नाटक का लक्षण

ख्याताद्यराजचरितं, धर्मकामार्थसत्फलम् ।
साङ्कोपाय-दशा-सन्धि दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ।।५।।

अनुवाद—नाटक में वर्णित अतीत राजचरित अतिप्रसिद्ध होना चाहिए, और वह धर्म-काम-अर्थादि सत्फलों से युक्त होना चाहिए। अङ्क उपाय-दशा-सन्धि आदि से युक्त हो, और दिव्य-प्रकृति सहायक हों, अथवा सुन्दर उपक्षेपादि अङ्गों से परिपूर्ण हो ॥ ५ ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विमर्शः—"नाटयति विचित्ररञ्जना प्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्" विचित्र वेष-भूषादि अभिनय के द्वारा सामाजिकों के चित्त को अपूर्व-आनन्द से जो नचा दे उसे नाटक कहते हैं। यद्यपि कथादि प्रवन्ध विशेष भी श्रोताओं के हृदयों का आवर्जन करते हैं, परन्तु अङ्क-उपायादि अङ्गों के न होने से उनमें विशिष्ट-विच्छित्ति-पूर्ण मनोरञ्जकता नहीं होती है, इसलिए नाटक में ही यह विशेषता है कि यह सामाजिकों के मनोरञ्जन पूर्वक प्रधान पुरुषार्थों का साधक होता हुआ नेता-नायक आदि के अङ्गभूत अमात्यादि बहुतों के चरितों का व्युत्पादक होता है। धनञ्जय ने भी अपने **दशरूपक** में "दशधैव रसाश्रयम्" कहकर नाटक को ही प्राधान्येन रस का अभिव्यञ्जक माना है, तथा नृत्य व नृत्त को नाटक का उपकारक माना है। इन दोनों को नृत्य तथा नृत्त को नाटक या नाट्य से भिन्न माना है। भाव पर आश्रित होने वाला नृत्य कहलाता है, और ताल तथा लय पर आश्रित होने वाला नृत्त है। नृत्य अभिनयात्मक होता हैं पर नृत्त नहीं। नाटक में जहां वाक्यार्थ का अभिनय होता है वहां नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है। पर नृत्त—केवल ताल लय के आश्रित रहता है उसमें किसी प्रकार का अभिनय नहीं होता है। नाटकों में नृत्य मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है और नृत्त देशी नाम से प्रसिद्ध है। पुनः ये दोनों मधुरोद्धत भेद से दो प्रकार के होते हैं। मधुर नृत्य व नृत्त को लास्य कहते हैं और उद्धत नृत्य व नृत्त को ताण्डव कहते हैं।

नाट्य-दर्पणकारों के अभिप्राय से यह अतीत राजचरित नाम से चरित तथा उस देश विशेष से भी ख्यात होना चाहिए।

अभिनय के लिए अधिकतर अतीत चरित का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि लोकरञ्जनार्थ कवि कभी-कभी उस नीरस तथा अनुपदेश्य नृत्त-चरित की उपेक्षा कर सरस तथा आदर्श चरित की कल्पना अपने नाटक में करता है। विद्वानों का कहना भी—"यत् स्यात् नीरसं वस्तु नायकस्य रसस्य वा, विरुद्धं तत् परिव्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्" यह सब वर्तमान तथा भविष्यत् नेता के विषय में सम्भव नहीं है, क्योंकि तात्कालिक-प्रसिद्धि इसकी बाधक है। अतः रस व औचित्य का आश्रय लेते हुए कवि को नाट्य-वृत्त की योजना करना चाहिए। क्योंकि नाट्यवेद का प्रयोजन ही यह है कि विलक्षण-आनन्दास्वाद द्वारा सदुपदेश का प्रचार करना इसीलिए तो भरत नाट्यसूत्र की अभिनवभारती व्याख्या में अभिनव गुप्त पादाचार्य ने नाट्य को लौकिक पदार्थों से विलक्षण एक रस स्वभाव वस्तु माना है, जो अनुकरण प्रतिबिम्ब आलेख्य-आरोपादि से भिन्न है। "तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनु

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कारप्रतिबिम्बालेख्यसादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षा स्वप्नमायेन्द्रजालादिविलक्षणं··· आस्वादनरूपसंवेद्यं वस्तु ॥ ५ ॥

राजशब्द की व्याख्या के लिए, सामान्येन नायक के भेदों को प्रदर्शित करते हैं—

उद्धतोदात्त-ललित-शान्ताः धीरविशेषणाः ।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारः नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥६॥

अनुवाद—धीर-धैर्य—महासंकट में भी अविचलित अडिग रहने वाले—धीर विशेषण से युक्त वर्णनीय नायक चार प्रकार के या चार स्वभाव वाले—धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीरललित व धीरशान्त होते हैं। ये चारों पुनः उत्तम-मध्यम भेद से दो प्रकार के होते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—नायक के सामान्य लक्षण में अन्यान्य आचार्यों ने अलग-अलग रूपयौवन विनयादि गुण सम्पन्नता का समावेश किया है। वहां नाट्यदर्पणकारों ने केवल धीर विशेषण को ही नायक का सामान्य लक्षण माना है, जो नायक के चारों भेदों में अनुगत है, और इन नायकों की प्रकृति भी उत्तम-मध्यम-अधम भेद से तीन प्रकार की मानी है, परन्तु यहां नाट्यदर्पणकारों ने इनका उत्तम-मध्यम भेदों से ही वर्णन ज्यादा अच्छा समझा है, जैसा कि विवरण में लिखा है—

यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तम-मध्यमाधमभेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतादयः स्वभावाः उत्तम-मध्यमभेदेनैव वर्णनीयाः ॥६॥

नायकों का विषय भेद

देवा धीरोद्धता धीरोदात्ताः सैन्येशमन्त्रिणः ।
धीरशान्ता वणिग्विप्राः राजानस्तु चतुर्विधाः ॥७॥

अनुवाद—विशेषण भेद या धर्म भेद से यद्यपि नायकों का विभाग पहिले श्लोक में दिखा दिया था, परन्तु धर्मी—विशेष्य के अपने स्वगत भेद या विषय भेद को भी दिखलाना परमावश्यक है, अतः विशेष्य भेद की प्राथमिकता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकारों का कहना है कि देवता प्रायः धीरोद्धत रूप से ही वर्णनीय हैं और सेनापति मन्त्री आदि का धीरोदात्त रूप में ही वर्णन करना चाहिए, वणिक-विप्र आदि का धीरशान्त रूप में ही वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार राजा या नायक पुनः स्वभाव भेद से चार प्रकार का होता है। ॥७॥

विमर्शः—धर्म तथा धर्मी में अभेद होने से धीरोद्धतादि पदों का समानाधि-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करण्य है। ये प्रातिस्विकरूप में प्रतिष्ठित धर्मादि उक्त भेदों के केवल स्वरूप-व्यवस्थापक ही हैं न कि अन्य योग व्यवच्छेदक, जैसे—धीरोद्धतभेदाभिन्न परशुराम का अतिक्रूरत्व कर्म, "भाषा-प्रकृति वेषादेः कार्यतः क्वापि लङ्घनम्" इत्यादि, अपवाद के अविरुद्ध है। देवताओं का यह धीरोद्धत वर्णन मर्त्यों की अपेक्षा है देवताओं की अपेक्षा नहीं, क्योंकि शंकर आदियों का उदात्त रूप से तथा ब्रह्मादिकों का कहीं शान्त रूप से भी वर्णन मिलता है। "राजानस्तु चतुर्विधाः" इस बहुवचन से यही प्रतीत होता है कि नेता व्यक्तिभेद से चार प्रकार या चार स्वभाव वाला होता है।

कुछ लोग नाटक के नेता को केवल धीरोदात्त स्वभाव वाला ही मानते हैं, वस्तुतः वे भरत सिद्धान्त से अपरिचित ही हैं, अथवा कवि समय से अपरिचित हैं ॥७॥

अब धीरोद्धतादि नायकों के विशेष स्वरूपों का वर्णन करते हैं—

धीरोद्धतश्चलश्चण्डः दर्पी दम्भी विकत्थनः।
धीरोदात्तोऽतिगंभीरः न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः ॥८॥
श्रृङ्गारी धीरललितः, कलासक्तः सुखी मृदुः।
धीरशान्तोऽनहंङ्कारः कृपालुर्विनयी नयी ॥९॥

अनुवाद—धीरोद्धत नायक—चञ्चल, क्रोधी अहंकारी, दम्भी तथा आत्मश्लाघा करने करने वाला होता है।

धीरोदात्त नायक—अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय सात्त्विक क्षमावान् तथा स्थिर मति वाला होता है।

धीरललित नायक—गीतवाद्यादि कला में आसक्त श्रृङ्गारिक भावना से युक्त, कोमल स्वभाव वाला होता है।

धीरशान्त नायक—अहंकार रहित कृपालु, विनयी और नीतिमान् होता है।

विमर्शः—अकातरत्वार्थ वाचक धीर शब्द सभी नायकों में अनुगत है, अन्य धर्म अपने-अपने नियत हैं, पर कहीं-कहीं इन धर्मों में भी परिवर्तन हो जाता है, ऐसा ग्रन्थकारों ने विवरण में निर्देश किया है—"उपलक्षणमात्रं चैतत् तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा द्रष्टव्या इति।"

दशरूपक के वृत्तिकार धनिक के अनुसार—धीरोदात्तत्व आदि नायकों की अवस्थाएं हैं न कि जातियां। जिस प्रकार वत्स—बछड़ा वृषभ—युवा बैल, महोक्ष—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वृद्ध बैल आदि एक ही वृषभ व्यक्ति की अवस्थायें हैं। इसी प्रकार धीरोदात्तत्वादि भी नायक की अवस्थाएं हैं। इसलिए एक ही नायक धीरोदात्तत्वादि अनेक अवस्थाओं से युक्त हो सकता है।

और इन अनेक अवस्थाओं का वर्णन अङ्गभूत-अप्रधान नायक में वर्णन करना ही उचित है; प्रधान नायक में नहीं। जैसे राम को उदात्त नायक माना गया है, तो छल से बालि-वध करना महासत्त्वता के प्रतिकूल है, इसलिए उत्तम अंश का भवभूति ने अपने वीरचरित नामक नाटक में परित्याग कर दिया है।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सवृषभ-महोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थित रूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकवि प्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातेरनपायित्वात्, यथा च भव-भूतिना एक एव जामदग्न्यः।

ब्राह्मगति-क्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन,

"कैलासोद्धारसारः"—इत्यादिभिश्च रामादीन् प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः—"पुण्या ब्राह्मण जाति" इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः। न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात्, अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रध्वानधोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्था-तोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यं, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य इहमना बालिवधादमहा-सत्त्वतया स्वावस्था परित्याग इति॥६॥

अब चरित—(वस्तु या इतिवृत्त) शब्द की व्याख्या करते हैं—

मुख्यमिष्टफलं वृत्तं अङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित्।
सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यम्, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम्॥१०॥

अनुवाद—बहुत से फल वाले इतिवृत्त में कवि का जो अत्यन्त अभीप्सित सर्वोत्कृष्ट फल होता है वही फलवत् वृत्त कहा जाता है। उसी को मुख्य वृत्त या चरित कहते हैं और उस मुख्य वृत्त का अनुसरण करने वाला, या उसका सहायक इतिवृत्त-कथानक उसका अङ्ग या उसके प्रसङ्ग से सङ्गत होने के कारण प्रासाङ्गिक कहा जाता है।

जैसे **तापसवत्सराज** में वत्सराज का कौशाम्बी राज्य लाभ मुख्य फल है,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी प्रसङ्ग में यौगन्धरायण का प्रयास-वासवदत्ता का सम्मिलन, पद्मावती प्राप्ति आदि प्रासाङ्गिक वृत्त हैं। जिस प्रसङ्ग में मुख्य नेता अपने प्रधान फल सिद्धि में, सहायता की अपेक्षा रखता है वहीं पर वृत्त प्रासाङ्गिक कहा जायेगा न कि सर्वत्र। पद्य में क्वचित् पद का यही स्वारस्य है जैसे ग्रन्थकारों द्वारा निर्मित सत्य हरिश्चन्द्र नामक नाटक में हरिश्चन्द्र का प्रतिज्ञा निर्वाह वृत्त प्रासाङ्गिक नहीं होगा ॥१०॥

विमर्शः—नाटक लक्षण के प्रसङ्ग में "ख्याताद्य राजचरितम्" चरित शब्द इतिवृत्ति या कथावस्तु का द्योतक है। इस कथा वस्तु के दो विभाग किये हैं, मुख्य और प्रासाङ्गिक। मुख्यवृत्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहता है, और फल वाला होता है। उसमें सहायक जो इतिवृत्त है, वह प्रासाङ्गिक होता है, जैसे रामायण में सीता प्राप्ति रूप मुख्य फल वाले प्रधान इतिवृत्त में सुग्रीव मैत्री, शरणागत विभीषण रक्षण आदि अङ्ग-सहायक होने से प्रासाङ्गिक हैं।

धनञ्जय ने अपने **दशरूपक** में कथावस्तु का सुन्दर विभाग किया है। उन्होंने पहिले इस कथावस्तु-इतिवृत्त के दो विभाग किये हैं—"वस्तु च द्विधा"

"तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासाङ्गिकं विदुः ॥"

वस्तु दो प्रकार की होती है, इसमें मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अङ्गरूप वस्तु को प्रासाङ्गिक कहते हैं।

प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कहलाती है। जैसे रामायण में राम और सीता का वृत्तान्त, और इसमें सहायक सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त प्रासाङ्गिक है।

पुनः यह प्रासाङ्गिक इतिवृत्त भी पताका व प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है "सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्" इसमें अनुबन्ध साहित्य—दूर तक चलने वाले प्रासाङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है और एक देश में—(थोड़ी देर तक) रहने वाला प्रासाङ्गिक वृत्त प्रकरी कहलाता है। पताका सानुबन्ध रहता है, अर्थात् अनुवर्तन दूर तक साथ रहना, अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होना—जैसे रामचरित में सुग्रीव का वृत्त पताका है जो उसके अपने बालिवध व राज्य प्राप्ति आदि प्रयोजन के साथ-साथ राम के सीता प्राप्ति में भी सहायक होता है। दूसरा प्रकरी-वृत्त अपने प्रयोजन से निरपेक्ष रहता हुआ प्रधान नायक का सहायक होता है। जैसे रामायण में जटायु या श्रमणा-शबरी, इत्यादि ॥१०॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सामान्येन यह वृत्त चार प्रकार का होता है, सूच्य, प्रयोज्य, उह्य एवं उपेक्ष्य—

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

नीरसानुचितं सूच्यं प्रयोज्यं तद्विपर्ययः ।
उह्यं तदविनाभूतम्, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम् ॥११॥

अनुवाद—नीरस अथवा सरस होते हुए भी जो अनुचित हो जैसे आलिङ्गन चुम्बनादि उसे केवल विष्कम्भकादियों से सूचित कर देना चाहिए। जो वृत्त इनके विपरीत सरस तथा उचित होगा उसे वाचिकादि अभिनय द्वारा प्रदर्शित कर देना चाहिए। जो सूच्य व प्रयोज्य से अविनाभूत हो, अर्थात् उनके विना जिसकी स्थिति न हो, ऐसी वस्तु को स्वयं समझ लेना चाहिए, जैसे देशान्तर प्राप्ति गमन व्यापार के बिना नहीं होती है। जो चीज जुगुप्सित हो जैसे भोजन-स्नान शयनादि इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

विमर्शः—पूर्व वर्णित ख्याताद्य राजचरितरूप इतिवृत्त भी पुनः चार प्रकार का होता है, सूच्य, प्रयोज्य, उह्य तथा उपेक्ष्य। नाटक के इतिवृत्त में यदि कोई ऐसा प्रसङ्ग आ जाता है, जो नीरस हों, जिससे न तो लोकानुरञ्जन हो और न लोकोचित ही हो, ऐसे कथानक भाग की सूचनामात्र केवल विष्कम्भकादि से ही दे देनी चाहिए। ये विष्कम्भकादि अर्थोपक्षेपक होते हैं, ऐसे सूच्य अर्थ के उपस्थापक।

साहित्यदर्पण में महाकवि विश्वनाथ ने इस बात को इस तरह कहा है—

यत् स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

सरस तथा उचित वस्तु का वाचिकादि अभिनय के द्वारा प्रयोजन करना ही चाहिए। सूच्य-प्रयोज्य से ही जिनका अवगमन हो जाय उन्हें पुनः प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है और जुगुप्सित वस्तु का तो परित्याग उचित ही है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसी वस्तु जो मनोरञ्जन के साथ-साथ शिक्षाप्रद या औचित्यपूर्ण हो अथवा जिसमें प्रबन्ध का प्रकर्ष निहित हो उसका वर्णन करना या उसे प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है। जैसे नलविलास में अरण्य में दमयन्ती का शयन प्रकृत प्रकरणोचित ही है ॥११॥

नाटकीय इतिवृत्त के अन्य भेदों का भी वर्णन करते हैं—

प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषां, स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।
परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम् ॥११॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रिपताकान्तरोन्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।
आकाशोक्तिः स्वयम्प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम् ॥१२॥

अनुवाद—जो वृत्त अन्य अपने से भिन्न सभी लोगों के लिए ज्ञापनीय सुनने योग्य हो उसे "प्रकाशम्" कहते हैं और जो वृत्त अन्य लोगों के सुनने योग्य न हो केवल अपने ही हृदय में रखने योग्य हो उसे "स्वगतम्" कहते हैं। ऐसा संवाद जो अन्य जनों से छिपाने योग्य (गोपनीय) हो, औरों से मुंह फेरकर—ऐसा गुप्तवृत्त किसी के लिए जहां कहा जाता है—उसे "अपवारितम्" कहते हैं। जनसमुदाय में भी त्रिपताकाकार—हस्तमुद्रा विशेष से अन्यों से बचाकर जिस सम्वाद को कहा जाता है, उसे "जनान्तिकम्" कहते हैं।

जहाँ अकेला पात्र बिना किसी के कहे भी स्वयं "क्या कहते हो" इस प्रकार के प्रश्नोत्तर को पात्र के अभाव में आकाश की तरफ मुंह फेर कर करता है, उसे "आकाशोक्ति या आकाशभाषितम्" कहते हैं—यह आकाशोक्ति कहीं तो अपने उत्तरार्ध के अनुभाषण की छाया से प्रश्न का उन्नयन करती है, और कहीं स्वकीय-प्रश्नार्थ के अनुभाषण की छाया से परकीय उत्तर का उन्नयन करती है ॥१३॥

विमर्शः—कथावस्तु का पुनः प्रकारान्तर से विभाग करते हैं। यह नाटकीय कथा वस्तु कहीं सर्वश्राव्य होने से स्पष्ट नाटक में "प्रकाशम्" इस शब्द से कही जाती है, कुछ कथा वस्तु जो गोपनीय है केवल अपने ही तक सीमित रखनी होती है उसे "स्वगतम्" इस शब्द के द्वारा कहा जाता है। जो वृत्त केवल एक से ही छिपाने योग्य हो, और बहुतों में श्राव्य हो उसे "जनान्तिकम्" कहते हैं, इसके विपरीत जो वृत्त बहुतों से गोपनीय केवल एक के लिए श्राव्य हो उसे "अपवारितम्" कहते हैं। "जब हाथ की तीन अंगुलियाँ ऊपर उठी हुई होती हैं और अनामिका नीचे झुकी हुई होती है इस प्रकार की हाथ की मुद्रा विशेष को नाटक में "त्रिपताककर" या "त्रिपताक" ऐसा कहते हैं, जैसा कि विवरणकारों ने लिखा है—

"उर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्रान्येन सहजल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिके श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम्"

इस प्रकार की मुद्रा से केवल एक से छिपाकर बातचीत की जाती है, उसे जनान्तिकम् कहते हैं। स्वयं जहाँ अन्य पात्रों के अभाव में प्रश्नोत्तर परिकल्पना शून्य आकाश की ओर की जाय उसे आकाशोक्ति या आकाशभाषितम् कहते हैं।

धनञ्जय ने अपने दशरूपक में इसका विभाग इस प्रकार किया है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाट्य धर्म की अपेक्षा सहनाटकीय कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—
१. सर्वश्राव्य, २. नियतश्राव्य, और ३. अश्राव्य।

सर्वश्राव्य को "प्रकाशम्" कहते हैं और अश्राव्य को "स्वगतम्" कहते हैं। किन्तु यह नियत श्राव्य भी पुनः दो प्रकार का होता है,—

केवल एक व्यक्ति से बचाकर त्रिपताकरूप करमुद्रा के द्वारा जहाँ जनसमुदाय में आपस में बातचीत की जाय वह 'जनान्तिक' है। दूसरा ठीक इसके विपरीत बहुतों का अश्राव्य केवल एक के लिए ही श्राव्य ही वह 'अपवारित' है—

नाट्यधर्ममपेक्ष्येतत् पुनर्वस्तु त्रिधोच्यते।
सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥१॥

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्याद श्राव्यं स्वगतं मतम्।
द्विधाऽन्यनाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ॥२॥

त्रिपताका करेणान्यान्पवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योऽन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।
रहस्य कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥३॥

इत्यादि ॥१३॥

अब इतिवृत्त के कर्त्तव्य निबन्धन की दृष्टि से भी वर्ण्य वस्तु का प्रकार दिखलाते हैं—

स्वल्पपद्यं लघुगद्यं, श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्।
सिन्धुसूर्येन्दुकालादि, वर्णनाधिक्यवर्जितम् ॥१४॥
एकाङ्गिरसमन्याङ्गम, अद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।
अलङ्घितमलङ्कार-कथाङ्गै रगलद्रसम् ॥१५॥

अनुवाद—नाटकीय कथानक प्रसन्नार्थ तथा प्रसिद्ध शब्दों से समन्वित परिमित पद्य वाला होना चाहिये। पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक सुगम होता है, अतः नाटकीय गद्य को कर्कश व समास बहुल न बनाकर सरल व संक्षिप्त बनाना चाहिए। ऐसे अवान्तर वृत्त की योजना की जाय जो प्रधान फल का साधक हो, नदी-समुद्र सूर्योदयास्त प्रभात व संध्या वसन्तादि काल गिरिनगरादियों का अधिक वर्णन नहीं होना चाहिए। अङ्गी—प्रधानरस वीर शृंगारादि में एक ही होना चाहिए अन्य रस उसी के सहायक अङ्ग होने चाहिए। अन्त में अर्थात् निर्वहण सन्धि में अद्भुत् घटना से या अद्भुत् रस से उपसंहार करना चाहिए। रस परतन्त्र कवि कभी-कभी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कथा-शरीर की उपेक्षा कर देता है, पर यह अनुचित है, इसी प्रकार उपमाश्लेषादि अलंकारों के संविधान में तल्लीन कवि कभी-कभी रसोन्मीलन की तरफ ध्यान नहीं देता है; अतः ऐसे अलंकारों की योजना करनी चाहिए जो अनायास **रसास्वादपूर्वक** निष्पन्न हैं।

विमर्श—नाटक का कथानक न तो महाकाव्यों की तरह प्रचुर पद्य युक्त होना चाहिए और नहीं एकान्त गद्य गुम्फित ही होना चाहिए, उसे तो सरल-मनोहर स्वल्प पद्य, सरल गद्य जो प्रसाद गुण सम्पन्न हो, तथा सामाजिकों को जिससे अर्थावबोध और रसानुभूति सरलतया हो ऐसा, होना चाहिए। जैसा कि **दशरूपककार** धनञ्जय का भी कहना है—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभाव निरन्तरः॥

अर्थात्—जो वस्तु नीरस तथा विस्तृत हो वह सामाजिकों के हृदयावर्जक न होने से "सूच्य' होती हैं। किन्तु ऐसी वस्तु दृश्य होती है जो चित्ताकर्षक, उदात्त तथा रस एवं भाव से परिपूर्ण हो।

नाट्य में अवान्तर घटनायें भी वहीं उचित हैं जो परम्परया प्रधान-फल की उपकारक हैं। जैसे **रत्नावली** नाटिका में कष्ट-फलक वह जाना, जो कि सागरिका के अनुराग के कारण बनता है। सूर्य संध्या-प्रभातादि का एक या दो पद्यों से वर्णन बहुत है अधिक वर्णन रस-निष्पत्ति में व्यवधान बनता है। नाटक यद्यपि सभी रसों में अभिनेय है, परन्तु प्रधान रस जिसे अङ्गीरस भी कहते हैं वह एक ही होता है। अन्य रस उसके सहायक अङ्ग होते हैं जैसा कि **साहित्यदर्पणकार** ने भी लिखा है—"एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारों वीर एव वा" इत्यादि। नाटक का पर्यवसान किसी अद्भुत घटना से या अद्भुत रस से करना उचित है। लोकोत्तर असम्भाव्य फल-प्राप्ति भी एक आश्चर्यजनक घटना ही है, ऐसी किसी विचित्र घटना में यदि नाटक का उपसंहार होता है, तो अद्भुत रस से दर्शक भी अत्यन्त प्रभावित होते हैं। जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अङ्क में मारीच के आश्रम में शकुन्तला व भरत की प्राप्ति एक अनहोनी घटना है, जब कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति एकदम निराश हो चुका था। उक्त आश्रम में एकाएक दोनों का मिलन हो जाना यह एक आश्चर्यपूर्ण घटना है।

इसी प्रकार की घटनाओं में नाटक का पर्यवसान होना चाहिए। अन्यथा तो सामान्येन फलमात्र के प्रति क्रिया-कार्य-कलापों का सिञ्चन उपकारक है। उसी के पिष्ट-पेषण-क्लेश से तो कुछ भी नाटक में सरसता नहीं है॥१५॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुनः नाटकीय-वृत्त-वन्ध प्रकार का प्रदर्शन करते हैं—

उक्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद्, भूयः कार्याद् यदुच्यते।
तत् कर्णे श्रावयेद् येन न याति पुनरुक्तताम्।।१६।।

गोपुच्छ-केश-कल्पानि, नाट्यवस्तूनि कल्पयेत्।
उदात्ता रञ्जका भावाः, स्थापनीयाः पुरः पुरः।।१७।।

अनुवाद—कोई ऐसा नाटकीय संवाद जो पहिले कह दिया गया हो अथवा वर्तमान किसी कार्य द्वारा प्रकाशित हो, किसी अन्य प्रयोजन से यदि उसका कथन करना हो तो पुनरुक्तता दोष से बचने के लिए उसे पात्र के कान में ही सुनायें "कर्णे एवमेवम्" इत्यादि प्रकार से और भी नाटकीय वस्तुओं का विधान-वर्णन गोपुच्छ केश के समान करना चाहिए। प्रायः उत्तम प्रकृति के योग्य उदात्त और मनोरञ्जक भावों का समावेश करना चाहिए।।१६-१७।।

विमर्शः—नाटक को ऐसे काव्य दोषों से बचना चाहिए जिनके आ जाने से उसमें अरमणीयता सी प्रतीत होती है, ये हैं पुनरुक्ततादि। ऐसा कथानक या लघु संवाद जो कह दिया गया हो अथवा किन्हीं कार्यकलापों द्वारा जिनका प्रकाशन हो रहा हो, पुनः प्रयोजनवश उसका प्रकाशन शब्दों द्वारा न करके केवल कान में सुनाने का अभिनय "एवमेवम्" द्वारा करना ही उचित है।

नाटकीय-कथानक की रचना गोपुच्छ केश की तरह करनी चाहिए। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने "गोपुच्छाग्र समाग्रन्तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्" लिखा है। वृत्ति में इसका अर्थ किया है "क्रमेण अङ्गा सूक्ष्माः कर्तव्याः" अर्थात् क्रमशः गोपुच्छ की तरह पहिले दीर्घ पुनः सूक्ष्म करना चाहिए। इति केचित् कहकर पुनः अन्ये त्वाहुः—यथा गो पुच्छे केचिद् वाला ह्रस्वाः, केचिद् दीर्घाः तथेह कानिचित् कार्याणि मुखसन्धौ समाप्तानि, कानिचित् प्रतिमुखे" इति। इसी प्रकार का मत विवरणकारों का भी है उन्होंने लिखा है "गोपुच्छस्य च केशाः केचित् स्तोकमात्रयायिनः केचित्—मध्यावधेयः केचित्—अन्तव्यापिनः, एवं प्रवन्धवस्तूनि-अपि। यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः, मुखोपक्षिप्तो वाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च, निर्वहणारम्भे, रत्नावली प्राप्त्यादयश्च साररूपाः पदार्था अन्त इति।'

अर्थात्—गोपुच्छ के केश जैसे कुछ छोटे, कुछ मध्यम और कुछ अन्त तक लम्बे होते हैं, उसी प्रकार नाट्यप्रवन्ध-वस्तु भी। जैसे रत्नावली नाटिका में—प्रमोदोत्सव केवल मुखसन्धि तक ही रहता है, और मुखसन्धि से उपक्षिप्त वाभ्रव्यादि वृत्तान्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निर्वहण सन्धि के आरम्भ तक रहता है और रत्नावली प्राप्ति रूप प्रधान कथानक अन्त तक रहता है ।

नाटकीय कथानक को उदात्त भावों से सजाना चाहिए, अर्थात् उत्तम प्रकृति योग्य वे भाव होने चाहिए, यदि कहीं अनुदात्त भाव भी आ जायें तो भी वे मनोरञ्जक हों जिससे सारा प्रबन्ध रसावेश-विशद हो सके । धनञ्जय की भी यही सम्मति है, उन्होंने अपने दशरूपक के प्रथम प्रकाश के अन्त में लिखा है—

इत्याद्यशेषमिह वस्तु विभेदजातं,
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेत्ररसानुगुण्याच्-
चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः ।।

कथावस्तु विषयक अन्य भी निबन्धनीय प्रकार को प्रदर्शित करते हैं—

अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं, प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ।।१८।।

अनुवाद—जो वस्तु नायक या रस के विरुद्ध हो, उसका परित्याग कर देना चाहिए, अथवा उस वृत्त की योजना कर लेनी चाहिए ।।१८।।

विमर्श—अयुक्त अनुचित वस्तूपनिवन्धन जो प्रकृत नायक की प्रकृति के अनुकूल न हो जैसे धीरललित नायक के लिए अनुचित-परस्त्री-सम्भोगादि का वर्णन इत्यादि, शृंगार रस में अनुचित प्रत्यक्ष-आलिङ्गन-चुम्बनादि का वर्णन ।

महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में जैसे धीरोदात्त प्रकृति दुष्यन्त का गान्धर्व विवाह के द्वारा स्वीकृत शकुन्तला का सहसा परित्याग अत्यन्त अनुचित था, अतः "अन्यथा वा प्रकल्पयेत्" या "प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा" के सिद्धान्त से मध्य में दुर्वासा के शाप की कल्पना सर्वथा औचित्यपूर्ण है । "विरुद्धं तत्-परित्याज्यम्" या "वृत्तं यत् तत् परित्याज्यम्" का दृष्टान्त है—महाकवि भवभूति निर्मित वीरचरितम् में "छद्मना बालिवध" का अंश, जिसका उन्होंने धीरोदात्त—प्रकृति मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी के लिए उचित न समझ कर परित्याग कर दिया है ।।१८।।

नाटक को "धर्म-कामार्थ-सत्फलम्" कहा था, इस अंश का विशेष व्याख्यान न करके "साङ्कोपाय-दशा-सन्धि" इत्यादि अंश की व्याख्या करते हुए प्रथम अङ्क के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

अवस्थायाः समाप्तिर्वा, छेदो वा कार्ययोगतः ।
अङ्कः सबिन्दुर्दृश्यार्थः, चतुर्यामो मुहूर्ततः ।।१९।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—अवस्था प्रारम्भ-यत्न-प्राप्त्यादि—पांच अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था का उपक्रम पूर्वक जो समाप्ति, अथवा अवस्था के समाप्त न होने पर भी कार्यवशात् अवस्था का जो छेद-खण्डन-समाप्ति की जाए वह **अङ्क** कहलाता है, यह अङ्क "बिन्दु" सहित होता है। अर्थात्—अवान्तरार्थ के सम्बन्ध का संयोजक, पूर्वोत्तर अङ्कों में असम्बद्धता न आ जाए, इसलिए पूर्वाङ्क के अन्त में बिन्दु का भी निवेश करना चाहिए। और नाटक दृश्यार्थ होना चाहिए, अर्थात् अनुरञ्जनीय नायक चरितों से परिपूर्ण होना चाहिए, यह अङ्क मुहूर्त्त से चारयाम पर्यन्त अभिनेय होना चाहिए—अङ्क की अवधि दो घड़ी से लेकर तीस घड़ी पर्यन्त है।

विमर्शः—अङ्क में वक्ष्यमाण—आगे वर्णनीय, पांच अवस्थाओं में से "**प्रारम्भ, यत्न**" इत्यादि किसी एक अवस्था की "समाप्ति" होती है, उस अवस्था का सुन्दर विस्तार उपक्रमोपसंहार पूर्वक, कहीं-कहीं कार्यवशात्—दूराध्वगमन, अनेक दिन निर्वर्त्त्यादि दोष के कारण अवस्था के अन्तराल में भी समाप्ति की जाती है। यह **बिंदु** सहित होना चाहिए, पांच अर्थ प्रकृतियों में "जो कि नायक के प्रयोजन सिद्धि के हेतु कही जाती हैं" **बिंदु** अन्यतम है। "अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्" जल में तैल बिन्दु की तरह यह वृत्त को भी फैला देता है। अर्थात् पूर्व विच्छिन्न वृत्त को उत्तराङ्क से सम्बद्ध करा देता है।

जैसे **नलविलास** नाटक के चतुर्थ स्वयंपराङ्क के नेपथ्य से बन्दी सूर्यास्त की सूचना श्लिष्टशब्दों से देते हुए भविष्यत् दयमन्ती के परित्याग का अनुसन्धान पूर्वापर अङ्कोंमें करा देता है—विन्यस्याऽभिनवोदये श्रियमयं राज्ञि प्रतापोज्झितो

धूतस्य व्यसनीय धूसरकरः सन्त्रुट्यदाशास्थितिः।
निद्रायद्दललोचनां कमलिनीं सन्त्यज्य मध्ये वनम्,
क्रामत्यम्बरखण्डमात्रविभवो देशान्तरं गोपतिः।। इत्यादि।

धनञ्जय ने अपने दशरूपक में अङ्क का लक्षण इस प्रकार किया है—

प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः।
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः॥

जिसमें प्रत्यक्षरूप से नायक का चरित प्रस्तुत किया जाता हो, और जो बिन्दु की व्याप्ति से युक्त हो, और अनेक प्रकार के संविधान तथा रसों का आश्रय होता हो, वह अङ्क है। "प्रत्यक्षनेतृचरितः—प्रत्यक्षं रङ्गप्रवेशेन साक्षात् निर्दिश्यमानं नेतृचरितं नायक व्यापारो यत्र" अर्थात्—रङ्गमञ्च पर जहां नायक का प्रवेश कराके उस कार्यों का साक्षात् रूप से (दृश्य रूप में) चित्रण किया जाता है। बिन्दु व्याप्ति पुरस्कृत का अर्थ है कि आरम्भादि में से जहां कोई एक अवस्था जब समाप्त होती है, तो पूर्व

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अङ्क की अवस्था को उत्तर अङ्क से सम्बद्ध करने के लिए पूर्व अङ्क के पर्यन्त में बिन्दु का होना भी आवश्यक है, अनेक प्रकार के अवान्तर प्रयोजनों संविधानों से युक्त और अङ्गी व अङ्गभूत रसों का भी आश्रय अङ्क होता है ॥१६॥

अङ्क के संख्या परिमाण का निर्देश करते हैं—

आवश्यकाविरोध्यर्थः स्वल्पपात्रः सनिर्गमः।
पञ्चसंख्योऽपकर्षेण, दशसंख्यः प्रकर्षतः ॥२०॥

अनुवाद—एक ही अङ्क में अवान्तर बहुत से कार्यों का निबन्धन नहीं करना चाहिए, यदि निबन्ध किया भी जाय तो प्रकृत—आवश्यक-सन्ध्यावन्दनादिक कार्यों के अनुकूल होना चाहिए। थोड़े से कार्योपयोगी (तीन या चार) पात्रों से युक्त हो, और रङ्ग में प्रविष्ट पात्रों का (अङ्क के अन्त में) रङ्गमञ्च से निर्गम-निकलना दिखाना चाहिए, अथवा जवनिका—पर्दे से उनका तिरोधान कर देना चाहिए। यदि अवस्थाओं का क्रम संक्षिप्त हो तो पाँच अङ्कों वाला नाटक होना चाहिए, एक अङ्क में एक अवस्था का समावेश हो जाने से अथवा अवस्थाओं का उत्कर्ष दिखाना हो तो दश अङ्क तक का नाटक हो सकता है ॥२०॥

विमर्श—प्रस्तुत पद्य में नाटक की अङ्क संख्या व अङ्क में पात्र परिमाण आदि पर विचार किया जा रहा है। नाटक के एक ही अङ्क में भी अवान्तर बहुत से कार्यों का सङ्गम हो जाता है, परन्तु उनमें से आवश्यक प्रकृत-प्रकरण के अनुकूल कार्यों का ही समावेश होना चाहिए और पात्र संख्या भी थोड़ी ही होनी चाहिए। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में पात्र संख्या का निर्देश भी किया है वह तीन व चार पात्र हों ऐसा कहा है—

"पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कः स्तेषामन्तेऽस्य निर्गमः॥

अङ्क तीन या चार पात्रों से युक्त हो और अङ्क के अन्त में रङ्गमञ्च से इन पात्रों का निर्गमन—निकल जाना दिखलाना चाहिए। नाटक में आरम्भ, यत्न प्राप्त्याशा इत्यादिक पांच अवस्थाओं का वर्णन होता है। अङ्क में इनका उपक्रम और उपसंहार दिखलाया जाता है, यदि अवस्थाओं का स्वरूप संक्षिप्त हो तो एक अङ्क में एक अवस्था का निर्देश कर नाटक को पांच अवस्थाओं से पांच अङ्क तक सीमित किया जा सकता है। यदि अवस्थाओं का उपक्रम विस्तृत हो तो नाटक को पांच से अधिक छः सात या दश अङ्क तक पहुंचाया जा सकता है।

कहीं-कहीं एक ही अवस्था दो-तीन अङ्कों को ही घेर लेती है—जैसे **वेणीसंहार** नाटक में गर्भसन्धि में "प्राप्त्याशा" (अवस्था) तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम अङ्क तक पहुँच चुकी है ॥२०॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब अङ्क के निबन्धन प्रकार को प्रदर्शित करते हैं—

अभिघातः प्रधानस्य, नेतुर्ग्रन्थ्यो न कुत्रचित् ।
बन्धः पलायनं सन्धिः, योज्यो वा फललिप्सया ।।२१।।

अनुवाद—प्रधान नेता-नायक का कहीं भी नाटक में अभिघात-वधादि का निर्देश नहीं करना चाहिए। कुत्रचित्-विष्कम्भकादि से भी ऐसी सूचना नहीं देना चाहिए। प्रधान-नायक के बन्धन-पलायन व सन्धि का भी तभी वर्णन करना चाहिए जब उससे विशिष्ट फल की सम्भावना हो, अथवा नहीं ।।२१।।

विमर्श—प्रधान नेता—जिस पर आधिकारिक वृत्त अवलम्बित है, उसका अभिघातवध-प्रहारादि दिखलाना अनुचित है, क्योंकि नाटक का सर्वस्व आधिकारिक वृत्त ही उस पर अवलम्बित है। धनञ्जय ने इसको अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—"नाधिकारिवधं क्वाऽपि त्याज्यमावश्यकेन च। अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनाऽपि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याणि-अवश्यमेव क्वचित् कुर्यात्।"

विशेष फल की अपेक्षा से प्रधान-नायक का भी बन्धन—पलायन व सन्धि आदि दिखलाया जा सकता है—जैसे - वासवदत्ता के नृत्य के अवसर पर उज्जयिनी में वत्सराज का ग्रहण -- बन्धन उसके राज्यलाभादि—विशिष्ट फल के लिए है। इसी प्रकार पलायन के विषय में भी है—"अशक्ये सर्वमुत्सृज्यापगच्छेत्" इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार, सन्धि के विषय में जैसा कहा है—

प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तः राजा बलवताऽबलः ।
सन्धिनोपनयेत्तूर्णं, कोश-दण्डात्मभूमिभिः ।।

इत्यादि।

पताका व प्रकरी के नायकों के वध बन्धनादि को दिखलाना अनुचित नहीं है। स्वेच्छा से किसी परोपकार हेतु यदि प्रधान-आधिकारिक-नायक अपना शरीरार्पणादि कर देता है, जैसे नागानन्द नाटक में जीमूत वाहन ने सर्पों की रक्षा के लिए गरुड़ के लिए अपने शरीर को समर्पण कर दिया, इत्यादि कार्य यदि किसी सत्त्वाधिक्य मनीषी द्वारा किये जाते हैं तो ये प्रकृत रस परिपोष के लिए ही है न कि दोष के लिए ।।२१।।

अब अङ्कादि के द्वारा अवर्णनीय—केवल विष्कम्भकादि के द्वारा ही वर्णनीय वस्तु का विवेचन करते हैं—

दूराध्वयानं पुरोधः, राज्य-देशादि-विप्लवः ।
रतं मृत्युः समीकादि, वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ।।२२।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—दूर देश की यात्रा, नगर का उपरोध, राज्य, देशादिकों का विप्लव आलिङ्गनादि, मृत्यु, हस्तपादादिच्छेदादि का अङ्क में वर्णन न करके केवल विष्कम्भकादि से ही इनका संकेत कर देना चाहिए ।।२२।।

विमर्श—यद्यपि तीन-चार घटिका साध्य देशान्तर गमन का अङ्क में भी वर्णन किया जा सकता है, परन्तु अधिक काल साध्य देशान्तर यात्राओं का संकेत विष्कम्भकादि से ही सम्भव है। इसी प्रकार नगररोध का भी वर्णन अङ्क में अशक्य है, क्योंकि उसमें सेना के द्वारा परकुटी, यन्त्र-सुरङ्गादि अनेक व्यापारों का प्रदर्शन करना पड़ता है, जिनका वर्णन करना वहाँ सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार अन्य कार्य भी जो प्रभूत-कालसाध्य हो या प्रचुर व्यापार या प्रचुर क्लेश साध्य और व्रीडाऽऽतङ्कादायी हों वे अङ्क में वर्जित हैं। धनञ्जय का भी यही कहना है—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं, स्नानं, सुरतं चानुलेपनम् ।।

अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्। "अङ्कैर्नैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः" ।।२२।।

शुद्ध व संकीर्णभेदयुक्त विष्कम्भक के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य, त्रिकालस्यानुरञ्जिना।
संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिः, अङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ।।२३।।
शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र, संकीर्णो नीच-मध्यमैः।
अङ्कसन्धायकः शक्यं-सन्धानातीतकालवान् ।।२४।।

अनुवाद—भूत-भविष्य व वर्तमान वाले कथा भाग (वृत्त) जिसका अङ्क में अभिनय न हो सके, अङ्क के आदि में संस्कृत भाषा में संक्षेप में मध्यम पात्रों द्वारा जिसकी सुगमतया सूचना दी जाती है, उसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं। यही (वृत्त) जो कि अङ्क-सन्धायक अर्थात् पूर्वाङ्क का संसूचक या पूर्वोत्तर अङ्कद्वय मध्यमवर्ती होकर दोनों अङ्कों के अर्थों का सम्बन्धक हो और नीच व मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त हो, साथ ही साथ अतीत काल के अर्थ संस्मारक हो तो उसे संङ्कीर्ण विष्कम्भक कहते हैं ।।२४।।

विमर्श—विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक, जिनका ग्रन्थकार आगे वर्णन करेंगे, ये पांच "**अर्थोपक्षेपक**" हैं। अर्थात् कथा के उस भाग के सूचक हैं जिसका अङ्क में निर्देश नहीं किया जाता है, ऐसा कथा-भाग सारक में सूच्य कहा जाता है, यह कथांश रञ्जक हो चाहे अरञ्जक वस्तु के विस्तार होने से प्रेक्षकों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को सरलतया उपलब्ध नहीं हो सकता है, अतः इसका प्रदर्शन अङ्क में नहीं किया जाता है, इसलिए यह 'दृश्य' न होकर सूच्य होता है, जैसा कि धनिक ने भी कहा है—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभाव निरन्तरः॥

ऐसा नीरस वस्तु-विस्तार केवल विष्कम्भकादिकों के द्वारा ही सूचनीय होता है और यह वृत्त, भूत-भविष्यत्-वर्तमान में होने वाले तीनों कालों के कथा भागों का सूचक होता है। यह यदि अङ्क के आदि में मध्यम पात्रों द्वारा संस्कृत भाषा में संक्षेप में प्रयुक्त हो तो **शुद्ध विष्कम्भक** कहा जाता है। यदि यही वृत्त नीच व मध्यम पात्रों के द्वारा संसूच्य हो तो **संकीर्ण विष्कम्भक** कहा जाता है।

यहाँ मध्यम पात्रों का अर्थ है, राजा या प्रधान नायक की अपेक्षा मध्यम, जैसे—सेनापति, वणिक्, विप्रादि अन्य राज्य परिजनों की अपेक्षा तो ये भी प्रधान ही हैं, परन्तु राजा की अपेक्षा मध्यम हैं। नीच-पात्र का अर्थ है- दास, चेटी इत्यादि जो संस्कृत भाषा नहीं बोलती हैं, प्राकृतादि से जिनका व्यवहार चलता है।

यह विष्कम्भक प्रथम अङ्क में तो आमुख के पश्चात् रखा जाता है, और अन्य अङ्कों के आरम्भ में भी होता है।

आचार्य कोहल का मत है कि विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही होता है, अन्य अङ्कों में इसका प्रयोग नहीं होता है।

"विष्कम्नात्यनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः।"

अर्थात् यह सूच्य वृत्त जो पूर्वोत्तर कथाओं का अनुसन्धायक-सम्बन्धक हो। कविराज विश्वनाथ ने अपने **साहित्य-दर्पण** में बड़े सरल शब्दों में इसका लक्षण किया है—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथाऽशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु बिष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धःस्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

विष्कम्भक के बाद अब प्रवेशक का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

एवं प्रवेशको नोचैः, परार्थे प्राकृतादिना।
एतौ प्रभूतकार्यत्वाद्, नाटकादिचतुष्टये॥२५॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—इसी प्रकार अङ्क में न दिखलाने योग्य भूत, भविष्यत्, वर्तमान कथांशों का सूचक विष्कम्भक की ही तरह प्रवेशक भी होता है जो मुख्य नायक के कार्यों में व्यापृत नीच पात्रों द्वारा ही प्राकृतादि भाषा में प्रयुक्त होता है। ये दोनों विष्कम्भक व प्रवेशक राजा अमात्यादियों के प्रचुर कार्यकलाप के व्युत्पादक होने से, नाटक, प्रकरण, नाटिका व प्रकरणी में यथेष्ट प्रयुक्त होते हैं ॥२५॥

विमर्श:—विष्कम्भक के ही लक्षण की तरह प्रवेशक का भी लक्षण है। इसलिए विवरण में लिखा है—"अङ्कानर्हस्य" इत्यादि। 'सर्वं विष्कम्भकलक्षणंमत्रातिदिश्यते' प्रवेशक में विष्कम्भक के लक्षण का अतिदेश किया जाता है, "एक पदार्थ के धर्म का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध दिखलाने को अतिदेश कहते हैं—"अन्य धर्मस्यान्यत्राभिसम्बन्धोऽतिदेशः।" यहां विष्कम्भक का धर्म है, अङ्क में प्रदर्शित करने योग्य भूत, भविष्य, वर्तमान विषयक सूच्य वस्तु की सूचना इसका प्रवेशक में अतिदेश किया जाता है बस इतने मात्र से दोनों में समानता है। विष्कम्भक जहाँ मध्यम व नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त होता है, वहाँ प्रवेशक केवल नीच पात्रों द्वारा ही प्राकृतादि भाषा में प्रयुक्त होता है, जैसे—"आणत्त म्हि भट्टि दारियाए" (आज्ञाप्ताऽस्मि भर्तृदारिकया) इत्यादि विवरण में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखलायी है—"अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः।"

विवरणकारों ने "केचित् प्रवेशकं प्रथमाङ्कस्यादौ नेच्छन्ति" लिख कर प्रथम अङ्क के आदि में भी प्रवेशक के प्रयोग को स्वाभिमत माना है। सम्भवतः यह केचित् पद का संकेत धनञ्जयादि के लिये हो, इन्होंने अपने दशरूपक में प्रवेशक को दो अङ्कों के बीच में प्रयुक्त होना माना है। इनका प्रवेशक का लक्षण इस प्रकार है—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥

अर्थात्—उसी प्रकार, विष्कम्भक की ही तरह (भूत व भविष्य के कथांशों का सूचक) नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से युक्त, दो अङ्कों के बीच में स्थित तथा शेष (अप्रदर्शनीय) अर्थ का सूचक प्रवेशक कहलाता है ॥२५॥

अब अङ्कास्य व चूलिका का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

अङ्कास्यमन्तपात्रेण, छिन्नाङ्कमुखयोजनम्।
वस्तुनः सूचनं चूला, पात्रैर्नपथ्यसंस्थितैः॥२६॥

अनुवाद—अङ्क के अन्त में आने वाले (स्त्री या पुरुष) पात्र के द्वारा (पूर्व अङ्क से विच्छिन्न) छिन्नाङ्कमुख—असम्बद्ध आगे के अङ्क के अर्थ की योजना—सूचना नहीं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दी जाय उसे **अङ्कास्य या अङ्कमुख** कहते हैं और नेपथ्य जवनिका—पर्दे के पीछे स्थित स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा किसी (वस्तु) अर्थ की जहाँ सूचना दी जाती है उसे **चूलिका** कहते हैं ।।२६।।

विमर्श—जहाँ किसी स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा पूर्व अङ्क में दूसरे अङ्क की विच्छिन्न प्रारम्भिक कथामुख की सूचना दी जाती है, उसे अंङ्कमुख या अङ्कास्य कहते हैं। जैसे **वीरचरित** के द्वितीय अङ्क के अन्त में ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्रा नामक पात्र के द्वारा शतानन्द जनकादि की कथा समाप्त हो जाने पर अग्रिम (तृतीय) अङ्क के प्रारम्भ में "ततः प्रविशन्ति वशिष्ठ-विश्वामित्र-शतानन्द-जनक-परशुरामाः"। और नेमथ्य में—पर्दे के अन्दर से किसी स्त्री या पुरुष पात्र विशेष के द्वारा किसी अर्थ-वस्तु की सूचना दी जाय तो उसे चूलिका कहते हैं। जैसे—**उत्तररामचरित** के द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में नेपथ्य से—

"स्वागतं तपोधनायाः, ततः प्रतिशति तपोधना।"

यहाँ नेपथ्य से स्त्री पात्र वासन्तिका के द्वारा आत्रेयी के आगमन अर्थ को सूचित करने से वह चूलिका है ।।२६।।

अब **अङ्कावतार** के लक्षण कहते हैं—

सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्

अनुवाद—पूर्व अङ्क के पात्रों द्वारा ही (अन्य पात्रों के अभाव में) अर्थात् विष्कम्भकादि के माध्यम से अन्य पात्रों के आगमन की सूचना दिये बिना ही जहाँ पूर्वाङ्क की कथा को बिना समाप्त किये ही, द्वितीय अङ्क का अवतरण होता है, उसे **अङ्कावतार** कहते हैं।

विमर्श—अङ्कास्य में जहां पूर्व अङ्क का कथा भाग समाप्त हो जाता है, उस अङ्क में स्थित पात्रों द्वारा दूसरे (विच्छिन्न) कथा भाग की सूचना दी जाती है, तब उस सूचित तथा असम्बद्ध कथा का अग्रिम अङ्क में आरम्भ होता है। इसके विपरीत अङ्कावतार में पूर्व अङ्क के अङ्गरूप में ही अग्रिम अङ्क आरम्भ हो जाता है "पात्रैर-विच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात् प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचना रहितमङ्कान्तरं भवति स द्वितीयाङ्कावतरणादङ्कावतारः।" कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व अङ्कों की कथा का विच्छेद नहीं होता, और प्रवेशक विष्कम्भक के न होने से सूच्य वस्तु का भी अभाव रहता है, फिर अविच्छिन्नरूप से कथांश अग्रिम अङ्क में चलती रहती है, पर इस कथांश की सूचना पूर्व अङ्क में अवश्य मिल जाती है, जैसे **मालविकाग्निमित्र** नाटक के प्रथम अङ्क के अन्त में, हरदत्त और गणदास के शिष्य शिक्षा-क्रम (संक्रान्ति) की सूचना मिल जाती है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागृहं गत्वा सङ्गीतोपकरणं गृहीत्वा तत्र भवन्तो दूतं विसर्जयेताम् अथवा मृदङ्ग शब्द एव तमुत्थापयिष्यति ।"

इत्युपक्रमे मृदङ्ग शब्द श्रवणानन्तरं तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयाङ्कमारभन्त इति । इस प्रकार का उपक्रम होने पर मृदङ्ग श्रेष्ठ के सुनने के पश्चात् सभी पात्र द्वितीय अङ्क को आरम्भ कर देते हैं ।

यहाँ प्रथम अङ्क की कथा का विच्छेद किये ही बिना द्वितीय अङ्क अवतरित होता है, अतः यह अङ्कावतार नामक (अर्थोपक्षेपक) है ।

"अन्ये तु यत्राङ्के अन्याङ्कानां बीजलक्षणोऽर्थोऽवतार्यते, तमङ्कावतारमामनन्ति यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्कः । तत्र हि 'ईदृशस्य कन्यकारत्नस्येदृश एव वरेऽपि लाषेण भवितव्यम्', इत्यादिकोऽनुरागलक्षणः सर्वाङ्कानामर्थ इति" । अयं च गर्भाङ्कोऽप्युच्यते यदाहुः—

अङ्कान्तरेव चाङ्को यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो, गर्भाङ्को नाम विज्ञेयः ।। इति

(नाट्यदर्पण-विवरणम्)

विवरणकारों ने यहाँ अन्य आचार्यों के मत का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—जिस अङ्क में दूसरे सब अङ्कों के बीजभूत अर्थ की अवतारणा होती है वह **अङ्कावतार** है । जैसे **रत्नावली** के द्वितीय अङ्क में "इस प्रकार के कन्यारत्न का तो ऐसे ही वर में अभिलाषा होनी चाहिए" यहाँ सब अङ्कों का बीजभूत अनुराग **रूप अर्थ है**, इसीलिए इसे **गर्भायु** भी कहा जाता है ।

अब विष्कम्भकादिकों की विषय-व्यवस्था का उल्लेख करते हैं—

आद्यौ सूच्ये बहावन्ये क्रमादल्पे तरे तमे ।।२७।।

अनुवाद—आद्य-विष्कम्भक व प्रवेशक बहुत समय तक सूच्य हैं; अङ्कास्य स्वल्प काल सूच्य है और **चूलिका** स्वल्पतर काल सूच्य है । अङ्कावतार स्वल्पतम काल सूच्य है ।।३७।।

अब अङ्क के बाद प्रयोजनसिद्धि के उपायों का वर्णन करते हैं—

बीजं पताका प्रकरी, बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।
फलस्य हेतवः पञ्च, चेतनाचेतनात्मकाः ।।२८।।

अनुवाद—बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु और कार्य ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ हैं, अर्थात् **फल-प्रयोजन-सिद्धि के उपाय हैं**, ये चेतन तथा अचेतनात्म हैं ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इनमें से बीज और कार्य ये दोनों अचेतन हैं, और बिन्दु, पताका, प्रकरी ये तीन चेतन हैं ।।२८।।

विमर्शः—जब तक उपायों के स्वरूप का परिज्ञान न हो, तब तद्विषयक आरम्भादि अवस्थाओं का भी स्वरूप परिज्ञान नहीं हो सकता है। अतः फल-मुख्य साध्य प्रयोजन की सिद्धि के हेतु-उपायभूत इन पाँच अर्थ प्रकृतियों का वर्णन करना परमावश्यक है।

विवरणकारों ने इन पांच अर्थ प्रकृतियों का चेतनाचेतन रूप से दो प्रकार का विभाग किया है। इनमें बीज और कार्य को अचेतन माना है और बिन्दु, पताका व प्रकरी को चेतन माना है।

अचेतन उपाय भी पुनः दो प्रकार का होता है, मुख्यामुख्य भेद से।

इसमें बीज मुख्य है, क्यों तन्मूलक ही अन्य उपाय है, कार्य अमुख्य है। चेतन उपाय भी पुनः दो प्रकार का होता है—मुख्य और उपकरणभूत।

मुख्य-बिन्दु है, क्योंकि यह कार्य-प्रधान फल का, अनुसन्धान स्वरूप, अविच्छेदक हेतु होता है। जैसा कि भावप्रकाशन में कहा है—

फले प्रधाने विच्छिन्ने, बीजस्यावान्तरैः फलैः।
तस्याविच्छेदको हेतुः, विन्दुरित्याह कोहलः॥

और यह उपकरणभूत उपाय भी दो प्रकार का होता है स्वार्थसिद्धि युक्त, और परार्थ सिद्धिपरक। परार्थसिद्धि परक उपाय में प्रथम पताका है, दूसरा प्रकरी, संक्षेप में इस चेतन तथा अचेतन उपायों के मध्य में बीज और बिन्दु की ही प्रधानता है, क्योंकि ये समस्त नाटकों में व्याप्त रहते हैं।

अभिनवभारती में अर्थप्रकृति शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"अर्थः फलं तस्य प्रकृतय उपायाः फल हेतव इत्यर्थः।" (१९-२०)

नाट्य-दर्पण में विवरणकारों ने इन पाँच अर्थ प्रकृतियों का चेतनाचेतनत्वेन और मुख्यामुख्य रूप से कुछ और अवान्तर विभाग किया है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, और न प्रकृतोपयोगी ही प्रतीत होता है, इसीलिए धनञ्जय व विश्वनाथ आदि विद्वानों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन आवश्यक अर्थ प्रकृतियां मानी गई हैं, क्योंकि ये सभी रूपकों में व्याप्त हैं, पताका व प्रकरी का सभी रूपकों में होना आवश्यक नहीं है, जहाँ प्रधान नायक को सहायता की अपेक्षा नहीं होती है वहाँ पताका व प्रकरी का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उल्लेख आवश्यक नहीं है। यहाँ कार्य शब्द का अर्थ इतिवृत्त का फल या प्रयोजन जो धर्मार्थ, काम, त्रिवर्ग कहा जाता है, वह नहीं है, अपितु अर्थप्रकृतियों के प्रसङ्ग में आये हुए कार्य शब्द का अर्थ फल न होकर फलप्राप्ति का एक उपाय है ॥२८॥

अब बीज का लक्षण कहते हैं—

स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तः हेतुबीजं प्ररोहणात् ।

अनुवाद—नाटक के मुख्य फल का वह उपाय जो धान्य को बीज की तरह स्वल्प निक्षिप्त होने पर भी आगे शाखोपशाखाओं द्वारा प्ररोह के कारण विस्तृत हो जाता है उसे बीज कहते हैं ॥

विमर्शः—बीज नाटकादि के इतिवृत्तार्थ का एक उपाय होता है। यह नाटक में आमुख के बाद रहता है। आमुख तो रूपक को प्रस्तुत करने वाले नाटक का ही कार्य है। कभी-कभी आमुख में नट के द्वारा कही गई बीजोक्तियों में पुनः रङ्गमञ्च में प्रविष्ट पात्र के द्वारा पुनः कही जाती हैं। जैसे **रत्नावली** नाटिका में—"दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग, जिसे विष्कम्मक में बीजरूप से कह दिया गया है।"

पुनः यौगन्धरायण पढता है—

द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
अनीय झटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

इसमें क्या सन्देह कि "अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी सागर से भी, दिशाओं से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है। यहां से लेकर "प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धि हेतौ" यहां तक बीज का निर्देश किया गया है जैसे ग्रन्थकारों के द्वारा बीज निर्मित **यादवाभ्युदय** नाटक में नाटकीय पात्र गुप्त मन्त्र पढ़ता है—

उदयाभिमुख्यभाजां सम्पत्यर्थं विपत्तयः पुंसाम् ।
ज्वलितानले प्रपातः, कनकस्य हि तेजसो वृद्धयै ॥

यह बीज कहीं व्यापाररूप, कहीं व्यसनोपक्षेपरूप से अनेक प्रकार का होता है।

यहां **रत्नावली** में—वत्सराज के रत्नावली प्राप्ति हेतु अनुकूल दैव के सहारे सागरिका रत्नावली का अन्तःपुर में यौगन्धरायण के प्रकास ले आना व्यापाररूप बीज है ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब पताका का लक्षण कहते हैं—

आविमर्शं पताका चेत्, चेतनः स परार्थकृत् ॥२६॥

अनुवाद—प्रधान नायक के अर्थ—कार्य का सम्पादक परार्थकृत्—जो चेतन हेतु विमर्श सन्धि पर्यन्त रहता है, उसे पताका कहते हैं ॥२६॥

विमर्शः—स्वार्थ के लिए प्रवृत्त हुआ जो चेतन-हेतु प्रधान नायक का कार्य सम्पादन करे वह प्रसिद्धि व प्राशस्त्य के हेतुभूत पताका की तरह होने से पताका कहते हैं। तात्पर्य यह है कि—पर प्रयोजन के लिए तत्पर जिस इतिवृत्त में प्रसङ्गात् या अनुसङ्गात् अपना भी कुछ स्वार्थ हो जाए उसे पताका कहते हैं।

जैसे—रामकथा प्रधान नाटकादि में प्रधान नायक राम के उपकार में हेतुभूत सुग्रीव का अपना भी आनुसङ्गिक राज्यनामादि प्रयोजन सिद्धि हो जाती है। और रामादिकों की पताका की तरह प्रसिद्धि का भी व्यापक होने से इस कथांश को पताका कहते हैं।

इसलिए धनञ्जय ने पताका को सानुबन्ध कहा है।

ऐसा प्रासाङ्गिक इतिवृत्त जो सानुबन्ध हो, अनुबन्ध—पीछे बधना, अनुवर्तन अथवा फल। जिस प्रासङ्गिक वृत्त का अपना भी अनुबन्ध फल-प्रयोजन हो, उसे पताका कहते हैं ॥२६॥

पताका के प्रसङ्ग से पताका स्थानक का भी सामान्य लक्षण कहते हैं—

चिन्तितार्थात् परप्राप्तिः वृत्ते यत्रोपकारिणी।
पताकास्थानकं तत् तु, चतुर्द्धा मण्डनं क्वचित् ॥३०॥

अनुवाद—जिस नाटकीय वृत्त में चिन्तित अर्थ से प्रयोजन तथा उपाय वाले प्राकरणिक वृत्त से अन्य आगन्तुक प्रयोजन तथा उपाय वाले वृत्त की प्राप्ति हो, साथ ही साथ वह वृत्त भी प्रधान फलोपकारक हो—इस उपकारसाम्य के कारण वह पताका के तुल्य होने के कारण इसे 'पताका स्थानक' कहते हैं। नाट्यका का मण्डन स्वरूप यह पताका स्थानक चार प्रकार का होता है ॥३०॥

विमर्शः—चिन्तित प्राकरणिक अर्थ इतिवृत्त के द्वारा जहां प्रधानफल उपकारक अन्य आगन्तुक अर्थ की भी प्राप्ति हो उसे "पताकास्थानक" कहते हैं। पूर्व पद्य में "चिन्तितार्थात्" इस पद में अर्थ शब्द के दो अर्थ हैं—प्रयोजन तथा उपाय। यदि कर्म परक व्युत्पत्ति अर्थ शब्द की की जाय तो "अर्थ्यते यः सोऽर्थः" प्रयोजन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होगा, और "अर्थ्यते अनेनेति" ऐसी करण परक व्युत्पत्ति की जाए तो अर्थ शब्द का अर्थ उपाय होगा। अर्थात् ऐसा इतिवृत्त—प्राकरणिक प्रसङ्ग जो नाट्य के फल व उपाय को समन्वित होता हुआ, पर-प्राप्ति—अन्य आगन्तुक की भी प्राप्ति करावे—मुख्य फल का उपकारक भी हो—पताका जैसे प्रासङ्गिक वृत्त द्वारा प्रधान वृत्त का उपकारक है, इसी प्रकार यह भी प्रधान वृत्त का उपकारक होने से पताकास्थानक कहा जाता है। पु शब्द से पताका स्थान से इसका व्यतिरेक भेद भी दिखा रहे हैं, एक भी पताका स्थानक नाट्य का अलङ्कार है, फिर वो तीन चार हो जाएं तो कहना हीं क्या, अतएव पताका स्थानक नाटक के लिए अनिवार्य है। बिना इसके नाटक की शोभा नहीं। पर पताका की तरह निरन्तर नहीं करना चाहिए, यही पताका और पताका स्थानक में भेद है ॥३०॥

अब चारों प्रकार के पताकास्थानक के भेदों का वर्णन करते हैं—

आद्य प्रथम भेद

१. सहसैष्टार्थलाभश्च—

अनुवाद—सहसा—अकस्मात् जहां इष्टार्थ लाभ हो, वह प्रथम पताका-स्थानक है, अर्थात् जहां किसी अन्य प्रयोजन की चिन्ता हो, अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति स्वरूपा कोई विचित्र ही अन्य प्रयोजन सम्पन्न हो जाए।

जैसे **रत्नावली** नाटिका में—सागरिका जब अपने गले में पाश-बन्धन कर रही थी, उसी समय सहसा वासवदत्ता को समझकर राजा उसका पाश विमोचन कर देता है। पुनः वचन द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान करके कहता है—"कथं मे प्रिया सागरिका, अलमति मात्रेण। इत्यादि ॥

द्वितीय पताकास्थानक

२. श्लिष्ट सातिशया च वाक्।

अनुवाद—जहां श्लिष्ट प्रकृत सम्बद्ध तथा सातिशया अद्भुत् अर्थ सम्पन्न वचन हैं। वह द्वितीय पताका स्थानक है—जैसे रामाभ्युदय नाटक के द्वितीय अङ्क में सीता के प्रति सुग्रीव की सन्देशोक्ति—

बहुनाऽत्र किमुक्तेन ? पारेऽपि जलधेः स्थिताम् ।
अचिरादेव देवि ? त्वाम्, आहरिष्यति राघवः ॥

यहां समुद्र पार लंका में स्थिति, प्रकृत सम्बद्ध अद्भुत अर्थ से राघव के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वारा सीता का आहरण रूप प्रयोजनान्तर का सम्पन्न होना—द्वितीय पताका-स्थानक है।

तृतीय पताकास्थानक का भेद

३. द्व्यर्थो च (वागिति)

अनुवाद—ह्यर्थो—श्लेष वश द्व्यर्थक पदों से प्रस्तुतोपयोगी अर्थान्तर का आक्षेप जहां हो वह तृतीय पताका स्थानक है। जैसे—"प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दो रिवोद्वीक्ष्यते"

यहां प्रकृत संध्या वर्णन के प्रसङ्ग से प्रयुक्त किये गये पद, सागरिका के प्रति उदयन के अनुराग को भी श्लेष वशात् प्रकट करते हुए प्रयोजनान्तर को भी सम्पन्न करते हैं।

चतुर्थ पताकास्थानक का भेद

४. अप्रकटे श्लिष्टस्पष्टप्रत्यभिधाऽपि च

अनुवाद—अप्रकटे—प्रत्युत्तर रूप में जो अर्थ विज्ञात न हो, किसी के द्वारा उपक्षिप्त ऐसा अर्थ जहां दूसरे के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ भी प्रकृत सम्बद्ध तथा स्पष्ट निश्चयपूर्ण अभिधान हो वहां चतुर्थ पताकास्थानक होता है। जैसे **मुद्राराक्षस** नाटक में—"चाणक्य: अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्यते ?।'

इस प्रकार असम्भव-अविज्ञात अर्थ का उपक्षेप करने पर "आर्य गृहीत:" इस प्रकार का प्रस्तुत सम्बद्ध निश्चयात्मक उत्तर की प्राप्ति होती है ।।३१।।

विमर्श:—ऐसी प्राकरणिक वस्तु जो आगे आने वाले अर्थ का सूचक हो, वह पताका के समान होने से पताकास्थानक कहलाती है, धनञ्जय के शब्दों में पताका स्थानक की यह परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट मालूम पड़ती है—

> प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचनम् ।
> पताकास्थानकं तुल्य संविधानविशेषणम् ।।

इन्होंने इसे दो प्रकार का माना है:—

१. अन्योक्ति तथा समासोक्ति के भेद से ।

अन्योक्ति—समान इतिवृत्त के द्वारा प्रस्तुत से आगन्तुक अर्थ की सूचना।

२. समासोक्ति—समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत इतिवृत्त से आगन्तुक अर्थ की सूचना।

साहित्य-दर्पण व नाट्यदर्पण में यह पताकास्थानक चार प्रकार का ही माना है ।।३१।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब प्रकरी का लक्षण कहते हैं—

प्रकरी चेत् क्वचिद् भावो, चेतन्योऽन्य प्रयोजनः ॥

अनुवाद—क्वचित् भावी—इतिवृत्त के एक देश व्यापी (प्रासङ्गिक वृत्त) ऐसा चेतन-सहकारी जिसका अपना कोई मुख्य प्रयोजन न हो, उसे प्रकरी कहते हैं ॥

विमर्शः—प्रकरी वह प्रासङ्गिक सहकारी इतिवृत्त है, जो केवल प्रधान नायक के ही प्रयोजन के लिए होता है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता है। इसलिए इसकी व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार है –"प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षा करोतीति प्रकरी।" यदि फलसाधन में सहायता की अपेक्षा हो, तब प्रकरी का निबन्धन होता है, अन्यथा तो पताका की तरह यह भी कोई अनिवार्य नहीं है। पताका से इसका भेद यह है कि प्रासङ्गिक वृत्त में पताका का जहां अपना भी कुछ स्वार्थ रहता है, "जैसे सुग्रीवादि का राज्यलाभादि" वहां प्रकरी का अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता है, जैसे—रामायण में जटायु वृत्तान्त। साहित्यदर्पणकार ने बड़े सरल शब्दों में इसका निर्वचन किया है—"प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता"।

अब बिन्दु का लक्षण करते हैं—

हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूनां बिन्दुराफलात् ।

अनुवाद—नायक-प्रतिनायक अमात्यादिकों के अवश्य कर्तव्य उपायानुष्ठान के व्यवहित हो जाने पर पुनः (उपाय के प्रधान प्रयोजन के) फल पर्यन्त उस वृत्त के अनुसन्धान-अविच्छेद के कारण को बिन्दु कहते हैं ॥३२॥

विमर्शः—बिन्दु भी अर्थ-प्रकृति का एक महत्वपूर्ण भेद है अर्थात् नायक-प्रतिनायकों के प्रधान फल सिद्धि का अन्यतम महत्वपूर्ण उपाय। जब नाटक में किसी प्रसङ्ग विशेष से अवान्तर प्रयोजन के विच्छेद के कारण कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में व्यवधान आ जाता है तब बिन्दु ही उस मुख्य कथावस्तु के प्रयोजन का फल पर्यन्त अनुसन्धान करता है। जल में तैल बिन्दु की तरह यह भी फल पर्यन्त व्याप्त रहता है। जैसे **रत्नावली** में—काम-पूजा एक अवान्तर (कार्य) प्रयोजन है, उसकी समाप्ति पर कथा के मुख्य प्रयोजन (रत्नावली का समागम) का विच्छेद होने लगता है। तदनन्तर मागधों की उक्ति है "उदनयस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते" (जन समुदाय चन्द्रमा की किरणों की तरह उदयन के चरणों की प्रतीक्षा कर रहा है) इसे सुनकर सागरिका कहती है— "कथं एष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तावेन दत्ता" इत्यादि कथाभाग द्वारा पुनः सागरिका के हृदय में औत्सुक्य-अनुराग का अनुसन्धान करना ही बिन्दु का काम है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिस प्रकार जल में तैल बिन्दु फैल जाता है उसी प्रकार यह फलोपाय भी नाटच में फैल जाता है, इसलिए इसको बिन्दु कहते हैं ।।३२।।

अब कार्य का लक्षण करते हें --

साध्ये बीजसहकारी कार्यम्

अनुवाद—प्रधान नायक-पताका नायक व प्रकरी नायक का प्रधान फल से अभिमत साध्य कार्य में बीज प्रधान उपाय के लिए कोश दुर्ग सैन्यादि सामग्री से सहायता करना कार्य ही है।

कार्यैस्तु मुख्यता ।

अनुवाद—कार्यै—फल के प्रति उपकार विशेषों से ही पुनः बीज-बिन्दु आदि की मुख्यता है । बीज व बिन्दु की मुख्यता सर्वव्यापी होने के कारण है । पताका, प्रकरी व कार्य की मुख्यता मुख्यफल के प्रति उपयोग की अपेक्षा से है ।

पताका की मुख्यता जैसे—मृच्छकटिक प्रकरण में पूर्व उपकार से अनुगृहीत आर्यक के विषय में है ।

प्रकरी की मुख्यता—जैसे --कुन्दमाला नाटक में—सीता व उसके पुत्रों के पालन-पोषणादि करने वाले स्वफल निरपेक्ष वाल्मीकि के विषय में है ।

दोनों की मुख्यता पताका व प्रकरी की राम-प्रबन्ध में सुग्रीव-विभीषण-जटायु हनुमान-अङ्गदादि के विषय में है । जहां पताका व प्रकरी का अभाव है वहां फिर कार्य की ही मुख्यता है । पताका की प्रधानता में भी उसकी मुख्य सन्धियों में गणना नहीं होती

पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनाऽऽदिभिः ।।३३।।

अनुवाद - पताका की प्रधानता होने पर भी उसकी गणना मुख्य सन्धि में न होकर गौण सन्धि-अनुसन्धि में होगी । वह कहीं सूचना से, कहीं स्वयं उहापोह तर्क या अनुमान से, कहीं-कहीं थोड़ा सा उल्लेख भी किया जाता है ।

यदि पताकादि का स्थान भी मुखादि प्रधान सन्धियों की तरह कर दिया जाए तो फिर पताका वृत्त का प्रासङ्गिकत्व ही लुप्त हो जाएगा, इसीलिए इन्हें अनुसन्धि कहा है ।।३३।।

विमर्शः—प्रधान इतिवृत्त का जो फल साध्य अभीष्ट रहता है, और जिसके आरम्भ के लिए बीज प्रारम्भिक उपाय की प्रवृत्ति रहती है, उसी बीज प्रारम्भिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपाय की निष्पत्ति हेतु सैन्य-दुर्ग-कोशादि सामग्री के द्वारा जो सहायता की जाती है वही कार्य है।

यहां कार्य शब्द का अर्थ—धर्मार्थ काम न होकर प्रधान फल के सिद्धि के हेतु उपाय है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का उल्लेख है—

अपेक्षितं तु यत्साध्य-
आरम्भो यन्निबन्धनः।
समापनन्तु यत्सिद्ध्यै—
तत् कार्यमिति सम्मतम् ॥१॥

पांच अर्थ प्रकृतियों का वर्णन कर अब पांच प्रकार की अवस्थाओं का भी वर्णन करते हैं—

आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः।
नेतुर्वृत्त प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥३४॥

अनुवाद—नेता—मुख्य फल के प्रति बीजादि उपायों के प्रयोक्ता के प्रधान इतिवृत्त के विषय में, जो शरीर वाक् मनोव्यापार आदि विशेष चेष्टायें हैं, वे ही नाट्य की अवस्थायें हैं। ये आरम्भ. यत्न, प्राप्ति, आशा, नियताप्ति, फलागम भेद से पांच प्रकार की है ॥३१॥

विमर्श:—ये आरम्भादि पांच अवस्थायें फल की इच्छा करने वाले व्यक्ति विशेष द्वारा आरम्भ किए गए व्यापार विशेष हैं। जिस प्रकार अर्थ प्रकृतियां फल सिद्धि के उपाय हैं, उसी प्रकार ये अवस्थायें भी फल को लक्ष्य करके किए गए नायक के इतिवृत्त विषयक व्यापार विशेष हैं। अर्थ प्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ रहता है, क्योंकि ये फलसिद्धि के उपाय हैं, और इन अवस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध नायक के इतिवृत्त विषयक कायवाङ्मनो व्यापार के साथ है। इन दोनों इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर परम्परया है ॥३४॥

उद्देश्य क्रम से अभिहित पांच अवस्थाओं में से प्रथम अवस्था "आरम्भ" का लक्षण कहते हैं—

"फलायौत्सुक्यमारम्भः"

अनुवाद—मुख्य फल प्राप्ति हेतु जो उत्कण्ठादि कर्म तदनुकूल व्यापार ही आरम्भ कहलाता है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—सचिवायत्त सिद्धि वाले वत्सराज के मन्त्री यौगन्धरायण का रत्नावली के अन्तःपुर निवेश की उत्सुकता—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ,

दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्ब्रे" इत्यादि द्वारा दिखलाई है ।।

अब **यत्न-प्रयत्न** का लक्षण कहते हैं—

"प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा"

अनुवाद—(फल प्राप्ति के न होने पर) मुख्य फल के उपाय में त्वरा शीघ्रता-पूर्ण उद्योग उसे प्रयत्न कहते हैं। आरम्भ में केवल उत्कण्ठामात्र रहती है, परन्तु प्रयत्न में अतिशय साधनों को जुटाने की विशेष चेष्टा रहती है। इसलिए यहां यत्नः प्रयास भी उत्कृष्ट रहता है और उत्सुकता भी उत्कृष्ट रहती हैं। इसीलिए विवरण में लिखा है—

"**औत्सुक्यमात्रमारम्भः, परमौत्सुक्यं तु प्रयत्नः**"

रत्नावली नाटिका में जैसे—(सागरिका द्वारा) चित्र बनाना इत्यादि वत्सराज **उदयन** से मिलने के उपाय हैं—

"तथापि नास्त्यत्यो दर्शनोपाय इति यथा तथाऽऽलिख्य यथासमीहितं करिष्ये" इत्यादि।

अब "**प्राप्त्याशा**" का लक्षण करते हैं—

फल सम्भावना किञ्चित्, प्रत्याशा हेतुमागतः ।।३५।।

अनुवाद—फलान्तर से असम्बद्ध-अनिश्चयादि बाधाओं से वर्जित उपाय के द्वारा जहां कुछ-कुछ फल लाभ की सम्भावना हो (न कि पूर्ण निश्चय) उसे प्राप्त्याशा कहते हैं।

जैसे **रत्नावली** नाटिका में - वेष परिवर्तन और अभिसरणादिक के उपायों से मिलन की सम्भावना होने पर भी मध्य में वासवदत्ता रूपी विघ्न की आशङ्का से पूर्ण निश्चय नहीं होता—

"एवं यद्यकाल वातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता" इत्यादि

ऐसा भी है कि यदि अकाल झञ्झावात की तरह आकर वासवदत्ता इस उपक्रम को वदल न दे। इत्यादि।

अथवा **वेणीसंहार** नाटक में—"कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा" इत्यादि पद्य में दुःशासन के वध से अशेष कौरवों के वध की सम्भावना से युधिष्ठिर के राज्यलाभ की सम्भावना इत्यादि।

अब **नियताप्ति** का लक्षण कहते हैं—

नियताप्तिरूपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णयः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—प्रधान फल के उपायों के प्रतिबन्धक के अभाव में, सम्पूर्ण सहकारी सम्पत्ति द्वारा जहां प्रधान फल के लाभ का निर्णय हो उसे नियताप्ति कहते हैं।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—"राजा देवी प्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि" इत्यादि द्वारा देवी वासवदत्ता लक्षण अपाय प्रतिबन्ध का प्रसादनरूप उपाय से निवारण हो जाने से फल प्राप्ति का निर्णय हो जाता है।

अथवा **वेणीसंहार** नाटक में—कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी" इत्यादि द्वारा अन्य कौरव योद्धाओं के अपाय प्रतिबन्ध के समाप्त हो जाने पर अवशिष्ट केवल दुर्योधन के अन्वेषण से राज्यलाभादि का निश्चय हो जाता है।

अब फलागम का निरूपण करते हैं—

साक्षादिष्टार्थसम्भूतिः नायकस्य फलागमः ॥३६॥

अनुवाद—इन पूर्वोक्त उपायों के समानान्तर ही (न कि दानादियों से स्वर्ग फल की तरह विलम्ब से) नायक के अभिमत फल की सम्भूति-पूर्णरूपेण प्राप्ति ही फलागम है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में राजा उदयन को रत्नावली की प्राप्ति और चक्रवर्ती पद की प्राप्ति फलागम है ॥३६॥

विमर्शः—ये आरम्भादि पांच अवस्थाओं में नायक के कार्य-व्यापार से सम्बद्ध हैं। इन पांच अवस्थाओं में नायक सहायक-प्रतिनायकादिकों में से किसी एक के दो के अथवा तीन-चार के विषय में भी इन अवस्थाओं का उल्लेख हो सकता है, परन्तु फलयोग या फलागम तो मुख्य नायक विषयक ही होगा। नाटकों में ये सब कर्मसिद्धि के हेतुभूत उपाय अर्थप्रकृतियों और नायक के व्यापार विशेष ये अवस्थायें सभी विशिष्ट पुरुषार्थ की परिनिष्पत्ति के ही प्रयोजक हैं, न कि नायक के आकस्मिक या दैवायत्त कार्य फल सिद्धि के प्रसाधक। तात्पर्य यह है कि अकस्मात् दैव द्वारा ही यदि किसी कार्य की सिद्धि का वर्णन कर दिया जाए तो मानव कर्म पुरुषार्थ के अभाव में नाटक अपने स्वरूप से ही च्युत हो जाएगा, जब 'त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्' कहकर नाटक को धर्मार्थकाम का व्युत्पादक कहा है।

अतः केवल दैवायत्त सिद्धि का वर्णन न करके दैव व मानुष व्यापार को परस्पर सापेक्ष्य रखकर शुभाशुभ फल के परिपाक का सुन्दर सामञ्जस्य नाटक में दिखलाना चाहिए। मानवीय पुरुषार्थ के साथ-साथ दैवायत्त फल लाभ का भी यत्र तत्र संकेत अवश्य होना चाहिए जिससे कि शुभ कर्मों के पुण्यों के प्रति मानवों की रुचि उत्पन्न होय इस लोभ से भी वे पुनः शुभाचरणों के शुभ परिपाक की आशा से पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त हो अतः दैव मानुष उभयविध पुरुषार्थों के समावेश से नाटक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सामाजिकों के बुद्धि संस्कार या वासना संशोधन के लिए अतीव उपयुक्त हो सकता है ॥३६॥

अब दशा (अवस्था) के बाद निर्दिष्ट-सन्धियों के भेदों का निरूपण करते हैं—

मुखं प्रतिमुखं गर्भामर्श-निर्वहणान्यमी ।
सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ॥३७॥

अनुवाद—मुख्यवृतांश नाट्य के मुख्य कथाभाग बीज-बिन्दुपताकादियथाक्रम पांच अवस्थाओं से अनुगत होने से— मुख-प्रतिमुख गर्भ-आमर्श (विमर्श) निर्वहण ये पांच सन्धियां होती हैं ॥३७॥

विमर्श—एक प्रयोजन से अन्वित कथांशों का अवान्तर किसी एक प्रयोजन वाले कथांश से सम्मिलन ही सन्धि है। सन्धि शब्द का अर्थ है— सन्धान-मिश्रण-ठीक ढंग से मिलना। नाटक की किसी कथावस्तु का अवान्तर कथांश से सुव्यवस्थित होना ही सन्धि है जैसा कि दशरूपक में धनञ्जय में कहा है—

"अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति"

"एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजन सम्बन्धः सन्धिः ॥"

अर्थात् - बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य— इन पांच अर्थ प्रकृतियों का क्रमशः आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा, नियताप्ति ब फलागम से सम्बन्ध होने पर= मुख-प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धियां होती हैं।

अर्थप्रकतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः ।
यंथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या पञ्चसन्धयः ॥

इन सन्धियों का सरल स्वरूप इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

१. बीज और प्रारम्भ	=	**मुखसन्धि ।**
२. बिन्दु और प्रयत्न	=	**प्रतिमुखसन्धि ।**
३. पताका और प्रत्याशा	=	**गर्भ सन्धि ।**
४. प्रकरी और नियताप्ति	=	**अवमर्श संधि ।**
५. कार्य और फलागम	=	**निर्वहण संधि ।**

ये फलसिद्धि के हेतु भूत-उपाय और फलानुकूल नायकादि के व्यापार जिनको नाटकीय भाषा में अर्थप्रकृति और अवस्था या दशा कहा है नाटक-प्रकरण व नाटिका-प्रकरणी में इन मुख्य कथांशों का रहना अनिवार्य है। अतः तदनुसन्धानस्वरूप सन्धियों का भी नाटकादि में होना जरूरी है। ये किसी भी नाटक के महत्वपूर्ण तत्त्व हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अवस्था भेद से पांच भागों में इनकी परिकल्पना की गई है। प्रासङ्गिक वृत्त से सम्पन्न होने वाली सन्धियां तो मुख्य सन्धि के अनुगामी होने से अनुसन्धि भी कही जाती है जैसे पताका व प्रकरी में जो सन्धियां होती हैं। रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने भी अपने विवरण में इनकी ओर संकेत किया है—"इह तावत् प्रबन्ध निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिः मार्गैः परिकल्प्यते, एकैकश्च भागो द्वादशत्रयोदशेत्यादिरुपयाङ्गऽसङ्ख्यया विभज्यते। प्रासङ्गिकवृत्तसन्धयस्तु मुख्यसन्ध्यनुगामित्वादनुसन्धय एवेत्युक्तमेवेति ॥३७॥

अब **मुखसंधि** का लक्षण करते हैं—

मुखं प्रधानवृत्तांशः बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः।

अनुवाद—प्रारम्भावस्था युक्त प्रधान-वृत्त का या मुख्य कथा भाग का बीजोत्पत्ति-मुख्य-उपाय से संयुक्त होने पर मुखसन्धि होती है। जो शृङ्गारादि नाना रसों से समन्वित रहती है।

विमर्श—अनेक प्रकार के प्रयोजन (धर्म-अर्थ-काम) और शृङ्गारादि रसों से सम्पन्न बीजोत्पत्ति (अर्थ प्रकृति का मुख्य-उपाय) जहां प्रारम्भावस्था से सम्बन्धित होता है उसे मुखसन्धि कहते हैं।

जैसे **रत्नावली** नाटिका के प्रथम अङ्क में सागरिका वत्सराज के दर्शन के अवसर पर—नाट्य के इस प्रारम्भावस्था-प्रसङ्ग में अमात्य यौगन्धरायण का पृथिवीसाम्राज्य विजिगीषा के कारण वीररस और वसन्त विभाव के निमित्त वत्सराज का शृङ्गाररस, पुर के प्रमोद विशेष से अद्भुत आदि रसों का समाश्रय है। धनिक ने **दशरूपक** में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—मुखं बीजसमुत्पत्ति-र्नानार्थरससम्भवा।" जहां बीजों की उत्पत्ति होती है, जो अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस की निष्पत्ति का निमित्त होती है, वह मुखसन्धि है॥

अब **प्रतिमुख संधि** का लक्षण करते हैं—

प्रतिमुखं किंयल्लक्ष्य-बीजोद्घाट-समन्वितः ॥३८॥

अनुवाद—(नाट्य कथा का प्रधान-वृत्तांश जिसका स्मरण वक्ष्यमाण सन्धियों में भी किया जाएगा) मुख सन्धि में जो बीजरूप से किञ्चित् प्रकाशित था, अब प्रयत्नावस्था से मुक्त होकर प्रबल-प्रकाश युक्त अर्थात् मुख सन्धि में निर्दिष्ट मुख्य कथांश का बीज जहां अच्छी तरह प्रकट हो जाय, उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं।

विमर्श—फल सिद्धि का हेतु भूत मुख्य-उपाय बीज जो कि गम्भीर होने के कारण मुख सन्धि में अच्छी तरह प्रकट नहीं होता है, वही प्रयत्नावस्था से युक्त होकर प्रतिमुख सन्धि में कुछ प्रकट हो जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे रत्नावली नाटिका में "दीपादन्यस्मादपि" इत्यादि पद्य द्वारा अमात्य यौगन्धरायण के वत्सराज व सागरिका के मिलन (फल) के हेतु अनुराग रूपी बीज का मुखसन्धि में निक्षेप किया। इसमें यह अनुरागरूपी बीज किञ्चिल्लक्ष्य है, पुनः, द्वितीय अङ्क में—

सुसङ्गता व विदूषक द्वारा जान लिया गया है, अतः यहां उस बीज अनुराग का उद्घाटन अच्छी तरह प्रकाशन होने से और प्रयत्न पूर्ण होने से यह प्रतिमुख सन्धि है ॥३८॥

अब **गर्भ** सन्धि का निरूपण करते हैं—

बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भः लाभालाभगवेषणैः।

अनुवाद—उत्पत्ति व उद्घाटन-अवस्था विशिष्ट-फलोन्मुख बीज का प्राप्त्याशा से लाभालाभादि का गवेषण जिस वृत्तांश में किया जाय वह गर्भ या गर्भ सन्धि है।

सारांश यह है कि प्रधान प्रयोजन का प्राधानोपाय (बीज) जो कि मुख सन्धि में अङ्कुरित हुआ और प्रतिमुख सन्धि में पल्लवित हुआ है। अब तृतीय प्राप्त्याशा समन्वित होकर बार-बार लाभ और अलाभ से लक्षित व अलक्षित—जिस वृत्तांश में दिखलाई देता है, उसे गर्भ सन्धि कहते हैं।

जैसे **वेणीसंहार** नाटक के तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम अङ्क में—"कृष्ण येन शिरोरुहेषु पशुना" इत्यादि पद्य में भीमसेन के द्वारा प्रतिज्ञा-निर्वाह के उपक्रम में विजयानुरूप लाभ से (बीज) प्रधानोपाय की उन्मुखता दिखलायी, और पुनः राक्षस के वृत्तान्त के द्वारा दुर्योधन के विजय की आशङ्का से अलाभ लक्षण बीज के ह्रास की सम्भावना होती है, पुनः "राजो मान धनस्य कार्मुकभृतो-दुर्योधनस्याग्रतः"— इत्यादि वाक्य से भीमसेन द्वारा दुःशासन के वध से विजयलाभरूप बीज की सम्भावना-फ़लोन्मुखता दिखलाई देती है।

इस प्रकार इस वृत्तांश में विजयरूप-फल के लाभालाभ के गवेषण से गर्भ सन्धि है।

विमर्श—प्रधान-प्रयोजन का प्रधानोपायरूप जो बीज मुख सन्धि में प्रकट होकर प्रतिमुख सन्धि में लक्ष्यालक्ष्य रूप में व्यवस्थित रहता है, वही बीज पुनः प्राप्त्याशारूप तृतीय अवस्था से मुक्त होकर गर्भ-सन्धि में प्रथम प्रकट होकर मध्य में विघ्नों से व्यवहित होता हुआ पुनः फलोन्मुख दिखलाई देता है, फलतः यह गर्भ सन्धि फलप्राप्ति व सम्भावना रूप है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भरत नाट्यशास्त्र(१९.४१) में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"उद्भेदस्तस्य वीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा,
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति सञ्ज्ञितः ॥१॥

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि इस गर्भ सन्धि में लाभालाभ गवेषण के द्वारा फलालाभरूप अंश की प्रधानता रहती है, अन्यथा फलनिश्चयात्मकरूप विमर्श सन्धि से इसका अन्तर ही क्या रह जायेगा ॥

अब विमर्श सन्धि का निरूपण करते हैं —

उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा, विमर्शो व्यसनादिभिः ॥३९॥

अनुवाद— मुख-प्रतिमुख व गर्भ सन्धि से उद्भिन्न हुआ, प्रधानोपाय-साध्य, मुख्य फल, जहां व्यसनादि से सान्तराय और नियताप्तिरूप चतुर्थ-अवस्था से परिच्छिन्न हो, उस वृत्तांश को अवमर्श या विमर्श सन्धि कहते हैं ॥३९॥

विमर्श—प्रधानोपाय साध्य फल या इतिवृत्त का प्रधान प्रयोजन— जो मुख-प्रतिमुख व गर्भ सन्धि में उद्भिन्न हो चुका है, 'पुनश्च शापादि-व्यसनों से सान्ताराय-विघ्नयुक्त भी हो ऐसे नाट्य के वृत्तांश को **विमर्श** या **अवमर्श** कहते हैं, "विमृशति—बलादन्तरायहेतुसम्पात प्रत्यासन्नमपि साध्यं प्रति सन्देग्धि नेताऽस्मिन्निति-विमर्शः ।"

यद्यपि यह सन्धि नियताप्ति अवस्था से व्याप्त रहती है, अतः सन्देह की ज्यादा सम्भावना न होने पर भी मध्य में शापादि-विघ्नों के आ जाने से फलप्राप्ति में सन्देह बना भी रहता है। परन्तु "विघ्नैश्चापि हन्यमानाश्च महात्मानो विशेषतो यतन्ते" इस सिद्धान्त के अनुसार विघ्न बाधाओं के रहते हुए भी प्रधान नेता का प्रयत्न फल-प्राप्ति के लिए निरन्तर चलता ही रहता है। विमर्श-पर्यालोचन "भवितव्यमनेनार्थेन" यह फल होना ही चाहिए इस प्रकार का विमर्श होने से यह नियतफलाप्तिस्वरूप भी है।

जैसे—**अभिज्ञान शाकुन्तल** के पांचवें अङ्क में—दुर्वासा के शाप से विमोहित दुष्यन्त के द्वारा जब शकुन्तला का प्रत्याख्यान हो जाता है, तो शकुन्तला अन्तर्हित हो जाती है। पुनः षष्ठ अङ्क में अंगूठी के दर्शन से प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर शकुन्तला की स्मृति आ जाती है, तब राजा उस दुर्वासा के शाप के विषय में विमर्श-विचार करता है। अतः उक्त नाटक के इस वृत्तांश में विमर्श सन्धि है ॥

कविराज विश्वनाथ ने अपने **साहित्यदर्पण** विमर्श सन्धि का स्वरूप सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ॥१॥

अब निर्वहणसन्धि का निरूपण करते हैं—

सबोजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः ।
फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वहणो ध्रुवम् ॥४०॥

अनुवाद—बीज-सहित-मुखादि सन्धियां-इतिवृत्त का प्रधानोपाय-विकृतावस्था युक्त अर्थात्-प्रारम्भादि-उत्पत्त्यादि के द्वारा फलोन्मुख भावों से समन्वित, जब मुखादि सन्धियों में आकर फलागम अवस्था से परिच्छिन्न होता हुआ मुख्य-प्रयोजन से सम्बद्ध होता है, तब उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं ॥४०॥

विमर्श—इतिवृत्त का अन्तिम अंश निर्वहण सन्धि है, इसमें फलागम नामक पाँचवीं कार्यावस्था रहती है और यह पाँचवीं अर्थ प्रकृति (कार्य) नामक व्यापार से सम्बद्ध रहती है। इस प्रकार बीज इतिवृत्त का प्रधानोपाय-विकृतावस्था वाला अर्थात्-उत्पत्ति-उद्घाट-फलौन्मुख्यादिरूप कार्यनायक व्यापार से भावित होकर—अर्थात् नानाभाव समन्वित "भावयन्ति-फलं साधयन्ति भावा उपाया बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि"—बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्य में विकृत हुआ बीज-प्रधानोपाय-जब मुख-प्रतिमुखादि सन्धियों में फलागमावस्था से युक्त होता है अर्थात् तत्तत्-अवस्थाओं से पल्लवित बीज जब प्रधान-प्रयोजनरूप फल में परिणत होता है, तब निर्वहण सन्धि होती है।

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने-अपने स्थान पर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रधान प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है—**निर्वहण सन्धि** कहलाती है ॥

जैसे—रत्नावली नाटिका में—**रत्नावली**—सागरिका, वसुभूति, वाभ्रव्यादि के कार्यों का जो कि मुख सन्धि में बिखरे हुए थे वत्सराज के एक कार्य-प्रयोजन-(रत्नावली-समागम) के लिए समाहार होता है—"**वसुभूति—(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) वाभ्रव्य सुसदृशीये राजपुत्र्याः।**" **इत्यादिना दर्शितभित्ति निर्वहणसन्धिः ॥४०॥**

नाटक-लक्षण निरूपण के प्रसङ्ग में "दिव्याङ्गं तत्र नाटकम्" ऐसा पाँचवीं कारिका में कहा है। अब उन्हीं "उपक्षेपादि" अङ्गों का विवेचन करते हैं, जिनका मुख्य सन्धि में होना आवश्यक है—वे इस प्रकार है—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासः समाहितिः ।
उद्भेदः करणे चैतान्यत्रैवाथ विलोभनम् ॥४१॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भेदनं प्रापणं मुक्तिः, विधाने परिभावना।
सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखे ध्रुवम् ।।४२।।

अनुवाद—उपक्षेप से लेकर-परिभावना तक ये बारह अङ्ग हैं। इनमें से उपक्षेप से करण तक अर्थात् उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, समाहिति, उद्भेद, करण ये छः केवल मुख सन्धि में ही होते हैं, और विलोभनम् से लेकर परिभावना तक ये छः सभी सन्धियों में होते हैं ।।

भेद को सभी सन्धियों में, अङ्क के अन्त में और प्रवेशक-विष्कम्भक के अन्त में अवश्य रखना चाहिए। अन्य उपक्षेपादि का तो वृत्त के अनुसार निर्दिष्ट क्रम से निरूपण करना चाहिए। आमुख-या प्रस्तावना में इन सन्ध्यङ्गों का निवेश नहीं होता है। आमुख नट-वृत्त होने से इतिवृत्त का अङ्ग नहीं होता है।

ये अङ्ग नाट्य-कथा या इतिवृत्त भाग के विस्तार व चमत्कार के हेतु हैं, अतः इनका निरूपण नाटक में अनिवार्य है, अन्यथा-केवल इतिवृत्त मात्र के वर्णन से तो कवि का अपना दायित्व पूर्ण नहीं होता है, और न उन्हें महाकवित्व लाभ ही होता है, जैसा कि विवरण में कहा है—

"किञ्च अरञ्जकमपि वृत्तमङ्गवैचित्र्येण निबध्यमानं परां रक्तिमावहति, कार्यवशाच्च पुनरुच्यमानमपि वृत्तभङ्गभङ्गया निवद्धमपुनरुक्तमिवाभाति, अयः शलाकाकल्पता चाङ्गसम्वद्धस्य वृत्तस्य न भवति।।४२।।

अब मुख सन्धि में होने वाले इन द्वादशाङ्गों में से उद्देश्य क्रम से एक-एक का लक्षण करते हैं—

सर्वप्रथम काव्यार्थ का सर्वस्वभूत-प्रयोजन स्वरूप जो रस है, उसको संक्षेप में उपक्षिप्त करने वाले "**उपक्षेप**" का लक्षण करते हैं—

बीजस्योप्तिरुपक्षेपः

अनुवाद—विस्तृत काव्यार्थ के मूलभूत भाग को बीज कहते हैं, उसके (काव्य या नाटक में) वपन—निक्षेप-रखने को उपक्षेप कहते हैं।

जैसे **रत्नावली** नाटिका में—(नेपथ्य में)

"दीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।।
आनीय झटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ।।१।।

(अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी सागर के मध्य से भी, दिशाओं के छोर से भी, अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है ।।१।।)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ यौगन्धरायण ने वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति का हेतु भूत जो दैव की अनुकूलता सहित जो अपना व्यापार-उद्योग है, उसको बीज रूप में रख दिया है, अतः यह उपक्षेप है ।।१।।

परिकर का लक्षण

स्वल्प व्यासः परिक्रिया ।

अनुवाद—उपक्षिप्त उस बीज का विशेषवचनों से कुछ विस्तार ही परिकर है। जैसे **रत्नावली** नाटिका में ही—"अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वर दुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम्" (अन्यथा—यदि दैव अनुकूल न होता तो सिद्धों के कथन पर विश्वास करके वत्सराज के लिए मांगी हुई सिंहलेश्वर की पुत्री, जलयान (जहाज) के टूट जाने पर डूबती हुई उठकर तख्ते को कैसे प्राप्तकर लेती ।।१।।)

यहाँ से लेकर—"सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः" (स्वामी-वत्सराज को सभी प्रकार के अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं) यहाँ तक उपक्षिप्त बीज का ही कुछ विस्तार दिखलाया गया है, अतः परिकर है ।।२।।

परिन्यास का लक्षण

विनिश्चयः परिन्यासः

अनुवाद—उपक्षिप्त-विस्तृत-बीजार्थ का, विशेष-निश्चय-हृदय में अवधारण या निष्पत्ति ही परित्यास है।

जैसे—रत्नावली में—

"प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतो, दैवे चेत्थं दत्तहस्ता वलम्बे"। इत्यादि द्वारा उपक्षिप्त व विस्तृत बीज-रत्नावली प्राप्ति लक्षण के विषय में यौगन्धरायण ने अपने उद्योग और दैव की सिद्धि बतलाई है, **रत्नावली** प्राप्ति का विशेष निश्चय होने से यह परिन्यास है—अथवा ग्रन्थकारों द्वारा विरचित—"रोहिणी मृगाङ्क—" नामक प्रकरण के प्रथम अङ्क में—

मृगाङ्क के प्रति वसन्त कहता है—कुमार मा शङ्किष्ठाः—

उन्मत्तप्रेमसरम्भाद्, आरभन्ते यदङ्गना ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं, ब्रह्माऽपि खलु कातरः ।।३।।

समाहिति का लक्षण

पुनर्न्यासः समाहितिः ।।४३।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—संक्षेप में उपक्षिप्त-बीज का स्पष्टता के प्रतिपादन हेतु पुनर्न्यास-पुनः पोषण करना ही समाहिति या समाधान है। "अर्थात् मूल कारण बीज के स्पष्टता हेतु-पुनर्न्यास-'भणिति वैचित्र्य सम्यगासमन्ताद् धानं पोषणं समाहिति।" संक्षेप में उपक्षिप्त बीज का फिर स्पष्टरूप से—(कुछ विचित्र कथन द्वारा) आधान-पोषण करना ही समाहिति है। विश्वनाथ व धनञ्जय ने इसे "समाधान" कहा है।

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

(नेपथ्ये) भो भोः, ! द्रुपदविराटप्रभृतयः ! कौरवचमूप्रधानाश्च योद्धारः ! श्रूयताम्—

"यत् सत्यव्रतभङ्ग भीरुमनसा यत्नेन मन्द्रीकृतं" इत्यादि क द्वारा "स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्टाः ?" इत्यादि आदि बीज का प्रधान नायकाभिमत रूप से पुष्टि की है, अतः यह समाहिति या समाधान है ॥४३॥

उद्भेद का लक्षण

स्वल्प प्ररोह उद्भेदः,

अनुवाद—(आमुख के बाद) उपक्षिप्त बीज का कुछ फलानुष्ठानानुकूल-प्रदर्शन-अर्थात्-प्रधानोपाय-बीज का अपने अनुकूल किञ्चित् फल के लिए प्रवण-अग्रसर होना ही उद्भेद है ॥

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

"नाथ ! पुनरपि त्वयाऽऽगत्याहं समाश्वासयितव्या" इस प्रकार—द्रौपदी के कहने पर भीम की यह उक्ति-प्रतिजात-कुरुकुल-निधन-रूप फल की ओर प्रवण—अभिमुख होने से उद्भेद है—

भूयः परिभवक्लान्ति लज्जाविधुरिताननम् ।
अनिः शेषित कौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

यहाँ वैर निर्यातन रूप—कुलकुरूनिधनारम्भरूप बीजार्थ का उद्भेद है ॥५॥

किन्हीं आचार्यों के मत में—

गूढ़ भेदन ही उद्भेद है— जैसा कि **दशरूपक** में धनञ्जय ने लिखा है— "उद्भेदो गूढ़भेदनम्", अर्थात्—(बीज के अनुकुल) किसी गूढ़ बात को प्रकट करना ही उद्भेद है।

जैसे—**रत्नावली** नाटिका में—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वत्सराज कामदेव के बहाने से छिपा था, पुनः "अस्तापास्त······इन्दोरिवोद्-वीक्षते" इत्यादि वैतालिक वचन द्वारा प्रकट करा देना ही उद्भेद् है।

करण का लक्षण

करणं प्रस्तुत क्रिया।

अनुवाद—अवसरानुकूल-प्रस्तुत-कार्य का प्रारम्भ ही करण है।

जैसे वेणीसंहार नाटक में—"देवि! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय"

प्रस्तुत-कार्य-कुरु कुल क्षय-के प्रारम्भ का कथन होने से यह करण अङ्ग है॥

विलोभन का लक्षण

विलोभनं स्तुतेर्गार्ध्यम्

अनुवाद—स्तुति-गुणवचन-या गुणों के कीर्तन द्वारा प्रस्तुत कार्य में अभिरुचि उत्पन्न करना विलोभन कहलाता है।

जैसे **वेणीसंहार** नाटक में—

"चंञ्चद्भुजभ्रमित" इत्यादि श्लोकोच्चारण के बाद "नाथ! किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन तदनुगृह्णातु एतद् व्यवसितं देवताः"। इत्यादि द्वारा सुयोधन वध की प्रशस्ति करके उसमें भीम की अभिरुचि उत्पन्न करना विलोभन नामक मुख सन्धि का अङ्ग है।

भेद का लक्षण

भेदनं पात्रनिर्गमः॥४४॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च में प्रविष्ट पात्रों का वहाँ से निर्गम-बाहर होना ही भेद है। पात्रों का अपने-अपने प्रयोजनवश रङ्ग में प्रवेश होता है, पुनः किसी अभिप्राय विशेष से या अन्य व्यापार विशेष से रङ्गमञ्च से पुनः निर्गम ही भेद है।

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

द्रौपदी के द्वारा-रण क्षेत्र में बहुत-सी बाधाओं से सावधान किये जाने पर भीम का "सङ्ग्रामे कार्णवान्त पयसि विचरितुं पण्डिवा-पाण्डुपुत्राः" इत्यादि द्वारा संग्रामा-वतरणाभि-प्राय विशेष से रङ्ग से निर्गम भेद है। कुछ आचार्यों ने—जैसे धनञ्जय इत्यादि ने "प्रोत्साहना" को भेद माना है। और **साहित्यदर्पणकार** कविराज विश्वनाथ ने "भेदः संहति भेदनम्" कहकर संहत-प्रतिपथ-जो बीज-के फलोत्पत्ति के निरोधक हैं। अथवा—संहति-सङ्घात एक धर्म से जो सम्मिलित हैं। उनका-भेदन-संघात से **पृथक्करण को कहते हैं॥४४॥**

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रापण-या प्राप्ति का लक्षण

प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः

अनुवाद—(बीज-प्रधानोपाय के सम्बन्ध से) सुख या सुख के साधनों का गवेषणापूर्वक प्राप्त होना ही प्रापण या प्राप्ति है।

जैसे—वेणीसंहार नाटक में—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्"। इत्यादि भीम वचन सुनकर—

"नाथ अश्रुतपूर्वं खाल्विदं वचः, तत् पुनः पुनर्भण" इस प्रकार—द्रौपदी को भीम वाक्य द्वारा सुखहेतुता या सुख की प्राप्ति हो रही है।"

अतः यह प्रापणनामक अङ्ग है।

युक्ति का लक्षण

युक्ति कृत्यविचारणा।

अनुवाद—विचारणा-गुण व दोषों का विचार करके, कार्य का पर्यालोचन या निश्चय करना युक्ति है।

जैसे—उदात्तराघव में—

लक्ष्मण भरत के लोभ व कैकेयी के मोहादि दोषों का विवेचन करते हुए राम के वनवास में केवल वक्र-विधाता का ही हाथ है, इस प्रकार का निश्चय करता है।

किं लोभेन विलङ्घित स भरतो येनैतदेवं कृतं।
मा मा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा॥

मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरुः।
माता तात कलशयित्यनुचितं मन्ये विधाया कृतम्॥

(गुण-दोष-विवेकतः कार्य पर्यालोचनम्-विचारणा)

विधान के लक्षण

विधानं सुख-दुःखाप्तिः,

अनुवाद—एक या अनेक पात्रों को सुख व दुःख दोनों की प्राप्ति, अथवा केवल सुख या केवल दुःख की प्राप्ति को विधान कहते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे —मालतीमाधव नाटक में—

माधव-मालती के सन्निधानावस्था को अमृत सेवन की तरह सुखरूप मानता है, और उसके असन्निधानावस्था-वियोग में जलते हुए अङ्गारों संयुक्त सहत्र हृदय होने से दुख का अनुभव करता रहा है। यहाँ एक ही पात्र माधव में सुख व दुःख की प्राप्ति होने से विधान है। मालतीमाधव नाटक का पद्य इस प्रकार है—

यद् विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्,
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयम्।
अङ्गारचुम्बितामिव व्यथमानमास्ते॥

परिभावना का लक्षण

विस्मयः परिभावना ॥४५॥

अनुवाद—अतिशय जिज्ञासा द्वारा —(यह क्या है) इस प्रकार का कौतुक पूर्ण विस्मय ही परिभावना है।

जैसे नागानन्द नाटक में मलयवती को देख कर नायक—(जीमूत वाहन) की जिज्ञासापूर्वक कौष्कपूर्ण यह उक्ति परिभावना है—

स्वर्गस्त्री यदि तत् कृतार्थमभवच्चक्षु सहस्रं हरेः।
नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः सति।
जातिर्न सकलाऽन्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं।
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः॥४५॥

ये बारह मुख सन्धि के अङ्ग हैं॥

अब प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों का वर्णन करते हैं—

विलासो धूननं रोधः, सान्त्वनं वर्णसंहृतिः।
नर्म नर्मद्युतिस्तापः, स्युरेतानि यथारुचि ॥४६॥
पुष्पं प्रगमनं वज्रम्, उपन्यासोपसर्पणम्।
पञ्चावश्यमत्रा(प्य)ङ्गानि प्रतिमुखे त्रयोदश ॥४७॥

अनुवाद—ये तेरह प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं। इनमें से प्रारम्भ के ये आठ-विलास, धूनन, रोध सान्त्वन, वर्णसंहृति, नर्म नर्मद्युति, ताप, नाट्य-वृत्त की विचित्रता के लिए यदि आवश्यक हों तो ग्राह्य हैं, अन्यथा नहीं।

परन्तु—पुष्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास व उपसर्ग ये पाँच प्रतिमुख सन्धि में अवश्य होने चाहिए।

विलास का लक्षण

विलासो नृस्त्रियोरीहा,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद –नर व नारी के (नायक व नायिका के) परस्पर अनुराग को विलास कहते हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे और स्पष्ट किया है --

"रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो योगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा, तदर्था समीहा विलासः।"

जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल के मुख सन्धि में उपलब्ध नायिका शकुन्तला का प्रतिमुख सन्धि में तद्विषयक नायक दुष्यन्त का अभिलाष दिखलाया गया है—

"कामं प्रिया न सुलभा—यहां से प्रारम्भ कर (स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्राय-सम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विप्रलभ्यते कुतः—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत् प्रेरयन्त्याऽनया ……।

तत्सर्वं किल मत्परायणमहो? कामः स्वतां पश्यति ॥

इत्यादि से राजा का शकुन्तलाविषयक अभिलाष-विलास है।

धूनन का लक्षण

धूननं साम्न्यनादरः।

अनुवाद—साम--अनुनयादि में कुछ अनादर दिखलाना धूनन है।

जैसे—**पार्थविजय** नामक नाटक में —चित्रसेन के द्वारा दुर्योधन के पकड़े जाने पर युधिष्ठिर उसे छोड़ देने के लिए भीम के प्रति कहते हैं—

अयं स कालः शूराणां, खिन्नानां यत्र बन्धुषु।
आपद्गतपरित्राणम्, अपूर्वोऽनुनयक्रमः॥

भीमसेन दुर्योधन के प्रति युधिष्ठिर के इस अनुनय को स्वीकार न करता हुआ कहता है—

"कोऽयमनेकविधापकारकारिणः कौरवानुद्दिश्यार्यस्यार्द्रभावाः" इति। इस प्रकार युधिष्ठिर सम्बन्धी दुर्योधन विषयक अनुनय का भीम द्वारा अनादर धूनन है। 'केचिद् धूननमरतिमाहुः, तच्चरोधेनैव सङ्गृहीतमिति।"

रोध का लक्षण

रोधोऽर्त्तिः

अनुवाद—इष्टरोधात्—अभीष्ट वस्तु के न मिलने से जो अर्त्ति-खेद-दुःख होता है, वही रोध है।

जैसे—सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में—राजा सुतारा को घर पर ही रखना चाहते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं, क्योंकि वह वन विचरण के उस कठोर-श्रम से अनभिज्ञ है, परन्तु वह स्वीकार नहीं करती है—

यहां राजा के अभिमत-रोध-जन्य अर्ति से यह रोध नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है—

राजा—देवि ! अवलम्बस्व मद्वचनम्, अत्रैव तिष्ठ, अशिक्षितपादचारा न ······वनवसुन्धरासु ।

सुतारा—यद् भवति, तद् भवतु अहं गमिष्यामि ।

सान्त्वन का लक्षण

सान्त्वनं साम,

अनुवाद—साम—सामोपाय द्वारा—कुछ के प्रति अनुनय करना ही सान्त्वन है ।

जैसे रामाभ्युदय नाटक के द्वितीय अङ्क में मारीच के प्रति कुछ रावण के लिए प्रहस्त का अनुनय विनय—

"प्रहस्तः=(पादयोर्निपत्य) प्रसीदतु प्रसीदतु महाराज ! नेदमनुरूपं स्वामिनः, देव !

लोकत्रयक्षयोद्वृत्त-प्रकोपाप्रसरस्य ते ।
ईदृशश्चन्द्रहासस्य, भृत्येष्वनुचितः क्रमः ॥

(पुनः क्रमदाह) देव ! प्रसीद, प्रणयादतिक्रमोऽस्य न वामतयया ॥"

वर्णसंहति का लक्षण

पात्रौघो वर्णसंहतिः ॥४८॥

अनुवाद—पृथक्-पृथक् स्थित पात्रों का कार्य-विशेष से एकत्र सम्मिलन वर्ण कहा जाता है, उन सभी वर्णों का अर्थात् नायक-प्रतिनायक-नायिका आदि सभी सहायक पात्रों का संहति=एकीकरण या एकत्र सम्मिलन ही वर्णसंहति है ।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—

राजा—सुसङ्गते ! "क्वासौ-क्वासौ' यहां से आरम्भ कर—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येषः स्वेदच्छद्मामृतद्रवम् ॥

यहां राजा सागरिका, विदूषक-सुसङ्गता आदि का एकत्र सम्मिलन होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नर्म का लक्षण

क्रीडार्थं हसनं नर्म,

अनुवाद—क्रीड़ा, हास-परिहास के लिए हसना ही नर्म है।

जैसे रत्नावली नाटिका में राजा विदूषक व लम्बस्तनी के वार्तालाप के प्रसङ्ग में परिहास-पेशल विदूषक के वचन नर्म हैं—

"राजा—लम्बस्तनि! इदमासनमास्यताम्।

विदूषकः—भो राजन्! अहमेतस्मात् स्थानादुत्थास्यामि।

राजा—किमिति—

विदूषकः—यद्येषा स्थूलमहिषी कटितटं नर्तयन्ती ममोपरि पतेत्, तथा ध्रुवं मां मारयेत्" इत्यादि।

नर्मद्युति का लक्षण

दोषावृतौ तु तद्द्युतिः।

अनुवाद—दोषाच्छादन हेतु जो पुनः हसन या नर्मवाक्य या उस नर्म-हास का द्योतन हो उसे नर्मद्युति कहते हैं।

जैसे वहीं—रत्नावली नाटिका के उसी प्रसङ्ग में विदूषक व राजा का संवाद—

"विदूषकः—भोः! अद्याप्येषा चतुर्वेदीव ब्राह्मण ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।

राजा—वयस्यः! किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितम्, तत् किमनयोक्तम्?

विदूषकः—भो! एतदेतया पठितम्—

"दुर्लभ जनानुरागो, लज्जा गुर्वी परवश आत्मा!
प्रियसखि विषमं प्रेम, मरणं शरणं केवलमेकम्।

राजा—महाब्राह्मण, कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञः? इति।"

यहां मूर्खता दोष को आच्छादित करने के लिए विदूषक के जो वाक्य हैं, वे राजा के हास्य द्योतक या हास्य हेतु होने से, नर्मद्युति हैं।

ताप का लक्षण

अपायदर्शनं तापः,

अनुवाद—अपाय (विघ्न बाधाओं से अनिष्ट) दर्शन ही ताप है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे—पार्थ-विजय नामक नाटक में—युधिष्ठिर-दुर्योधन के अन्तःपुर में अनिष्ट की आशङ्का करते हुए कहते हैं—"वत्स ! स्वगोत्रपरिभवाविष्कारनिष्ठुरः शब्दः । अद्याप्यभ्रान्त एवाऽसि । कः कोऽत्र भो चापम् चापम्"—इत्यादि से अपाय-अनिष्टदर्शन निमित्त ताप को दिखलाया है ।

पुष्प का लक्षण

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥४६॥

अनुवाद—पूर्व प्रयुक्त वाक्य की अपेक्षा विशिष्टतया उक्त वाक्य को पुष्प कहते हैं। (केशरचना में जैसा पुष्प अलङ्कार का काम करता है, उसी प्रकार यह विशेष वचन भी पूर्णवाक्य का अलङ्कार होता है, अतएव इसे पुष्प कहते हैं।

जैसे—सत्य हरिश्चन्द्र नामक नाटक में—वसुभूति राजा के प्रति रोष करता हुआ कहता है कि यह तो तपस्या के छदम मे छिपा हुआ कोई तुम्हारा दुरदृष्ट ही है, तुम इससे क्यों दान की प्रतिज्ञा कर रहे हो ।

"वसुभूतिः—(सरोसं राजानं प्रति)

न नामस्युः स्वर्ण-क्षिति-सुतकलत्राणि यतिनाम् ।
तदस्मै यद् दत्तं तदिह निखिलं भस्मनि हुतम् ॥
विहाय व्यामोहं विमृश विमृशाद्यापि नृपते ।
तपोव्याजच्छन्नं किमपि नियतं दैवतमिदम् ॥१॥

(कुलपतिः)—(सोपहासम्) अरे मुखर ! सचिवापसद् ! चिराद् यथार्थमभिहितवानसि, दुस्तपस्तेपः करकलितस्वर्गापवर्गशर्मणो मर्त्यापदेशेन दैवतान्येव मुनयः ।"

यहां वसुभूति के वाक्य की अपेक्षा उत्तर वाक्य सार्थक होने से विशेषवत् है, अतः यहां नर्मद्युति है ।

प्रगमन् का लक्षण

प्रगमः प्रतिवाक्-श्रेणिः,

अनुवाद—प्रश्न के विपरीत वचन को प्रतिवाक् या उत्तरवचन कहते हैं, उसकी श्रेणी पंक्ति रूप में जो प्रश्नोत्तर वचन हैं उन्हें प्रगमन कहते हैं । वे प्रश्नोत्तर कहीं अपकर्ष से होते हैं, और कहीं उत्कर्ष से ।

जैसे—विक्रमोर्वशीय नाटक में—

"उर्वशी—जयतु-जयतु महाराज !

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजा—मया जितं यस्य नाम त्वयो जय उदीय्यंते, इत्यादि।

वज्र का लक्षण

वज्रं प्रत्यक्षककंशम्।

अनुवाद—निष्ठुर होने के कारण प्रत्यक्ष-रूप वाक्य को वज्र कहते हैं।

जैसे वेणीसंहार नाटक में—अश्वत्थामा के वाक्य कर्ण के प्रति अतिनिष्ठुर होने से वज्र हैं—

"अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य) रे, रे, राधागर्भभारभत ! सूतापसद !" इत्यादि।

उपन्यास का लक्षण

उपपत्तिरुपन्यासः,

अनुवाद—किसी कार्य को सम्पन्न करने की जो युक्ति है, उसी को उपन्यास कहते हैं। साहित्य दर्पणकार ने "उपन्यास प्रसादनम्" ऐसा उपन्यास का लक्षण करके पुनः 'केचित्तु' कहकर—"उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासः स कीर्तितः" ऐसा लिखा है। यह लक्षण प्रस्तुत ग्रन्थकारों के लक्षण से मिलता-जुलता-सा है—

रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क से इसका उदाहरण दिया है—

"विदूषक :—"अतिमुखरा खलु एषा गर्भदासी" इति

यहाँ सुसङ्गता के लिए गर्भदासी का यह प्रयोग उसके मुखरत्व में युक्तियुक्त ही है।"

अनुसर्पण का लक्षण

नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम् ॥५०॥

अनुवाद—पहिले उपलब्ध हुए पुनः अन्तरित हुए ऐसे इतिवृत के प्रधानोपाय बीज का जो अभिलाषा पूर्वक-अन्वेषण-उसे अनुसर्पण कहते हैं।

जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल में—

पूर्ण दृष्ट शकुन्तला के सौन्दर्य से मुग्ध हुए दुष्यन्त का मध्य में लतावलमवेष्टित निकुञ्ज में अन्तरित हुई शकुन्तला का अभिलाषा पूर्वक अन्वेषण अनुसर्पण है।

राजा भवितव्यम्'''तथाहि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढ़ा जघनगौरवात् पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिः दृश्यतेऽभिनवा॥ इत्यादि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ये प्रतिमुख सन्धि के तेरह अङ्ग हैं ।।५०।।

अब गर्भ-सन्धि के अङ्गों का निर्देश करते हैं—

संग्रहो रूपमनुमा, प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः ।
उद्वेगो विद्रवश्चैतद्, गुणतः कार्यमष्टकम् ।।५१।।
आक्षेपोऽधिबलं मार्गोऽसत्याहरणतोटके ।
पञ्चैतानि प्रधानानि, गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ।।५२।।

अनुवाद—इन त्रयोदश गर्भ-सन्धि के अङ्गों में—पूर्वाङ्ग—सङ्ग्रह से लेकर विद्रव तक गौण हैं, अर्थात् अप्रधान हैं।

या गुणतः—गुणभावेन—गुणमुपकारमपेक्ष्य, गुणभाव से या किसी उपकार की दृष्टि से इनकी गणना या उल्लेख नाटक में करना चाहिए। परन्तु, फलोद्भेद—फल के प्रकट-रूप में प्रदर्शन हेतु संग्रह का निबन्धन आवश्यक है। और ये पांच आक्षेप से लेकर तोटक तक के अङ्ग मुख्य हैं ।।५२।।

अब प्रत्येक का लक्षण करते हैं—

संग्रहः का लक्षण

संग्रहः साम-दानादिः,

अनुवाद—(प्राप्त्याशा से सम्बन्ध)—प्रसङ्ग में साम व दान—आदि पद से दण्ड-भेद व मायेन्द्र जालादि का ग्रहण करना चाहिए। इनका कथन जिस (गर्भ-सन्धि के) वृत्त में हो उसे संग्रह कहते हैं।

जैसे—रत्नावली में—

"राजा—साधु वयस्य ! इदं ते पारितोषिकम्; (इति कटकं ददाति)"

रूप का लक्षण

रूपं नानार्थसंशयः ।

अनुवाद—अनेक प्रकार के अर्थों के विषय में संशय ही रूप है।

"अनियतो ह्याकारो रूपमुच्यते कृत्यविचाररूपत्वेन नियताकाराया युक्तेरस्य भेदः—"

मुखसन्धि का अङ्ग युक्ति कार्य-विमर्श के प्रसङ्ग में नियतरूप वाली है और यह रूप अनियतरूप वाला है, यही इन दोनों में अन्तर है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धनञ्जय व विश्वनाथ दोनों ने रूप का लक्षण "वितर्कवद् वाक्यम्" ऐसा किया है। कुछ लोग—"चित्रार्थरूपकं वचः" ऐसा रूप का लक्षण करते हैं।

जैसे—कृत्याराबण नामक नाटक में—

राम जटायु को न जानते हुए, उसके विषय में अनेक प्रकार का संशय करते हैं—

"गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य निर्लूनपक्षः,
कृतरिपुरसुरेशैः शातितो वैनतेयः।
अपरमिह मनो मे य पितुः प्राणभूतः,
किमुत बत स एष निर्गतायुर्जटायुः॥"

गायकवाड़ ओरिन्टियल सीरीज से प्रकाशित पुस्तक में अन्तिम चरण का पाठ कुछ त्रुटित है, जिसका आकार इस प्रकार है—

"किमुत वत स एषव्यते (पे?ती) तायुर्जटायुः।"

अनुमान का लक्षण

अनुमा निश्चयो लिङ्गात्,

अनुवाद—लिङ्गात्—हेतु के द्वारा (किसी चिह्न से) लिङ्गिनः- कार्य का (किसीबात का) निश्चय करना अनुमान कहलाता है। अनुमान निश्चयरूप होने से वितर्करूप (उहरूप) युक्ति से इसका भेद है—

जैसे—भासकविकृत स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक में वत्सराज उदयन कुम्हलाये हुए पुष्पों व गरम शिलातल रूप चिह्न से किसी (नायिका विशेष) के आगमन का अनुमान करता है—

"पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥"

इस पद्य में पूर्वार्ध लिङ्ग है, उत्तरार्ध अनुमान।

प्रार्थना का लक्षण

प्रार्थना भावयाचनम् ॥५३॥

अनुवाद—भावानाम्—मुख्य फलों के उचित अनुराग-हर्ष-उत्सवादि की याचना ही प्रार्थना है।

जैसे—देवी चन्द्रगुप्त नाटक के चतुर्थ अङ्क में—"प्रिये माधवसेने!" इत्यादि द्वारा रति-अमुराग की याचना करता है। कुछ लोग अभ्यर्थनामात्र को प्रार्थना कहते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं, और कुछ लोग नाट्य-सन्धि के इस अङ्ग को अत्यन्त प्राचीन मानकर छोड़ देते हैं। ऐसा विवरणकारों ने लिखा है—

"केचिदभ्यर्थनामात्रं प्रार्थनामाहुः।
केचित्तु प्राक्तनमिदं चाङ्गं न मन्यन्ते" ॥५३॥

उदाहरण का लक्षण

उदाहृतिः समुत्कर्षः,

अनुवाद— लोक प्रसिद्ध वस्तु की अपेक्षा जो समुत्कर्ष— अर्थात् उत्कृष्ट-अर्थ, उसका आहरण-कथन ही उदाहृति है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—

राजा अन्य धनुर्धारियों की अपेक्षा कन्दर्प की उत्कृष्टता दिखलाते कहता है, इसने स्वभाव-चपल, दुर्लक्ष्य-मन को एक साथ सभी बाणों से विद्ध(घायल) कर दिया।

मनः प्रकृत्यैव चलं, दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
कामेनेदं कथं विद्धं, समं सर्वैः शिलीमुखैः॥

क्रम का लक्षण

क्रमो भावस्य निर्णयः।

अनुवाद—भावस्य—पराभिप्राय का अथवा भाव्यमान अर्थ का प्रतिभा के बल से निर्णय करना ही क्रम है।

जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल में—

निरन्तर—भाव्यमान—सोची हुई वस्तु—शकुन्तला के विषय में तत्त्व की उपलब्धि—उसके अभिप्राय का निर्णय कर लेता है। अतः यहाँ क्रम है—

"राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण-चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। तथाहि—

"उन्नमितैकभ्रूलतयस्याः पदानि रचयन्त्याः।
पुलकाञ्चितेन कथयति, मय्यनुरागं कपोलेन॥

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का लक्षण उक्त लक्षण से मिलता-जुलता-सा है-—"भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्" यह इनका लक्षण है। भाव का अर्थ इनके टीकाकारों ने भावस्य-निर्विकारचित्तस्य-प्रथमविकृतिरूपस्य, ऐसा किया है, यह करीब-करीब "भाव्यमानस्यार्थस्य" से या "पराभिप्रायस्य" से मिलता-जुलता ही है, स्वयं विश्वनाथ ने भी भाव का लक्षण इसी प्रकार किया है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"निर्विकारात्मके चित्ते भाव. प्रथम विक्रिया:"

उद्वेग का लक्षण

उद्वेगो भीः ।

अनुवाद—चौर-नृप-नायिकादियों से जो भय, उसे उद्वेग कहते हैं।

धनञ्जय ने भी 'उद्वेगोऽरि कृता भीतिः' इसी प्रकार का लक्षण किया है—

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक के पांचवें अङ्क में—नेपथ्य से महान् कोलाहल सुनाई देता है—

"भोः भोः ! दुर्योधनानुजीविनः कौरवभटाः, किमिदमस्मद् भयादयथायथं सञ्चरन्ति भवन्तः ?" इत्यादि ।

विद्रव का लक्षण

द्रवः शङ्का

अनुवाद—भय व भास कारक वस्तु से जो शङ्का-घवराहट—उसी को द्रव कहते हैं, "द्रवति श्लीथीभवति हृदयमनयेति द्रवः" उपस्थित भय=उद्वेग है, और उसकी सम्भावना विद्रव है—

जैसे—**कृत्यारायण** नामक नाटक के षष्ठ अङ्क में —शान्ति भवन में स्थित रावण को प्रतीहारी कहती है—

"भर्तः ! अन्तःपुरे महान् कलकलः श्रूयते ।

रावणः—ज्ञायतां किमेतदिति ।"

यहां पर त्रासकारक अन्तःपुर के कलकल से रावण को आशङ्का है, अतः यह विद्रव है। जो लोग—धनञ्जयादि "शङ्काभासौ च संभ्रमः" कहकर—संभ्रम का अङ्ग मानते हैं; उनका संभ्रम —विद्रव व उद्वेग में गतार्थ हो जाता है, जैसा कि विवरण में लिखा है—"ये त्वत्र शङ्कां त्रासरूपं ससम्भ्रममङ्गमाहुः, तद् विद्रवोद्वेगाभ्यां गतार्थमिति" ।

आक्षेप का लक्षण

आक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥५४॥

अनुवाद—(प्राप्त्याशावस्था निबद्ध) मुख्य प्रयोजनोपाय—बीज का अच्छी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तरह प्रकाशन ही आक्षेप है। अथवा—हृदयभूमि में निहित बीज के समान जो गूढ़ अभिप्राय विशेष—उसका प्रकाशन ही आक्षेप है।

किसी रहस्यार्थ का आविष्कार—

जैसे—वेणीसंहार नामक नाटक में अश्वत्थामा की यह उक्ति—कि एक ही केश-ग्रह (द्रौपदी के केश पकड़ने) का जब संसार में इतना भयङ्कर परिणाम (कौरव-पाण्डवों का भीषण युद्ध) हो रहा है, अब द्वितीय केश-ग्रह (अर्थात् मेरे पिताजी द्रोणाचार्य के केश पकड़कर मारने का) में तो संसार का नामों निशां न रह जाएगा, इस गूढ़ अभिप्राय को प्रकट करता हुआ कहता है—

एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन् नूनं निःशेषिताः प्रजाः ॥

अधिछल या अधिबल का लक्षण

अधिछलं छलाधिक्यम्

अनुवाद—परस्पर वञ्चन में, बुद्धि आदि की सहायता से निष्पन्न जो कार्य-उसमें अधिक छल का योग होने से उस कर्म को अधिछल या अधिबल कहते हैं।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—क्रमशः सागरिका व सुसङ्गता का वेष धारण करने वाली वासवदत्ता व काञ्चनमाला के द्वारा राजा व विदूषक की वञ्चना का कर्म अधिछल या अधिबल है—

"किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा" इत्यादि पाठान्तर राजा-सागरिका रूप में स्थित, वासवदत्ता का मुख खोलने के बाद प्रत्यभिज्ञान करता है।

मार्ग का लक्षण

मार्गस्तत्त्वार्थशंसनम्।

अनुवाद—सामान्येन कहा गया परमार्थ वचन जहां प्रकृत विषय में भी सम्बद्ध हो उसे मार्ग कहते हैं।

जैसे—मुद्राराक्षस नामक नाटक में—

राजा एक सामान्य तथ्य राज्य के विषय उपस्थित करता है—"राज्यं हि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाम राजधर्मानुवृत्तिर्दु:खितस्य नृपतेर्महदप्रीति स्थानम्। कुतः—पुनः यह तथ्य प्रकृत में भी सङ्गत हो रहा है। "अपि च दुराराधा लक्ष्मी आत्मवद्भी राजभिः"

"श्री लब्धप्रसरेव वेशवनिता दु:खोपचर्या भृशम्।।" इत्यादि द्वारा।

असत्याहरण का लक्षण

असत्याहरणं छद्म,

अनुवाद—छद्म—छलपूर्ण कार्य ही असत्याहरण है।

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

युधिष्ठिर के द्वारा जोर से अश्वत्थामा का उच्चारण करके धीरे से गज ऐसा छलपूर्ण कार्य ही असत्याहरण है—

"अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा।
स्वैरं शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा।।" इत्यादि।

तोटक का लक्षण

तोटकं गर्भितं वचः ।।५५।।

अनुवाद—क्रोध-हर्षादि-समुत्पन्न आवेग से गर्भित-समन्वित वचन ही तोटक है।

जैसे—**चण्डकौशिक** नामक नाटक में—

क्रोध-हर्षादि वेग में आए हुए विश्वामित्र का राजा के प्रति यहं वचन—

"आः पुनः कथमद्यापि न सम्भूता स्वर्णदक्षिणाः ?"

ये त्रयोदश गर्भ-सन्धि के अङ्ग हैं।।

अब विमर्श या आमर्श सन्धि के अङ्गों की व्याख्या करते हैं—

द्रवः प्रसङ्ग सम्फेटोऽपवादश्छादनं द्युतिः।
खेदो निरोधः संरम्भः, भवेयुर्गुणतो नव ।।५६।।
शक्तिः प्ररोचनाऽऽदान-व्यवसायास्तु मुख्यतः।
त्रयोदशाङ्गान्यामर्शे

अनुवाद—द्रव से लेकर संरम्भ तक ये नौ अङ्ग किसी प्रयोजन विशेष से ही अप्रधान रूप से निरूपणीय हैं ।।५६।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शक्ति, प्ररोचना, दान व व्यवसाय, इन चारों का विमर्श सन्धि में प्राधान्येन निरूपण होता है।

द्रव का लक्षण

द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ।।५७।।

अनुवाद—पूज्यजनों का व्यतिक्रम-तिरस्कार द्रव कहलाता है।

जैसे—**रत्नावली नाटिका में—**

सन्निहित वत्सराज की अवहेलना कर विदूषक व सागरिका का वासवदत्ता द्वारा बन्धन।

अथवा—उत्तररामचरित में—

"वृद्धास्ते न विचारणीय चरिता,

तिष्ठन्तु हुं वर्त्तते ।।"

इत्यादि वाक्यों द्वारा लव मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी के विषय में आक्षेप करता है ।।५७।।

प्रसंग का लक्षण

प्रसङ्गो महतां कीर्त्तिः,

अनुवाद—पूज्यजनों की कीर्ति—प्रशंसा या गुरुजनों (माता-पिता आदि) का कीर्तन-नामोच्चारण प्रसङ्ग है ।।

जैसे—**वेणीसंहार नाटक में—**

"युधिष्ठिर :—(मुखं प्रक्षाल्योपस्पृश्य च) एष तावज्जलाञ्जलिर्गाङ्गेयाय गुरवे प्रपितामहाय शान्तनवे। अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय।(सास्रम्) तातस्याधुना अवसरः। अयमपि तत्रभवते स्वर्गस्थिताय गुरवे सुगृहीतनामधेयाय पित्रे देवाय पाण्डवे।"

विवरण में "केचिद्—अप्रस्तुतार्थवचनं प्रसङ्गमिच्छन्ति" कहकर मतान्तर का भी निर्देश किया है—

इनके मत में—**वेणीसंहार में—**

माया-तपस्वी राक्षस के मिथ्या भीम-वध के कथन से युधिष्ठिर-विषयक-अप्रस्तुत शोक-प्रसङ्ग है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्फेट का लक्षण

सम्फेटः क्रोधजं वचः ।

अनुवाद—परस्पर क्रोधजन्य—उत्तर प्रत्युत्तर रूप संवाद ही सम्फेट है ।

जैसे—वेणीसंहार नाटक में—

राजा—अरे रे मरुत्तनय ! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमत्यात्मकर्मं श्लाघसे ? शृणु रे ! "कृष्टा केशेषु भार्य्या तव" इत्यादि कथयति ।

भीमः—(सक्रोधं) "आः पाप !" इत्यादि ।

अपवाद का लक्षण

अपवादः परीवादः,

अनुवाद—परीवाद—स्वपरदोषोद्घाटन ही अपवाद है, जैसा कि धनञ्जयादिकों ने भी कहा है "दोष प्रख्यापवाद स्यात्" इत्यादि ।

जैसे—रघुविलास नामक नाटक के सप्तम अङ्क में—रावण के प्रति मारीच कहता है—

खण्डय न्यायतेजोभिः, शूर ! कौलीनदुर्दिनम् ।
अनीति-धूमरी हन्ति, यशश्चूताम्रमञ्जरी ॥१॥

यहां पर दोषोद्घाटन होने से अपवाद है ।

छादन का लक्षण

छादनं मन्युमार्जनम् ॥५८॥

अनुवाद—मन्यु—अपमानादि का जिससे परिहार किया जाय उसे छादन कहते हैं ।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—

"सागरिका—दिष्ट्या प्रज्वलितो भगवान् हुताशन्नोऽद्य करिष्यति मे सकलदुःखावसानमिति ।"

कुछ लोग—कर्तव्य-कार्य के लिए असह्य, (अपमानादि) के सहन को छादन कहते हैं । जैसा कि विवरण में लिखा है—

"अन्ये तु कार्यार्थमसह्यस्याप्यर्थस्य सहनं छादनमामनन्ति ।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अन्ये त्वस्य स्थाने—छलनमवमाननरूपमाहुः=यथा रामाभ्युदये, सीतायाः परित्यागेन अवमाननम्-छलनम् ।" यह मत दशरूपककार धनञ्जय का है।

"अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति" इत्यादि मत विवरणकारों ने दिए हैं ।

द्युति का लक्षण

तिरस्कारो द्युतिः

अनुवाद—तिरस्कारपूर्ण वचन को द्युति कहते हैं। धनञ्जय व विश्वनाथ—तर्जन व उद्वेजन पूर्ण वचन को द्युति मानते हैं ।

अपरे तु—कुछ लोग तो "तर्जनाघर्षणे द्युति मन्यन्ते' । विवरणकार लिखते है कि "तदेतन्मतद्वयमप्यर्था भेदात् सङ्गृहीतम्, एवमन्यदपि साक्षात् पारम्पर्येण वा न्यक्कारपरं वाक्यं द्युतिरेव ।"

जैसे—कृत्यारावण नामक नाटक में—

मन्दोदरी के प्रति अङ्गद के ये तिरस्कारपूर्ण वचन हैं—

मा गास्तिष्ठ पुनर्व्रज क्षणमितो गत्वा पुनः स्थीयताम् ।
यत्रास्ते भुजवीर्यगर्वितमदो विद्रावणो रावणः ।
मद्बाहुद्वयपञ्जरान्तरगता मूढ़े ! किमाक्रन्दसि ?
सिंहस्याङ्कमुपागतामिव मृगीं कस्त्वां परित्रास्यते ।।

खेद का लक्षण

खेदः, श्रमः काय-मनो-भवः ।

अनुवाद—शारीरिक व मानसिक चेष्टाओं से समुत्पन्न श्रम को खेद कहते हैं ।

जैसे—विक्रमोर्वशीय नाटक में—

पुरूरवा कहता है—

"अहो ! श्रान्तोऽस्मि, भवतु । अस्यास्तावद् गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातं सेविष्ये" इत्यादि में कायिक श्रम है ।

"यद्यपि श्रमोद्वेग-वितर्कादयो व्यभिचारमध्ये लक्षयिष्यन्ते, तथापि रस विशेष पुष्ट्यर्थं सन्ध्यङ्गावसरेऽपि लक्ष्यन्ते—इति ।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यद्यपि श्रमादिकों का व्यभिचारी भावों के वर्णन प्रसङ्ग-में ही निर्देश करना चाहिए था तथापि रस विशेष की परिपुष्टि के लिए यहां सन्धि के अङ्गों के वर्णन प्रसङ्ग में भी इनका निवेश कर देना अनुचित नहीं है।

विरोध का लक्षण

विरोधः प्रस्तुतज्यानिः,

अनुवाद—प्रस्तुत —अभीप्सित कार्य का प्रतिबन्ध या प्रस्तुत कार्य-हानि ही विरोध है। "अन्ये तु खेद-विरोधौ न मन्यते, विद्रव—विचलने तु पठन्ति"

विवरणकारों का कहना है कि कुछ लोग खेद और विरोध के स्थान में विद्रव व विचलन नामक अङ्गों का पाठ करते हैं। जैसे कृत्यारावण नामक नाटक के सप्तम अङ्क में रावण की आज्ञा से भगवान् रामचन्द्र का माया निर्मित (कटा हुआ) सिर सीताजी को दिखलाया। तदनन्तर सीताजी ने अग्नि प्रवेश का निश्चय किया, जैसा निम्न श्लोक में दिखलाया है—

शशिन इव कला दिनावसाने,
कमलवनोदरमुत्सुकेव हंसी।
पतिमरणरसेन राजपुत्री,
स्फुरितकरालशिखं विवेश वह्निम्॥

इस बात को कञ्चुकी लक्ष्मण व विभीषण के प्रति कह रहा है—जिन्हें सीता का प्रत्यानयन (ले आना) अभीप्सित था, अतः सीता के अग्निप्रवेश-निश्चय से प्रस्तुत आनयन कार्य की हानि होने से यह विरोध है।

संरम्भ का लक्षण

संरम्भः शक्तिकीर्तनम् ॥५६॥

अनुवाद—संरब्धानाम्—आवेगपूर्ण पात्रों का परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा अपने सामर्थ्य का ख्यापन ही संरम्भ है।

जैसे—वेणीसंहार नाटक में—भीम व दुर्योधन का सम्वाद। अथवा अश्वत्थामा व कर्ण का सम्वाद।

शक्ति का लक्षण

क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः,

अनुवाद—क्रुद्धस्य—क्रोधित हुए पात्र विशेष का प्रसादनम्—बुद्धि विभवादि से उसको अनुकूल करने को "शक्ति" कहते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथवा—"क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः।

या कुछ (प्रतिपक्षी) का अच्छी तरह विनाश करना शक्ति है।

जैसे—**कृत्यारावण** के सप्तम अङ्क में—

कष्टं भो कष्टम्—

रामेण प्रलयेनैव, महासत्वेन लीलया।
पातितोऽयं दशशिराः, शृङ्गवानिव पर्वतः॥

यहां विरोधी रावण के विनाश से शक्ति नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है। कुछ लोग विरोध प्रशमन को ही शक्ति कहते हैं। अन्य आचार्य शक्ति के स्थान में आज्ञा का पाठ करते हैं।

प्ररोचना का लक्षण

भाविसिद्धि प्ररोचना।

अनुवाद—भावि—भविष्यत् काल में या निर्वहण-सन्धि में होने वाली सिद्धि—किसी कार्य की सम्पन्नता के उपक्रम को "प्रकर्षेण रोच्यन्ते दीप्यन्तेऽनया रूपकार्थं" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्ररोचना कहते हैं।

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

पाञ्चालक पाण्डवों के विजय के उपलक्ष्य में आगे होने वाले माङ्गलिक कार्य का निर्देश करता है—

"पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा, राज्याभिषेकाय ते," इत्यादि संभावी युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के सम्पन्नता की कल्पना करता है।

आदान का लक्षण

फलसामीप्यमादानम्,

अनुवाद—मुख्य फल का जहां सामीप्य-दर्शन हो उसे आदान कहते हैं।

जैसे—नागानन्द नाटक में—

नायक जीमूत वाहन को उद्देश्य करके गरुड़ कहता है—

नागानां रक्षिता भीतिः गुरुरेष यथा मम।
तथा सर्पाशनाकाङ्क्षा, व्यक्तमद्यापनेष्यति॥

यहां नाग रक्षा लक्षण मुख्य फल का दर्शन होने से आदान सन्ध्यङ्ग है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यवसाय का लक्षण

व्यवसायोऽर्थ्यहेतुयुक् ॥६०॥

अनुवाद—अर्थनीय-फल=अर्थात् अभीष्ट फल का मुख्य फल के हेतु कारण के साथ सम्बन्ध दिखलाना ही व्यवसाय है। अर्थात्—मुख्यफल के निष्पादक-हेतु उपाय का प्रदर्शन ही व्यवसाय है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—

ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर—"एकः पुनः खेलकस्त्वयाऽवश्यं प्रेक्षितव्यः" यहां तक यौगन्धरायण के द्वारा प्रतिभात अर्थ का समागम ही व्यवसाय है ॥

कुछ लोग इन तेरह अङ्गों में से किसी एक अङ्ग को न मानकर अवमर्श सन्धि में बारह अङ्ग मानते हैं ॥६०॥

अब "निर्वहण" सन्धि के अङ्गों का नाम निर्देश करते हैं—

सन्धिर्निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
उपास्तिः कृतिरानन्दः, समयः परिगूहनम् ॥६१॥
भाषणं काव्यसंहार-पूर्वभाव-प्रशस्तयः।
चतुर्दशाङ्गो निर्वाहः,

अनुवाद—निर्वहण सन्धि में ये चौदह अङ्ग आवश्यक हैं।

सन्धि का लक्षण

सन्धिर्बीज-फलागमः ॥६२॥

अनुवाद—मुख-सन्धि में निहित-प्रारम्भावस्था विशिष्ट बीज अपने उत्पत्यादि विकारों से युक्त होकर जब फलागमावस्था से अन्वित होता है, तो उसे सन्धि कहते हैं।

अर्थात्—पूर्वोक्त बीज का उपगमन फलागमावस्था से सन्धान मिलना ही सन्धि है ॥६२॥

जैसे—वेणीसंहार नाटक में—

भीम द्रौपदी को कहता है—

भवति यज्ञवेदिसम्भवे! स्मरति भवती यन्मयोक्तम्—"चञ्चद्-भुज-भ्रमित" इत्यादि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहां मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज का पुनः फलागमावस्था से उपगम-सन्धान उद्भावन किया गया है। अतः यहां सन्धि है ।।

निरोध का लक्षण

निरोधः कार्यमीमांसा

अनुवाद—विनष्ट कार्य का युक्ति पूर्वक अन्वेषण ही निरोध है ।

जैसे —**छलितराम** नामक नाटक में—

लक्ष्मण के द्वारा यज्ञ मण्डप में लाया गया 'लव' सीता की काञ्चन प्रतिमा को देखकर अभिवादन करता है—

"अये कथमियमम्बा राजद्वारमागता ? (उत्थाय सहसोपगत्याञ्जलिं बद्ध्वा) अम्बे ! अभिवादये (निरूप्य) कथमियं काञ्चनमयी (अपसृत्योपविशति, सर्वे परस्परमवलोकयन्ति) ।

रामः—(दृष्ट्वा) वत्स किमिये तव माता ?

लवः—राजन् ! ज्ञायते सैवेयमस्मज्जननी । किन्त्वेषा देवी भूषणोज्ज्वला ।

(रामः सबाष्पं हस्ते गृहीत्वा समीपे उपविशति) यहां नष्ट हुए सीता के जीवन रूप कार्य का युक्ति पूर्वक मीमांसा-अन्वेषण होने से यह निरोध नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।

ग्रथन का लक्षण

ग्रथनं कार्य-दर्शनम् ।।

अनुवाद—कार्यं—मुख्यफल का कथन-व्यापार विशेष से संकीर्तन ही ग्रथन है । "ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति" ।

जैसे—**वेणीसंहार** नाटक में—

"भीमसेनः—पाञ्चालि ! मयि जीवति न खलु संहर्त्तव्या दुःशासन विलुलिता वेणिराल पाणिना । तिष्ठतु-तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि" यहां भीम के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन रूप कार्य का कथन सूचन ही ग्रथन है ।।

निर्णय का लक्षण

निर्णयोऽनुभवख्यातिः,

अनुवाद—ज्ञेय-ज्ञातव्य अर्थ में—सन्दिग्ध या अनभिज्ञ के प्रति जो अनुभूत अर्थ के निर्णय का कथन है उसे निर्णय कहते हैं ।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"ज्ञेयार्थं निर्णयात् निर्णयः ।"

जैसे—यादवाभ्युदय नामक नाटक में—

"समुद्र विजय" के प्रति वासुदेव कहते हैं—"(सप्रमोदम्) देव ! मया कंसप्रतिभयेन कृष्णं गोकुले गोपयता यो महान् क्लेशोऽनुभूतस्तस्य फलमिदानीमभूत् । किन्तु लोकपरिज्ञानभयेन यन्मया देवपादानामपि न विज्ञप्तं, तत्र देवेन क्षन्तव्यम् ।" यहां वासुदेव स्वानुभूत कृष्ण गोपन-क्लेश को समुद्र विजय के लिए बतला रहे हैं, अनुभूत अर्थ का कथन होने से यह निर्णय है ।

परिभाषण का लक्षण

परिभाषा स्वनिन्दनम्।। ६३।।

अनुवाद—अपने अपराध का उद्घाटन, या अपनी निन्दा करना परिभाषण या परिभाषा है। परिभाषा के विषय में अन्य आचार्यों के अनेक व्याख्यान हैं—धनञ्जय—आपस की बातचीत को ही परिभाषा कहते हैं ।—"परिभाषा मिथो जल्पः" इत्यादि । विश्वनाथ—कुत्सित या निन्दित वाक्य के कथन को परिभाषण कहते हैं —"वदन्ति परिभाषणम्, परिवाद कृत वाक्यम् ।।" उद्योतकार—प्रेम-छल या द्वेषपूर्वक वचन को परिभाषा कहते हैं—

"प्रेम्णा द्वेषाच्छलाद्वाऽपि भाषणं परिभाषणम्",

नलविलास नाटक में—दमयन्ती के प्रति नल अपने अपराध का उद्घाटन करते हुए कहता है—

न प्रेम निहितं चित्ते, न चाचार सतां स्मृतः ।
त्यजता त्वां वने देवि ! मया दारूणमाहितम् ।।

रंजक होने से इस अङ्ग का निबन्धन नाटक में अवश्य होना चाहिए ऐसा विवरण कारों का मत है ।

उपास्ति या उपासना का लक्षण

सैवोपास्तिः

अनुवाद—पर प्रसत्ति—दूसरों को या सेव्य को प्रसन्न करने में कारणीभूत व्यापार विशेष सेवा या उपास्ति-उपासना है । जैसे रघुविलास नामक नाटक में—

राम का सीता की प्रसन्नता के लिए जो व्यापर विशेष है वह उपास्ति है—"सौमित्रेः कपिभर्तुरस्य च मनः प्रीत्यै तदेहि प्रिये ! हस्ति स्कन्धमलङ्कुरुस्व ननु ते पूर्ण प्रतिज्ञावधि" ।।इत्यादि।।

विवरणकार लिखते हैं—"अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनितां प्रसत्ति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रसादमङ्गं मन्यन्ते" शायद यह धनञ्जय के इस लक्षण —"प्रसादः पर्युपासनम्" की ओर संकेत है। विश्वनाथ का भी लक्षण इसी प्रकार का है—"शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्" इत्यादि।

कृति का लक्षण

कृतिः क्षेमम्,

अनुवाद—"लब्धस्य परिपालनं क्षेमः।"

प्राप्त वस्तु का परिरक्षण ही कृति है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में—

"वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! दूरेऽस्या ज्ञातिकुलं, तत् तथा कुर्याः, यथा बन्धुजातं न स्मरति।"

यहां प्राप्त **रत्नावली** का स्थिरीकरण ही कृति है।

आनन्द का लक्षण

आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

अनुवाद—(अनेक उपायों द्वारा) अभिलषित अर्थ की (पूर्वरूपेण) प्राप्ति ही आनन्द है। जैसे—**रत्नावली** नाटिका में—

विदूषक—हीं ही भोः ! जयतु भवान्, ननु पृथ्वींदानीं हस्ते भूतैव प्रियवयस्यस्य।

इस प्रकार वाञ्छित राज्य-लाभ आनन्द है।

समय का लक्षण

समयो दुःखनिर्वासो

अनुवाद—दुःख रहित होना ही समय है।

जैसे—**मृच्छकटिक** नाटक में—

पालक की आज्ञा से जब चाण्डाल चारुदत्त को वध्य स्थान में ले जा रहे थे। उसी समय आर्यक व शर्विलक के क्रान्तिकारी आन्दोलनों से सहसा राज्य-परिवर्तन होता है, और चारुदत्त का मित्र आर्यक राजा घोषित हो जाता है; उसी की आज्ञा से शर्विलक चारुदत्त के प्राण बचाने की कोशिश करता है और एकदम उन चाण्डालों का पीछा करते हुए कहता है—"अपयात अपयात जाल्माः ! (दृष्ट्वा सहर्षम्) ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया। सम्पूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः—

दिष्ट्या भो ! व्यसनमहार्णवादगाधाद्,
उत्तीर्णो गुणवृत्तया सुशीलवत्या,
त्वामेवं प्रियतमया युतं समीक्षे।
ज्योत्स्नाऽऽढ्यं-शशिनमिवोपरागमुक्तम् ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ चारूदत्त का दुःख शमन या निर्गमन होने से समय नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

परिगूहन का लक्षण

अद्भुताप्तिः परिगूहनम् ॥६४॥

अनुवाद—विस्मय स्थायिभावात्मक—अद्भुतरस की प्राप्ति ही उपगूहन या परिगूहन है।

जैसे—रामाभ्युदय नाटक में—

"रामेण प्रत्याख्याता सीता ज्वलनं प्रविष्टा
तदनन्तरं नेपथ्ये कलकलः—
ततः प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय वह्निः
सर्वे दृष्ट्वा ससम्भ्रममुत्थाय—
आश्चर्यमाश्चर्यम् ! नमो भगवते हुताशनाय"
इति प्रणमन्ति"

यहाँ अग्नि में प्रविष्ट सीता का पुनः उज्जीवन से अद्भुतरस की प्राप्ति होने से यहाँ परिगूहन या उपगूहन है।

भाषण का लक्षण

भाषणं साम-दानोक्तिः,

अनुवाद—साम-सन्धि व दान पूर्वक वचन को भाषण कहते हैं। साम व दान से उपलक्षित "प्रिय व हित वचन को भी भाषण कहते हैं। जैसे—

मृच्छकटिक नाटक में—

जब आर्यक राज्य सिंहासन में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह अपने मित्र चारूदत्त का उपकार स्मरण करते हुए, प्रत्युपकार रूप में चारूदत्त को फाँसी देने वाले राजा पालक के वध का शुभ सन्देश शर्विलक के द्वारा भेजता है—

"आर्यकराजाज्ञया शर्विलिकश्चारूदत्तमाह—

त्वद्यानं यः समारुह्य, गतस्ते शरणं पुरा ॥
पशुवद् वितते यज्ञे, हतस्तेनाद्य पालकः ॥

इत्यादि साम-दानादि से उपलक्षित यह प्रिय वचन शुभ सन्देश भी भाषण है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्वभाव का लक्षण

प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।

अनुवाद—कृत्य-कार्य-फल का दर्शन (कथन के बिना ही) प्रदर्शन करना पूर्वभाव है। जैसे—रत्नावली नाटिका में—

"यौगन्धरायण—एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।

वासवदत्ता—स्फुटमेव किं न भणसि, प्रतिपादय अस्मै रत्नावलीमिति" इत्यादि में "रत्नावली वत्सराज को दे दी जाये" यह कार्य (फल) जिसे यौगन्धरायण ने अपने ही अभिप्राय में रक्खा है, वासवदत्ता ने पुनः उसका प्रदर्शन कर दिया, अतः यह पूर्वभाव है।

काव्य-संहार का लक्षण

वरेच्छा काव्यसंहारः

अनुवाद—वरेच्छा—अभीष्ट दान की अभिलाषा वरेच्छा है—तज्जनित "किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि" इत्याकारक प्रश्न विशेष ही काव्य संहार है। यह गृहीता के सन्तोष पर और दाता के अत्यन्त दानेच्छा का प्रदर्शन करने के लिए नाटक लिखा जाता है।

जैसे—कृत्यारावण नाटक में—

सीता का संरक्षण रूप प्रिय और हित का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन करने के बाद सन्तुष्ट अग्नि राम से कहते हैं—

"वत्स ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ? रामः—भगवन्नतः परमपि प्रियमस्ति। इति।"

प्रशस्ति का लक्षण

प्रशस्तिः शुभशंसना ॥६५॥

अनुवाद—"जगतः कल्याणा शंसना-प्रशस्तिः।" संसार के कल्याण की कामना ही प्रशस्ति है—इसे नायक या अन्य कोई पात्र नाटक के अन्त में पढ़ते हैं—जैसे कृत्यारावण नामक नाटक में—

"रामः—तथापीदमस्तु—

यद्यद्य मम सम्पूर्णः चिन्तितार्थो मनोरथाः।
एवमभ्यागतो रङ्गः सर्वपापैः प्रमुच्यताम् ॥१॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपि च

> निरीतयः प्रजाः सन्तु सन्तः सन्तु चिरामुषः ।
> प्रथतां कवयः काव्यैः, सम्यग् नन्दन्तु मातरः ॥

नाटक में प्रशस्ति का निबन्धन अवश्य होना चाहिए ॥

इति श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचित नाट्य दर्पण में नाटक निर्णय नामक प्रथम-विवेक ॥१॥

विमर्श:—इस प्रकार पाँच अर्थ प्रकृतियों को पाँच अवस्थाओं से यथाक्रम मिलाने से पांच सन्धियां मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण होती हैं।

किसी भी नाटक के लिए ये पञ्च सन्धि अत्यावश्यक हैं और नाटक को अति रोचक बनाने के लिए इन सन्धियों के अङ्गों का निबन्धन भी परमावश्यक है, जो संख्या में चतुषष्टि—चौसठ है। निर्वहण सन्धि के अवयव 'प्रशस्ति' को इन सन्धियों के अवयव रूप में गणना नहीं करते हैं। अन्यथा पञ्चषष्टि—पेंसठ हो जाते।

इन सभी सन्धियों के अङ्ग सङ्घटना का प्रयोजन—वाञ्छितार्थ विधान, अलौकिक अर्थ की प्राप्ति, इतिवृत्त का अविच्छेद, रसपुष्टि, नाट्य के रहस्यार्थ का गोपन और प्रकाश्य अर्थ का प्रकाशन, यह छः प्रकार का है। खास कर सन्धि के अङ्गों का कार्य-इतिवृत्त की उचित सङ्गति व रस पुष्टि ही है। यदि नायक के उपेयभूत-प्रयोजन में उसके अर्थ सिद्धि हेतु उपाय व इतिवृत्त-विषयक मनोव्यापार-स्वरूप अवस्थाओं से समन्वित नाट्य के प्राणभूत सन्धियों का उन अङ्गों से सम्यक् निबन्धन न हुआ तो, नाट्य के आत्मभूत रसास्वाद में भी विच्छेद आ जाता है। अतः रसैकतान कवि के लिए यह परमावश्यक है कि सहृदयों के हृदयावर्जन के लिए वह सन्धियों के साथ-साथ इन सन्धियों के अङ्गों का औचित्यपूर्ण विश्लेषण करे, अन्यथा नाट्य-नाट्य न होकर केवल इतिवृत्त मात्र रह जायेगा।

रसोन्मीलन दशा में इन अङ्गों का कम महत्त्व नहीं है। यही स्थायी-विभावानुभाव व सञ्चारीभाव का रूप धारण करते हुए रसोन्मेष के कारण बनते हैं। अतः इस निवेशैकव्यवसायी को सन्धि तथा सन्धि के अङ्गों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इन तत्त्वों के उचित विन्यास से ही रसैकतान कवि प्रबन्ध कवि कहा जाता है। इस दिशा में संस्कृत नाट्ककारों में भट्टनारायण व हर्षवर्धन सफल कवि तथा उनकी कृतियाँ—वेणीसंहार व रत्नावली नाटिका सफल नाटक कहे जाते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

केवल शब्दार्थ रचना वैचित्र्य से उन्मत्त कवि मुक्तक कवि कहा जाता है। कुछ लोग सामादि, मति व दूत लेखादि को भी सन्धि के अङ्ग मानते हैं—

परन्तु सामादि स्वयं अङ्ग रूप होने पर भी मति आदि व्यभिचारिभाव में तथा दूत लेखादि का इतिवृत्त भाग में अन्तर्भाव हो जाता है ॥६५॥

इति श्री थानेशचन्द्र उप्रेती विरचित नाट्य-दर्पण विमर्श में नाटक-निर्णय नामक प्रथम विवेक पूर्ण हुआ ॥६५॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वितीयो विवेकः

अथ प्रकरणाद्येकादशरूप निर्णयो द्वितीयो विवेकः

प्रथम विवेक में नाटक का व्याख्यान कर अब द्वितीय विवेक में प्रकरणादि एकादश रूपों का लक्षण व व्याख्यान करेंगे—

प्रकरण का लक्षण

प्रकरणं वणिग्-विप्र-सचिव-स्वाम्यसङ्करात् ।
मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम् ॥१॥
दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तं, क्लेशाढ्य तच्च सप्तधा ।
कल्प्येन फल-वस्तूनाम्, एक-द्वि-त्रिविधानतः ॥२॥

अनुवाद—प्रकरण में—वणिक् व विप्र, नायक होते है, इन दोनों के अलावा राज्यचिन्तक सचिव भी नायक हो सकता है। ये सब अलग-अलग प्रकरण में होंगे समवकार की तरह एक ही प्रकरण वृत्त मे नही। नायिका भी यहाँ उच्च कुलजा न होकर, सामान्य कुल की होती है, इसलिए "मन्दगोत्राङ्गनम्' इत्यादि लिखा है, दिव्य चरित का प्रकरण में अभाव रहता है और आहार-व्यवहार वेष-चेष्टादि का व्यापार विशेष भी मध्यम स्तर का होता है। प्रकरण दास-श्रेष्ठी विटों से युक्त होता है।

प्रयोजन प्राप्ति में बहुत सी बाधाओं से सान्तराय रहता है, अतएव इसे "क्लेशाढ्यम्" (विघ्न बाहुल्यों का वर्णन) कहा है। इसमें नायक-फल व वस्तु कवि-कल्पित होते हैं, अर्थात् इसका वृत्त कविकल्पित होता है। इस प्रकार यह प्रकरण नेता, फल व वस्तु की कल्पना में से कहीं एक, दो या तीनों की कल्पना के विधान से सात प्रकार का होता है ॥२॥

विमर्श—प्रकरण अनेक दृष्टि से नाटक से भिन्न होता है। नाटक में जहां "प्रख्याताद्य चरित" अर्थात् नायक-ख्यात वृत्त वाला होता है, वहां प्रकरण का नायक-वस्तु-फल भी कवि कल्पित होते हैं। प्रकरण की व्युत्पत्ति से भी यही बात मालूम होती है—"**प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा व्यस्त समस्ततयेति यत्र तत्-प्रकरणम्**" इति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ नायक कोई प्रसिद्ध राजा आदि न होकर वणिक्, विप्र व अमात्यादि होते हैं—

जैसे —"मृच्छकटिक" प्रकरण का नायक—विप्र-दरिद्र-चारूदत्त है, वह धीर-प्रशस्त है, धर्म तथा अर्थादि पुरुषार्थों में तत्पर है। उसकी कार्यसिद्धि शकारादि की दुश्चेष्टाओं से विघ्नित रहती है।

इसी प्रकार— "मालती माधव" नामक प्रकरण का नायक अमात्य है और "पुष्पदूषितक" प्रकरण का नायक वणिक् है।

ये वणिक्, अमात्य व विप्र नायक अपने-अपने वर्णों की अपेक्षा उत्तम हैं न कि राजादिकों की अपेक्षा, अतएव प्रकरण में नाटकों की तरह उदात्त व दिव्य चरित का वर्णन न होकर लोकस्तर के अनुरूप मध्यम रहता है, इसीलिए लक्षण में मध्यम चेष्टित कहा है।

नायिका भी उत्तम गोत्रजा न होकर मन्द गोत्रजा, मध्यम वर्ग की ही होती है। परन्तु इस विषय में धनञ्जय व विश्वनाथ का मत है कि नायिका कहीं कुलजा होती है और कहीं वेश्या भी होती हैं।

इनमें भी कहीं दोनों ओर कहीं अकेली कुलजा या वेश्या होती है।

इनमें भी कुलीन नारी आभ्यन्तर (In doors) और वेश्या वाह्य (Out doors) होती है। इस प्रकार यह तीन प्रकार की होती है। जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—

"नायिका कुलजा क्वाऽपि वेश्या क्वाऽपि द्वये क्वचित्। तेन भेदास्त्रयस्तस्य" इत्यादि प्रकरण में कञ्चुकी के स्थान में दास होता है, अमात्य के स्थान में श्रेष्ठी होता है और विदूषक के स्थान में विट होता है, यह उपलक्षणमात्र है, अन्य चाटुकारादि इन जगहों पर हो सकते हैं ॥२॥

प्रकरण में नायिका का स्वरूप व भेद का वर्णन करते हैं—

कुलस्त्री गृहवार्तायां, पण्यस्त्री तु विपर्यये।
विटे पत्यौ द्वयं तस्माद्, एकविंशतिधाऽप्यदः ॥३॥

अनुवाद— गार्हस्थ्योचित-पुरुषार्थ-साधक वृत्त में कुलस्त्री-कुलीन स्त्री ही नायिका के रूप (वणिजादियों) में निरूपणीय है, जहां गार्हस्थ्योचित धर्म का वर्णन न हो वहां वेश्या भी नायिका के रूप में वर्णनीय है।

यदि गीत-वाद्य-नाट्य-कुशल विट् ही नायक हो तो दोनों कुलस्त्री व वेश्या

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नायिकायें हो सकती हैं। इस प्रकार यह प्रकरण शुद्ध व सङ्कीर्ण के भेद से इक्कीस प्रकार का होता है।।३।।

विमर्श—प्रकरण का लौकिक स्तर नाटक की अपेक्षा मध्यम रहता है। अतः इसमें जिस प्रकार नायक का उदात्त व दिव्य चरित नहीं दिखलाया जाता उसी प्रकार यहां नायिका की स्थिति भी सामान्य रहती है।

यदि गृहस्थ धर्मोचित वृत्त का वर्णन कवि को अभिप्रेत हो तो कुलस्त्री (कुलीन स्त्री) का नायिका के रूप में निरूपण करना चाहिए, अन्यथा वेश्या भी यहाँ नायिका का स्थान ग्रहण कर सकती है। इसमें पहिले का उदाहरण पुष्पदूतिक प्रकरण है, जिसमें कुलस्त्री नायिका है। दूसरे का उदाहरण तरङ्गदत्त प्रकरण है, जिसमें वेश्या नायिका है। ये दोनों परस्पर असङ्कीर्ण होने से शुद्ध हैं। परन्तु जहां दोनों प्रकार की नायिकायें रहती हैं, वह सङ्कीर्ण है, इसका उदाहरण मृच्छकटिक है। विवरण में इसको केचित् पक्ष में रक्खा है, अर्थात् यह ग्रन्थकारों को सम्मत नहीं है जैसा कि वहाँ लिखा है—"**केचित्तु वणिग् नेतृकमपि धूर्तसङ्कुलत्वान्मृच्छकटिकाऽऽदिकं सङ्कीर्णं मन्यन्ते।**" ग्रन्थकारों का पक्ष है कि यदि कला-कुशल विट नायक हो तो वहाँ यह सङ्कीर्ण भेद वाला प्रकरण हो सकता है। और ऐसे प्रकरण में पण्यस्त्री की ही प्रधानता रहती है, कुलस्त्री तो पितृ-पितामहादि की परम्परा निर्वाह मात्र के लिए गौण ही रहती है।

इस प्रकार प्रकरण—नायक, फल व वस्तु के भेद से सात प्रकार के होते हुए भी पुन कुलस्त्री-पण्यस्त्री आदि के शुद्ध व सङ्कीर्ण (दो शुद्ध, एक सङ्कीर्ण) इन तीन भेदों से इक्कीस प्रकार का होता है और नायिका के कल्पित व अकल्पित भेद से प्रकरण के और भी भेद हो सकते हैं। जब कि धनञ्जय व विश्वनाथ आदि ने केवल तीन भेद ही इसके माने हैं।।३।।

प्रकरण के विशेष व सामान्य स्वरूप का निर्देश करते हैं—**अपवाद और उत्सर्ग द्वारा**—

अत्राकल्प्यं पुरा क्लृप्तं, यद्वाऽनार्षमसद्गुणम्।
शेषं नाटकवत् सर्वं, कैशिकीपूर्णतां बिना।।४।।

अनुवाद—प्रकरण में यदि इतिवृत्त—अकल्प्य हो, अर्थात् पूर्वकविकृतकाव्यादि में उसका वर्णन निश्चित हो तो वह समुद्रदत्त के चरित की तरह ग्राह्य है। अथवा जो अनुत्पाद्य वृत्त पूर्व ऋषि प्रणीत शास्त्र-व्यतिरिक्त हो और वृहत्कथादि में उपनिबद्ध हो तो वह भी मूल-देव चरित की तरह उपादेय है। यदि ऋषि-प्रणीत पूर्ववृत्त न हो, और रस के पोषक गुणों से भी हीन हो तो कवि को चाहिए कि ऐसे उत्पाद्य वृत्त को उक्ति-वैचित्र्य से और अन्य काव्य के उपादेय तत्त्वों के द्वारा उसे रसनिस्पन्द व सुन्दर बनावे, यह कवि का अपवादरूप या विशेष कृत्य है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब सामान्य-उत्सर्गभूत नियम का निर्देश करते हैं—

प्रकरण में शेष सभी विधान सन्धि प्रवेशक विष्कम्भादि को नाटक की ही तरह निवेश करना चाहिए। भारती आदि वृत्तियों का भी नाटक की ही तरह निबन्धन करना चाहिए, किन्तु कैशिकीवृत्ति की प्रचुरता नहीं होनी चाहिए ।।४।।

विमर्श—विशिष्ट नियम को अपवाद कहते हैं और सामान्य नियम को उत्सर्ग। नाटक के विषय में जहाँ एक सामान्य नियम है कि यह "प्रख्याताद्य राजचरित" होना चाहिए, वहाँ प्रकरण इसका अपवाद है। प्रकरण में इतिवृत्त ख्यात भी होता है, और कविकल्पित भी अर्थात् अकल्प्य भी और कल्प्य भी। यद्यपि धनञ्जय व विश्वनाथ आदि के मतानुसार प्रकरण का वृत्त उत्पाद्य-कविकल्पित ही होता है—

जैसा कि **साहित्यदर्पण** में निर्देश किया है—"भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्" इत्यादि। परन्तु यहां नाट्यदर्पण में ग्रन्थकारों ने प्रकरण के वृत्त को अकल्प्य-अनुत्पाद्य या पूर्व-कविकृत या शास्त्र-व्यतिरिक्त महर्षि-प्रणीत भी माना है, और कल्प्यवृत्त को भी पूर्व कवि कल्पित या स्वयं कल्पित ऐसा माना है यह बात इनकी इस पंक्ति से झलकती है "यदप्यत्र प्राक्तनं निबध्यते, तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेय इत्यर्थः"।

यह पूर्वोक्त विधान प्रकरण का अपवादभूत कृत्य है। और सन्धि, सन्ध्यङ्ग, प्रवेशक, विष्कम्भादि, वस्तु, नेता, रस आदि का औचित्य पूर्ण संघटना यह सब नाटक की ही तरह सामान्य कृत्य होने से उत्सर्ग विधि है।

भारती आदि चार वृत्तियों का विधान भी नाटक की ही तरह करना चाहिए परन्तु प्रकरण में कैशिकी वृत्ति का प्रचुरता से उपयोग नहीं होना चाहिए। इस वृत्ति के विनियोग में विवरणकार कवि को बहुत चेतावनी दे रहे हैं। इस प्रसङ्ग में इन्होंने भवभूति तक की आलोचना की। इनका कहना है कि—वृत्ति के विषय में भवभूति ने प्राचीनों का अनुसरण नहीं किया।

"यत् पुनर्भवभूतिना मालतीमाधवे कैशिकीबाहुल्यमुपनिबद्धम्, तत्र वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धि,—इति" ।।४।।

अब प्रकरण के बाद नाटिका का लक्षण करते हैं—

चतुरङ्का बहुस्त्रीका नृपेशा स्त्री-महीफला।
कल्प्यार्था कैशिकी-मुख्या, पूर्वरूपद्वयोत्थिता ।।५।।
अख्याति-ख्यातितः कन्या देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—नाटिका में चार अङ्क होते हैं और स्त्री पात्रों का वाहुल्य रहता है, (धीरललित) राजा इसका नायक होता है, स्त्रीलाभपूर्वक राज्यप्राप्ति इसका फल है। इसका (इतिवृत्त) फल व उपाय अंश में कल्पित रहता है। कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। यह नाटक व प्रकरण दोनों के अनुसार रहती है। नाटिका में नायिका दोनों होती हैं कन्या व देवी। इन दोनों के ख्याति-प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि से यह नाटिका पुनः चार प्रकार की होती है।

विमर्श—नाटिका सङ्कीर्ण रूपक है, यह नाटक व प्रकरण के लक्षणों से संगृहीत होती है, इसका नायक प्रख्यात राजा होता है, यह नाटक के लक्षण का अनुसरण है और शेष इति वृत्त—(फल व उपायादि) उत्पाद्य होती है। यह प्रकरण का अनुकरण है इसीलिए "पूर्वरूप द्वयोत्थिता" ऐसा लिखा है। उसका परिमाण भी नाटक व प्रकरण से छोटा ही होता है, करीब-करीब तीन अवस्थाओं की समाप्ति जितने अङ्कों में हो सके वह तीन अङ्क में या चार अङ्क में हो।

इसमें स्त्री पात्र—(देवी-दूती-सखी-चेटी, कन्या आदि) की प्रचुरता रहती है, और कैशिकी वृत्ति की प्रधानता के कारण शृङ्गाररस की मुख्यता रहती है, इसीलिए यह नाटक व प्रकरण की अपेक्षा ललित होती है अथवा यह ललिताभिनयात्मिका होती है अतएव यहां गीत-नृत्य-वाद्यादि हास्य व शृङ्गाररसों का प्राचुर्य रहता है। इसका इतिवृत्त नाटक व प्रकरण दोनों से संगृहीत होने से इन दोनों की तरह सन्धि व सन्धि के अङ्ग और प्रवेशक-विष्कम्भकादि से सम्पन्न होती है। इसमें दोनों प्रकार की नायिकायें होती हैं।

अन्तःपुरप्रधाना देवी—परिणीता और अपरिणीता कन्या।

इन दोनों की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के कारण इसके चार भेद हो जाते हैं। कहीं देवी-अप्रसिद्धा और कन्या प्रसिद्धा यह पहला भेद है, कहीं देवी-अप्रसिद्धा और कन्या भी अप्रसिद्धा यह दूसरा भेद है। कहीं देवी प्रसिद्धा और कन्या अप्रसिद्धा यह तीसरा भेद है। और कहीं देवी प्रसिद्धा और कन्या भी प्रसिद्धा यह चतुर्थ भेद है। **"नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य मनांसि इति अचि गौरादेरकृतिगणत्वाच्च यां नाटी इति अल्पवृत्तत्वादल्पार्थे कवि नाटिकेत्यपीति" स्त्री प्रधानत्वात् सुकुमारातिशयत्वाच्च स्त्रीलिङ्ग निर्देशः"** ॥५॥

नाटिकागत कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं—

अत्र मुख्याकृतो योगः पर्यन्ते नेतुरन्यया ॥६॥
प्रमाद्रो वर्ततेऽन्यस्यां, नेता मुख्याऽभिशङ्कितः।

अनुवाद—नाटिका में नृपवंशज-गम्भीर व परिणीतत्वादि गुणों से युक्त होने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से नायक का प्राधान्येन सम्बन्ध देवी-नायिका से ही रहता है। अन्तःपुर संगीतादि या वाह्योद्यानादि दर्शन या सम्मिलन के कारण अथ अन्य के साथ भी इसका सम्बन्ध होता है। मुख्य देवी नायिका से भयभीत नायक का वर्धमान अनुराग जो कि उपवनादि संकेत स्थानों में सम्पन्न होता है, उसे पर्यन्त निर्वहण सन्धि में दिखलाना चाहिए ॥६॥

नाटिका के अन्य कर्त्तव्यों का भी निर्देश करते हैं—

देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा धर्मा द्वयोः पुनः ॥७॥
क्रोध-प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छद्मादि भूरिशः ।

अनुवाद—नाटिका में प्रधान महिषी देवी को दक्ष-चतुर दिखलाना चाहिए, और अन्य कन्या को चातुर्य-वर्जित मुग्धा के रूप में प्रदर्शित करना चाहिए। धर्माः-क्षत्रियवंशजत्व-नय-विनय-लज्जा आदि धर्म दोनों के समान होने चाहिए ।

कन्या के अनुराग के परिणाम से देवी का राजा से क्रोध दिखलाना, और राजा के द्वारा प्रसादन और कन्या के अनुराग में विघ्नादि का वर्णन, परस्पर अनुराग व वञ्चन आदि का निबन्धन नाटिका में होना चाहिए ॥७॥

विमर्श—दशरूपककार धनञ्जय ने नाटिका का लक्षण रूपकों की संख्या में परिगणन नहीं किया है और दश ही रूपक के भेद माने हैं, पर रूपकों से अलग एक संङ्कीर्ण रूप में इसका लक्षण किया है। उन्होंने लिखा है कि—यहां (रूपक के) अन्य संङ्कीर्ण भेदों की निवृत्ति के लिए नाटिका का भी लक्षण किया जाता है—
लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

भरतमुनि के अनुसार भी नाटिका सङ्कीर्ण रूपक ही है, "अन्य निवृत्तये" का तात्पर्य भी धनञ्जय ने यही बतलाया है, कि भरतमुनि ने नाटिका का लक्षण इसीलिए किया है। सङ्कीर्ण रूपकों में नाटिका ही अधिक वाञ्छनीय है, अन्य सङ्कीर्ण रूपक इतने वाञ्छनीय नहीं है ॥७॥

अब **नाटिका** के ही लक्षण के समान **प्रकरणी** का भी लक्षण कहते हैं—

एवं प्रकरणी किन्तु, नेता प्रकरणोदितः ॥८॥

अनुवाद - एवं नाटिका के ही अनुसार अर्थात् चार अङ्कादि धर्मों से युक्त प्रकरणिका भी होती है, किन्तु इसमें नेता-नायक नाटक के अनुसार न होकर प्रकरण के अनुसार होता है ॥८॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विमर्शः—जिस प्रकार तीन अवस्था से युक्त संक्षिप्त इतिवृत्त वाली स्त्री पात्र प्रचुर चार अङ्कों वाली नाटिका होती है, इसी प्रकार प्रकरणिका भी स्त्री पात्र प्रचुर तीन अवस्था युक्त व चार अङ्कों वाली होती है, किन्तु इसमें नायक नाटकानुसार न होकर अर्थात् प्रख्यातराजचरित युक्त न होकर प्रकरणानुसार लौकिक कविकल्पित वणिक्-विप्रादि होता है। इसका फल स्त्रीलाभपुरस्सर द्रव्य लाभादि रहता है। नाटिका में जिस प्रकार नाटकानुसार कैशिकी वृत्ति की **परिपूर्णता** रहती है, उसी प्रकार प्रकरणिका में भी प्रकरण के अनुसार कैशिकी वृत्ति की **अल्पता** रहती है। यद्यपि ये दोनों नाटिका व प्रकरणिका नाटक व प्रकरण का अनुसरण करते हैं तथापि यहां का व्यवहार सारा प्राधान्येन नायिका के अनुरूप होता है, जब कि नाटक व प्रकरण में सारा व्यवहार नायक पर अवलम्बित है। ये दोनों ही मुख्य रूपकद्वय नाटक व प्रकरण के भेदों के साङ्कर्य से निष्पन्न होने के कारण इन्हें सङ्कीर्णरूपक भेद से भी कहा जाता है, इसी प्रकार दो या तीन रूपकों के भेदों का साङ्कर्य भी हो सकता है, परन्तु अप्रचलित और अतिमनोरञ्जक न होने के कारण उनका लक्षण करना उचित नहीं है। नाटिका में राजाओं का और प्रकरणिका में वणिक्-विप्रादि का विलास प्रधान वृत्त का वर्णन किया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति भी करीब इसी प्रकार की है—"प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते अस्यामर्थ इति प्रकरणी, अल्पार्थे कापि प्रकरणिका"।

भरत के **नाट्यशास्त्र** के अनन्तर नाटिका व प्रकरणी को रूपकों के समकक्ष स्थान देने का श्रेय केवल प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माताओं श्री रामचन्द्र व गुणचन्द्र को ही है, जबकि धनञ्जय व विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रूपकों के मध्य में इनकी गणना नहीं की। अत एव इनके मत रूपक के द्वादश भेद न होकर केवल दश ही भेद होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इन्हें उपरूपकों के भेद में गिना दिया है। परन्तु धनञ्जय ने केवल नाटिका को ही सङ्कीर्ण भेदों के रूप में दिखलाया है। ये प्रकरणिका का भी इसी में अन्तर्भाव कर देते हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—"लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये" अत्र केचित् कहकर—धनिक ने "**अनयोश्च वन्ध योगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः प्रख्यातस्त्वितरो नाटी संज्ञाश्रिते काले।**" भरत की इस कारिका का अर्थ करते हुए, इनका मत दिखलाने का प्रयास इस प्रकार किया है—"**इत्यमुं भारतीयं श्लोकं। एको भेदः। प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरत्वप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञी नाटी संज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते इति व्याचक्षाणाः प्रकरणि कामपि मन्यन्ते, तदसत्। उद्देश्यलक्षणयोरनभिधानात्, समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्।**" अर्थात्—कुछ व्याख्याकार सङ्कीर्ण रूपकों में प्रकरणिका नामक भेद

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को भी मानते हैं। वे "अनयोश्च" इत्यादि भरतमुनि प्रणीत श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"अनयो-अर्थात् इस नाटक और प्रकरण के संघटना के योग से एक भेद प्रसिद्ध है जो नाटिका कहलाता है, और दूसरा अप्रसिद्ध है जो प्रकरणिका कहलाता है। इस प्रकार दो तरह के काव्य नाटी संज्ञा के आधार हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, प्रकरणिका का न तो नाम निर्देश किया गया है और न लक्षण ही किया गया है। पूर्ण सन्धि व दशा वाले रूपकों का निरूपण करके अब न्यून दशा व सन्धि वाले रूपकों में से व्यायोग का लक्षण करते हैं—

एकाहचरितैकाङ्को गर्भामर्श-विवर्जितः।
अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो नियुद्ध-स्पर्धनोद्धतः ॥९॥
स्वल्पयोषिज्जनः ख्यातवस्तुर्दीप्तरसाश्रयः।
अदिव्यभूपतिस्वामी, व्यायोगो नायिकां विना ॥१०॥

अनुवाद—व्यायोग में एक ही दिन के चरित को दिखलाने वाला एक अङ्क होता है। यह गर्भ व अवमर्श सन्धि से रहित होता है, ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जिसमें निमित्त स्त्री न हो। नियुद्ध-बाहुयुद्ध व विद्या शौर्य-बलादि प्रयुक्त स्पर्धा से यह व्यायोग उद्धत होता है। स्वल्प स्त्री-पात्र वाला होता है। इसमें वस्तु—इतिवृत्त व नायक ख्यात रहता है। वीर-रौद्रादि रसों का यह आश्रय रहता है। नायिका और तदुचित परिजनों का अभाव रहता है। व्यायोग का नायक दिव्यचरित वाला न होकर सामान्य सेनापति आदि होता है ॥१०॥

विमर्शः—**"विशेषेण आसमन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थं संरम्भन्तेऽत्रेति व्यायोगः" अथवा "व्यामुज्यन्तेऽस्मिन् बहवः पुरुषाः इति व्यायोगः"** अर्थात् जिसमें अनेक पुरुष कामार्थ व्यापृत हों उसे व्यायोग कहते हैं।

यह एक दिवस निर्वर्तनीय चरित होने से एक ही अङ्क वाला होता है। यहां गर्भ व अवमर्श सन्धि के न होने का कारण यह है कि यहाँ प्रत्याशा व नियताप्ती इन अवस्थाओं का अभाव रहता है, क्योंकि यहां दीप्तरस—वीर-रौद्रादि रसों का आश्रय होने से कालक्षेप को सहन न करता हुआ प्रारम्भ व प्रयत्न के बाद फलागम में ही पर्यवसित हो जाता है। अतएव इसका गद्य व पद्य ओजोगुण प्रधान रहता है। यहां का युद्ध भी स्त्री को निमित्त मानकर नहीं होता है। जैसे—जामदग्न्यजय नामक नाटक में परशुराम के द्वारा सहस्रार्जुन का वध। नायिका और तदुचित इत्यादि का भी यहाँ निषेध है, किन्तु नायक के परिच्छेद-उपकरण के रूप में चेटी आदि का अभाव नहीं रहता है। इसमें मन्त्री-सेनापति आदि के युद्ध का प्रशस्त वृत्त रहता है। अब क्रम-प्राप्त समवकार का लक्षण कहते हैं—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विज्ञेयः समवकारः ख्यातार्थो निर्विमर्शकः ।
उदात्तदेव-दैत्येशो वीथ्यङ्गी वीर-रौद्रवान् ॥११॥

अनुवाद—समवकार में इतिवृत्त ख्यात रहता है, इसमें विमर्श सन्धि नहीं रहती है। उदात्त-देव व दानव इसके नेता होते हैं। वीथी के अङ्गों का विन्यास भी इसमें होता है। प्रधानतः वीर व रौद्र रस होते हैं ॥११॥

समवकार में होने वाले अन्य कृत्यों का भी निर्देश करते हैं—

अत्र द्वादशनेतारः, फलं तेषां पृथक् पृथक् ।
अङ्कास्त्रयस्त्रिश्रृंगाराः त्रिकपटास्त्रिविद्रवाः ॥१२॥

षड्युग्मैकमुहूर्त्ताः स्युः निष्ठितार्थाः स्वकार्यतः ।
महावाक्ये च सम्बद्धाः, क्रमाद् द्व्येकैकसन्धयः ॥१३॥

अनुवाद—समवकार में प्रत्येक अङ्क में नायक, प्रतिनायक व उनके सहायक आदि गणना से बारह नायक होते हैं, सबके प्रयोजन भिन्न-भिन्न होते हैं। यह तीन अङ्कों का होता है, और धर्मार्थ-काम तीन प्रकार के श्रृङ्गार से युक्त होता है, त्रिकपट व त्रिविद्रव से भी युक्त होता है। प्रथम-अङ्क छः मुहूर्त्त-घटिका में, द्वितीय अङ्क दो मुहूर्त्त-घटिका में व तृतीय अङ्क एक मुहूर्त्त में निष्पन्न होने वाला होता है, प्रत्येक अङ्क का साध्य-फल अपने में ही निष्ठितार्थ-सम्पन्न होने वाला होता है और महावाक्य प्रबन्ध के प्रमुखं प्रयोजन से सम्बद्ध रहता है। इसमें क्रमशः प्रथम अङ्क में मुख-प्रतिमुख, सन्धियां और द्वितीय अङ्क में गर्भ सन्धि और तृतीय अङ्क में निर्वहण सन्धि होती है ॥१३॥

श्रृङ्गारादि रसों के निवेश का क्रम दिखलाते हैं—

श्रृङ्गारस्त्रिविधो धर्म-कामार्थफल-हेतुकः ।
वञ्च्य-वञ्चक-दैवेभ्यः सम्भवी कपटस्त्रिधा ॥१४॥

जीवाजीवोभयोत्थः स्यात् विद्रवस्त्रिरमीषु तु ।
प्रत्येकमङ्केष्वेकैकः, पद्यं च स्रग्धराऽऽदिकम् ॥१५॥

अनुवाद—समवकार का श्रृङ्गार धर्मार्थकाम-फल-हेतुक होने से तीन प्रकार का होता है। वञ्च्य-वञ्चक व दैव से उत्पन्न होने वाला तीन प्रकार का कपट समवकार में होता है और चेतन-गजादि-अचेतन-आयुधादि-उभय-नगरोपरोधादि से जन्य तीन प्रकार के विद्रव का यहां वर्णन किया जाता है। यह श्रृङ्गार-कपट व विद्रव क्रमशः प्रथम, द्वितीय व तृतीय अङ्क में रखना चाहिए। इसमें स्त्रग्धरा-शार्दूलविक्रीडित, या ओजोगुणव्यञ्जक लम्बे छन्दों का प्रयोग होता है ॥१५॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विमर्शः—"**सङ्गतेरवकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति समवकारः।**" अर्थात्—सङ्गत सम्मिलित या अवकीर्ण—बिखरे हुए, धर्मार्थादि प्रयोजनविशिष्ट त्रिविध पूर्व-प्रसिद्ध उपायों का निबन्धन जिसमें किया हो उसे समवकार कहते हैं। दशरूपक के वृत्तिकार या टीकाकार-धनिक ने इसकी सरल व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखलाई है—"समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः" अर्थात् जिसमें अनेक प्रयोजन भली-भांति निबद्ध किये जाते हैं—उसे समवकार कहते हैं।

समवकार का वृत्त नाटक की ही तरह ख्यात होना चाहिए। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़ कर शेष सभी सन्धियाँ होती हैं। इसका नायक देव व दानवों में से अन्यतम होना चाहिए, परन्तु उसे उदात्त होना चाहिए। उदात्त का अर्थ धीरोदात्त है यद्यपि मनुष्यों की अपेक्षा उन्हें धीरोदात्त समझा जायेगा, परन्तु अपनी देव-दानव जाति की अपेक्षा उनमें धीरोदात्तत्व रहेगा, वीथी के व्याहारादि सभी अङ्ग इसमें भी रहेंगे। समवकार में यद्यपि शृङ्गार रस रहता है, परन्तु प्रधानता यहाँ वीर व रौद्र रस की ही रहती है, शृङ्गार की तो यहाँ छाया मात्र ही रहती है। इसमें नायक-प्रति नायक व उनके सहायकों आदि को मिलाकर सब द्वादश नायक होते हैं। उनके प्रत्येक के अलग-अलग फल होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन नाटक में हरि-बलि आदि पृथक्-पृथक् नेताओं के लक्ष्मीलाभादि पृथक्-पृथक् फल हैं।

समवकार तीन प्रकार के शृङ्गार से समन्वित रहता है वह इस प्रकार है—धर्म-शृङ्गार, अर्थ-शृङ्गार व काम-शृङ्गार।

(१) **धर्म-शृंगार**—जहाँ रतिभाव या प्रमदा की प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है और उसका फल भी धर्माचरण होता है उसे धर्मशृङ्गार कहते हैं। जैसे गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी का संयोग यह धर्म शृङ्गार है। यह व्रत व तपस्या से प्राप्त होता है। इसका फल भी परस्त्री त्याग करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन करना है।

(२) **अर्थ-शृंगार**—वेश्या आदि का संयोग यह वेश्या के धन प्राप्ति के लिए होता है। वेश्या की अर्थ प्राप्ति ही इसका फल है।

(३) **काम-शृङ्गार**—पर स्त्री आदि के संयोग से होता है, जिसका फल केवल काम-सुखभोग या विलास होता है जो काम वश किया जाता है, वस्तुतः इसका फल अधर्म है, प्रायः नाटक में ऐसे शृङ्गार का निबन्धन नहीं किया जाता है। समवकार में वञ्च्य-वञ्चक व देव से होने वाला कपट भी तीन प्रकार का होता है "विवरण में—कपट की परिभाषा इस प्रकार की है—"**मिथ्या-प्रकल्पितः सत्यानुकारी प्रपञ्चः कपटः**" सत्य सा प्रतीत होने वाला मिथ्या कल्पित प्रपञ्च विशेष ही कपट है—वञ्च्य या वञ्चक व दैव सापेक्ष है। समवकार में वर्णित विद्रव भी तीन प्रकार का होता है—विवरण में जिसका स्वरूप इस प्रकार दिखलाया है "विद्रवन्ति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः" अर्थात्—ऐसा अनर्थ जिससे लोग डरकर भागें, **नाट्यशास्त्र** के अनुसार कपट जन्य पलायन ही विद्रव है, यह भी तीन प्रकार का होता है, चेतन-इत्यादि कृत, अचेतन झन्झावातादिकृत-और उभय-नगरोपरोधादि कृत ।

नाट्यदर्पण के मतानुसार **समवकार** में लम्बे-लम्बे स्रग्धरादि वृत्तों का विन्यास ही समुचित है, नकि छोटे अनुष्टुप्-गायत्री इत्यादि का, क्योंकि ओजोगुण-युक्त-प्रशस्त अर्थ के अभिधान में स्रग्धरा-शार्दूलविक्रीडितादि वृत्त ही समर्थ हैं ॥१५॥

अब **भाण** का लक्षण कहते हैं—

भाणः प्रधान-शृङ्गार-वीरो-मुख-निर्वाहवान् ।
एकाङ्को दशलास्याङ्गः, प्रायो लोकानुरञ्जकः ॥१६॥

अनुवाद—भाण रूपक का वह भेद है जिसमें शृङ्गार व वीर रस की प्रधानता रहती है। इसमें मुख सन्धि व निर्वहण सन्धि केवल दो ही सन्धि रहती हैं। एकदिन में समाप्त होने से यह एक अङ्क वाला होता है और दस लास्याङ्गों से युक्त होता है। (विट-वेश्यादि) वृत्तात्मक होने से यह प्रायः लोकानुरञ्जक मात्र होता है ॥१६॥

भाण में कर्तव्य-शेष व नायक का निर्देश करते हैं—

एको विटो वा धूर्तो वा,
वेश्याऽऽदेः स्वस्य वा स्थितिम् ।
व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र,
वृत्तिर्मुख्या च भारती ॥१७॥

अनुवाद—भाण में अकेला विट या धूर्त—किसी वेश्या आदि के अथवा स्वयं अपने ही चरित का वर्णन आकाश भाषित के द्वारा करता है। आकाश भाषित होने के कारण वाचिक अभिनय की प्रचुरता से यहां वृत्ति भी प्रधानरूप से भारती होती है ॥१७॥

विमर्श—"भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्व-पर-वृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः ।"

जिस रूपक में नायक, विट् या धूर्त आकाशभाषित के द्वारा अपने अथवा किसी वेश्यादि के चरित का प्रकाशन करता है उसे भाण कहते हैं। यह शौर्य तथा सौभाग्य वर्णन प्रधान होने से वीर व शृङ्गार रस वाला होता है। स्वल्प वृत्त होने से एक दिन में सम्पन्न हो जाता है, अतः एक ही अङ्क का होता है। यहाँ शौर्य व विलास का वर्णन अस्पष्ट होता है। अतः केवल उनकी सूचना मात्र दी जाती है ऐसा **दशरूपककार** धनञ्जय व उनके टीकाकार धनिक का कहना है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ"

भाण में विट-धूर्तों आदि के परवञ्चनात्मक चरित्र-चित्रण के द्वारा कवि सामाजिकों तथा प्रेक्षकों को यह बतलाना चाहता है कि इस प्रपञ्च पूर्ण संसार में ऐसे भी मायावी लोग होते हैं जिनसे आप सावधान रहे।

अथवा इन चातुर्यपूर्ण चेष्टाओं से सुकुमार राजपुत्रादिकों को राजनीति की चतुराई की ओर आकृष्ट करता है।

इसमें दश लास्याङ्गों का निबन्धन होता है, इस प्रकार हैं—

गेयपदं स्थितं पाठ्यम् आसीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकं त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम्॥
उत्तमोत्तमकं चैव युक्तप्रत्युक्तमेव च ॥इति॥

(१) **गेयपद**—सामाजिकों के सामने—वीणा आदि से अभिनय शून्य (शुद्ध) गाना ही गेयपद है।

(२) **स्थितपाठ्य**—कामदशा का अभिनय कर प्राकृतादि भाषा का गाना स्थित पाठ्य है।

(३) **आसीन**—शोक या चिन्ता विषयक गाने को बिना अभिनय के गाना आसीन है।

(४) **पुष्पगण्डिका**—वाद्य के साथ पुरुष-वेष में स्त्री का विविध छन्दों में गाना पुष्पगण्डिका कहा जाता है।

(५) **प्रच्छेदक**—प्रियतम-परनायिका विषयक प्रेम की सम्भावना से क्रोध व ईर्ष्यापूर्वक वीणा सहित गायन को प्रच्छेदक कहते हैं।

(६) **त्रिगूढ**—स्त्री वेष धारी पुरुषों का मधुर अभिनय त्रिगूढ कहलाता है।

(८) **सैन्धव**—रसोचित सङ्केत को भूलकर वीणादिवाद्ययुक्त होकर जब कोई पात्र प्राकृत वचन कहता है उसे सैन्धव कहते हैं।

(८) **द्विगूढ**—मुख व प्रतिमुख से युक्त रस व भाव से युक्त गीत द्विगूढ हैं।

(९) **उत्तमोत्तमक**—कोप-प्रसाद-अधिक्षेप व रस-हाव-हेलादि से युक्त विचित्र श्लोक रचना से मनोहर गायन उत्तमोत्तमक है।

(१०) **उक्तप्रत्युक्त**—उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्भ पूर्ण विलास वचन उक्तप्रत्युक्त है॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रहसन का लक्षण

वमुख्य कार्य-वीथ्यङ्गि, ख्यातकौलीनदम्भवत् ।
हास्याङ्गि भाणसन्ध्यङ्क वृत्तिः प्रहसनं द्विधा ॥१८॥

अनुवाद—प्रहसन का प्रयोजन है, सामाजिकों को वञ्चकों से विमुख बनाना, (प्रधान कार्य प्रहसन का है वञ्चकों से वैमुख्यापादान) इसमें (विट्-चेटादिकों का) कौलीन-जनापवाद से युक्त दम्भपूर्ण वृत्त रहता है ।

हास्य की प्रधानता रहती है, शेष सन्धि अङ्क व वृत्ति सब भाण के ही समान रहते हैं । यह प्रहसन शुद्ध व सङ्कीर्ण के भेद से दो प्रकार का होता है ॥१८॥

शुद्ध प्रहसन का लक्षण

निन्द्य पाखण्डि विप्रादेः, अश्लीलासभ्य-वर्जितम् ।
परिहासवचः प्रायं, शुद्धमेकस्थ चेष्टितम् ॥१०॥

अनुवाद—निन्दनीय-पाखण्डपूर्ण-अश्लीलादि असभ्य वचनों से रहित परिहास-विट-चेटादि में किसी एक का—चेष्टित-इतिवृत्त जिसमें हो वह शुद्ध प्रहसन है ।

संकीर्ण प्रहसन का लक्षण

सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाऽऽचार-परिच्छदम् ।
बहूनां बन्धकी-चेट-वेश्याऽऽदीनां विचेष्टितम् ॥२०॥

अनुवाद—उद्धत-वेष-भाषा-आचारादि उपकरणों से पूर्ण, गर्हणीय-बन्धकी-स्वैरिणी-चेटी वेश्यादि के चेष्टापूर्ण इतिवृत्त वाले प्रहसन को जो बहुतों से सङ्कीर्ण-मिश्रित हो, उसे सङ्कीर्ण प्रहसन कहते हैं ॥२०॥

विमर्श—"प्रकर्षेण दृश्यते विटादीनां चरितं सामाजिकैः सहृदयैर्वा यत्र तत् प्रहसनम्" जिस रूपक में पाखण्ड पूर्ण विट-चेटादिकों के चरित का उपहास हो उसे प्रहसन कहते हैं । दम्भ व पाखण्ड पूर्ण विटों के चरित जानकर सामाजिक पुनः ऐसे दम्भी व पाखण्डियों, वञ्चकों, के चङ्गुल में नहीं आता है, अतः प्रहसन का प्रधान प्रयोजन यह भी है कि सभ्य समाज को इन सब प्रपञ्चों से विमुख करना । जैसा कि विवरण में लिखा भी है—

"वैमुख्यं-वहुमानाभावः कार्यं प्रयोजनं यस्य । प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति ।"

अतः प्रहसन में कवि दम्भपूर्ण कथा व घटनाओं का निवेश करता है । यहां का दम्भ-मिथ्या में साधुत्व का आरोप स्वरूप वाला होता है अर्थात् "झूठा-सच" । जैसे—कालान्तर में यह दम्भ वौद्धभिक्षुओं में आ चुका था, वे अपने धर्म में सिर्फ स्त्री सम्पर्क को निन्दनीय समझने लगे, पर चोरी को इतना निन्दनीय नहीं समझने लगे । नाट्य दर्पण में इसका उल्लेख इस प्रकार है—"ख्यात-कौलीन-दम्भवत् ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विवरण में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—"कौलीनं जनापवादः तत् ख्यातं प्रसिद्धं दम्भश्चात्मन्यतथ्यसाधुत्वारोपणरूपः ख्यातोऽत्र विधेयः, यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्को गर्हणीय न चौर्यम।" शेष कार्य प्रहसन में भाण की ही तरह रहता है। यह शुद्ध पाखण्डचरित व सङ्कीर्ण पाखण्ड चरित से पुनः दो प्रकार का होता है।

इसमें शुद्ध पाखण्ड चरित वाला वह प्रहसन है जिसमें अश्लीलता-जुगुप्सा-अमङ्गलादि-ग्राम्य-दोष न हों,

और सङ्कीर्ण प्रहसन में—पाखण्ड चरित के साथ-साथ विट, चेट, वेश्यादि पात्रों का सङ्कलन होने से उक्त ग्राम्य दोषों का भी मिश्रण रहता है, इसीलिए यह सङ्कीर्ण प्रहसन कहा जाता है। प्रहसन को रूपकों के अन्तर्गत निवेश करने का एक कारण यह भी है कि बालक-स्त्री व मूर्खों का इसमें खूब मनोरञ्जन हास्यपूर्ण रचना के कारण हो जाता है, यह प्रहसन उनके नाट्य-दर्शन के लिए एक प्रकार से प्ररोचना का कार्य करता है। इस प्रकार इन लोगों की रुचि आगे नाटक काव्य आदि की ओर भी होती है, मनोरञ्जन के साथ-साथ अन्य सभी बालक-स्त्री-मन्दमति आदि भी सुन्दर नाटकों से धर्मार्थ-काम आदि पुरुषार्थों—पुरुष-कर्तव्यों-मानवोचित कार्यों की शिक्षा-दीक्षा को सरलतया सीख जाते हैं। तदनन्तर वे इस प्रकार के असच्चरित चित्रों से विमुख होकर सच्चरित चित्रण की ओर अग्रसर होते हैं। अतः नाटक से भी काव्य की ही तरह सरलतया यह उपदेश—"रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्" प्रसारित किया जाता है ॥२०॥

अब डिम का लक्षण कहते हैं—

अशान्त-हास्य-शृङ्गार-विमर्शः ख्यातवस्तुकः।
रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः सेन्द्रजाल-रणो डिमः ॥२१॥

अनुवाद—डिम नामक रूपक में शान्त, हास्य व शृङ्गार ये तीन रस नहीं होते है और चतुर्थ सन्धिविमर्श सन्धि भी नहीं होती हैं। इसका इतिवृत्त ख्यात रहता है। वीर-वीभत्सादि मे रौद्र रस मुख्य रहता है, इसमें चार अङ्क होते हैं। यह माया इन्द्र-जाल व उद्धत रण-संग्राम-बाहुयुद्ध आदि से युक्त रहता है ॥२१॥

डिम में अन्य कृत्य व नायक का भी निर्देश करते हैं—

अत्रोल्कापात-निर्घाताः, चन्द्रसूर्योपरक्तयः।
सुरासुर-पिशाचाद्याः, प्राय. षोडश नायकाः ॥२२॥

अनुवाद—इस डिम में उल्कापात-अनिष्ट, ताराओं का पतन, निर्घात-वज्र निर्घोष व चन्द्र व सूर्य-ग्रहणादि का वर्णन होता है। और सुर-देव, असुर-दानव-पिशाच आदि सोहल नायक होते हैं। प्रायः ग्रहण से कुछ न्यूनाधिक भी हो सकते हैं ॥२२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विमर्शः—डिम सङ्घाते, इस धातु से— समुदायार्थक डिम शब्द की निष्पत्ति होती है। सोलह नायकों का यहां समुदाय होने से इसे डिम कहते हैं।

डिम के नायक प्रायः देव-दानव, भूत-पिशाच व यक्ष-गन्धर्वादि ही होते हैं। ये दिव्य होने से धीरोद्धत ही होते हैं, पर अपनी जाति की अपेक्षा इनमें धीरोदात्तत्व भी रहता है। इसका चरित व नायक दिव्य होते हैं, पर घटनायें बड़ी ही उद्धत व विप्लव पूर्ण होती हैं, जैसे—उत्कापात-वज्रनिर्घोष-चन्द्रसूर्यादि ग्रहणों का वर्णन इत्यादि इसमें शान्त-हास्य-शृङ्गार इन तीन रसों को छोड़कर शेष छः रसों का वर्णन किया जाता है। विवरणकारों का तो यहां तक कहना है कि यहां शान्त रस केवल शान्त का ही नहीं अपितु करुण का भी उपलक्षक है, इसीलिए डिम में करुण का भी निषेध किया जाता है। डिम में दिव्य चरित व दिव्य नायक होने के कारण दिव्यों में सुख की मात्रा प्रचुर और दुःख की मात्रा अत्यल्प होने के कारण उद्धत स्वभाव पूर्ण रौद्रादि रसों का ही यहां अभिनय उचित है। (विवरण में शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत व शान्त रसों को सुखात्मक माना है, और करुण, रौद्र, भयानक व वीभत्स इन चार रसों को दुःखात्मक माना है।)

विप्लवपूर्ण घटनाओं का और छल-छद्म, मायेन्द्रजालादि का यहां प्रचुर वर्णन होने से—करुण, शान्त, शृङ्गार व हास्य इसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, अतः इन औद्धत्यपूर्ण वृत्त व इन्द्रजालादि की सुव्यवस्थिति के लिए उक्त रौद्रादि रसों की योजना ही समुचित है। "इन्द्रजालमसतां शब्द-रूपादीनां प्रकाशनम्, अन्यथापादनं वा" यह अवस्था चतुष्टय सम्पन्न चार सन्धि—मुख-प्रतिमुख-गर्भ व निर्वहण सन्धि से युक्त होने से और चार दिनों में सम्पन्न होने के कारण चार अङ्क वाला डिम होता है। शेष प्रस्तावना आदि नाटक के ही समान होते हैं। त्रिपुरदाह नामक वृत्त इसका उदाहरण है—

स्वयं भरत ने त्रिपुरदाह की तुल्यता डिम में दिखलायी है—

इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः॥

ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में यह लक्षण बतलाया है, इसीलिए त्रिपुरदाह को डिम कहा गया है॥२२॥

अब क्रम प्राप्त **उत्सृष्टिकाङ्क** का निरूपण करते हैं—

उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी, ख्यातयुद्धोत्थवृत्तवान्।
भाणोक्तसन्धि-वृत्त्यङ्कः, वाग्युद्धः करुणाङ्गिकः॥२३॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद— उत्सृष्टिकाङ्क में सामान्य मनुष्य नायक होता है, प्रसिद्ध संग्राम युक्त इतिवृत्त का इसमें वर्णन होता है, भाण की ही तरह सन्धि-वृत्ति और अङ्क भी होते हैं, इसमें वाक्-युद्ध का वर्णन करना चाहिए। करुण रस इसका अङ्गी-प्रधान रस है ॥२३॥

उत्सृष्टिकाङ्क में अन्य कृत्यों का निर्देश करते हैं—

निर्वेदवाचो भूम्नाऽत्र, योषितां परिदेवितम्।
नरा निवृत्तसङ्ग्रामाः चेष्टाश्चित्रा विसंस्थुला ॥२४॥

अनुवाद—इसमें—निर्वेद वचन पूर्ण स्त्रियों के विलाप-दैवोपालम्भनादि का वर्णन करना चाहिए और उद्धत-प्रहार-वध-बन्धादि-युवत पुरुष पात्रों का निबन्धन करना चाहिए और नाना प्रकार की विसंस्थुल भूमिनिपात, शिरस्ताडनादि चेष्टाओं का वर्णन होना चाहिए ॥२४॥

विमर्शः—"उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिः जीवितं यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः-ताभिरङ्कितत्वादुत्सृष्टिकाङ्कः" अथवा "उल्लङ्घ्य सृष्टिर्यस्य स उत्सृष्टिकः, स चासौऽङ्क इति उत्सृष्टिकाङ्कः" उत् वा – उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्र—इति—उत्सृष्टिकाङ्क इति। इन व्युत्पत्तियों के अनुसार उत्सृष्टिकाङ्क वह रूपक है जिसमें शोकग्रस्त स्त्रियों का विशेष रूप से चित्रण होता है। यह एक अङ्क का रूपक है, इसको अङ्क भी कहा जा सकता है, किन्तु नाटक आदि में जो अङ्क होते हैं उनसे भेद दिखलाने के लिए इसे उत्सृष्टिक-अङ्क कहते हैं।

इसमें महाभारतादि इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध के इतिवृत्त का वर्णन रहता है। शोक स्थायिक करुण रस की प्रधानता के कारण यहां दिव्य चरित का वर्णन न होकर सामान्य मर्त्य ही नेता होता है। यह मुख व निर्वहण सन्धि से युक्त होता है। भारती वृत्ति प्रधान यह रूपक एक दिन में सम्पन्न होने के कारण एक अङ्क वाला होता है। शौर्य व मात्सर्य के आवेश में मग्न मदावलिप्त पात्रों का परस्पर दोषोद्घाटन पुरस्सर वाक्-युद्ध का यहां बाहुल्य रहता है।

उत्सृष्टिकाङ्क में उत्तम व मध्यम पात्रों के आश्रय से अनेक प्रकार की विपत्तियों के समागम से पीड़ित-संघर्षपूर्ण जीवन वाले—घोर विपत्ति-व्यसन में निमग्न होने पर भी—धैर्य-धारियों का परिणाम में अभ्युदय दिखाना भी उत्सृष्टिकाङ्क का अपना कुछ विशिष्ट प्रयोजन है ॥२४॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब **ईहामृग** का लक्षण कहते हैं—

ईहामृगः सवीथ्यङ्गः दिव्येशो दृप्तमानवः।
एकाङ्कश्चतुरङ्को वा, ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् ॥ २५॥
दिव्यस्त्रीहेतुसंग्रामः निर्विश्वासः सविड्वरः।
स्त्र्यपहारभेद-दण्डः, प्रायो द्वादशनायकः ॥२६॥

अनुवाद – ईहामृग नामक रूपक में वीथी के व्यवहारादि सारे अङ्ग होते हैं। इसका नायक दिव्य होता है और पात्र मर्त्य तथा उद्धत होते हैं। यह एक अङ्क अथवा चार अङ्कों वाला होता है। इसका इतिवृत्त कुछ अंश में ख्यात तथा कुछ अंश में अख्यात या कल्पित होता है, इसीलिए इस वृत्त को मिश्रवृत्त भी कहते हैं। दिव्य-स्त्री-लाभ हेतु यहां सङ्ग्राम होता है। विश्वास रहित धूर्त विटों का वर्णन रहता है। स्त्री का अपहरण, तन्निमित्तक साम, दान, दण्ड, भेदादि का भी बिन्यास होता है। इसमें नायक-प्रतिनायक-नायिका व उनके सहायक सब मिलकर बारह पात्र होते हैं ॥२६॥

ईहामृग में अवशिष्ट कृत्य का वर्णन करते हैं—

व्याजेनात्र रणाभावः वधासन्ने शरीरिणि।
व्यायोगोक्ता रसाः सन्धि-वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥२७॥

अनुवाद—वध की अवस्था तक पहुंचे हुए या वध के सन्निकट नायकादि का व्याज से (पलायन आदि से) रणाभाव या वधाभाव दिखाया जाता है। व्यायोग में दिखलाये गये सभी रस वीर-रौद्रादि और गर्भावमर्श-वर्जित तीन सन्धियाँ और कैशिकीरहित तीन वृत्तियां भी इसमें वर्णित होती हैं। (प्रतिनायक की) अनुचित रति रत्याभास का भी इसमें वर्णन होता है ॥२७॥

विमर्श—"**मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः**" जिसमें मृग के समान नायक किसी अलभ्य नायिका को चाहता है, उसको ईहामृग नामक रूपक कहते हैं। अथवा—'ईहा-चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था-अत्रेतीहामृगः" —मृग-हरिणादि जिस प्रकार चमकती हुई मरीचिका में जल समझकर अत्यन्ततृष्णा से वहां जाता है पर वहाँ उसे जल मिलता नहीं है, इसी को मृगतृष्णा भी कहते हैं, इसीप्रकार इहामृग में भी प्रतिनायकादि का अलभ्य नायिका के लिए विफल प्रयास रहता है।

ईहामृग का नायक दिव्य होता है, शेष पांच मर्त्य व उद्धत स्वभाव वाले होते हैं। यदि ईहामृग का वृत्त स्वल्प हो तो यह एक-दिवस निर्वर्तनीय होता है अथवा अधिक वृत्त होने पर चार दिन में सम्पन्न होने से चार अङ्कों वाला होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतिवृत्त यहाँ मिश्रित रहता है, दिव्यस्त्री हेतु संग्राम रहता है—अर्थात्—नायिका जो कि प्रतिनायक को नहीं चाहती हैं, इसी के अपहरण निमित्त प्रतिनायक चेष्टा करता है, तन्निमित्तक नायक व प्रतिनायक का सङ्ग्राम रहता है। इसी प्रसङ्ग में वध-वन्ध-साम-दानादि राजसन्धियों का भी यहाँ वर्णन रहता है। रूपकों में वध दिखाना अनुचित है, अतः यहाँ भी वधासन्न वीर का (या भावि वध-योग्य दशा में) किसी व्याज से रणाभाव दिखलाया जाता है।

अनुचितारति या रत्याभास का भी वर्णन यत्र-तत्र रहता है, इस अनुचिता रति का विषय प्रतिनायक रहता है, क्योंकि वह ऐसी नायिका से प्रेम करना चाहता है जो उसे नहीं चाहती है। जब कि लक्षणकारों ने रति का उभयनिष्ठ होना ही वर्णन किया है। एकनिष्ठ रति होने से यह रत्यामास या अनुचित रति कही जाती है। सम्भवतः प्रतिनायक की इसी चेष्टा या घटना को मुख्य रूप देकर लक्षणकारों ने इसका नाम ईहामृग रखा ॥२७॥

अब क्रम-प्राप्त **वीथी** का लक्षण कहते हैं—

सर्वस्वामि-रसा वीथी, त्वेकाङ्का द्व्येकपात्रिका ।
मुख निर्वाहिसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥२८॥

अनुवाद—वीथी में सभी प्रकार के उत्तम-मध्यम व अधम—नायक व सभी रस होते हैं। यह एक अङ्क वाली होती है। इसमें दो अथवा एक पात्र होता है, यह मुखसन्धि और निर्वहण सन्धि युक्त होती है। त्रयोदश अङ्गयुक्त होने के कारण वैचित्र्य विशेष से यह सभी रूपकों के लिए उपयुक्त है ॥२८॥

विमर्श—वीथी कहते हैं गली या रथ्या-मार्ग को, उसी वीथी की तरह यह (रूपक का भेद) भी होने से इसे भी वीथी कहते हैं। अथवा नाटकादि सभी रूपकों के उपयुक्त त्रयोदश अङ्गों के कारण वक्रोक्ति से परिपूर्ण-चमत्कार युक्त मार्ग विशेष से लक्षित होने से इसे भी वीथी कहते हैं—जैसा कि विवरण में भी कहा है—"नाटकादि सर्वरूपकाणामेतदुक्तं वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी"।

इसमें सभी प्रकार के नायक व सभी प्रकार के रस रहते हैं।

कोहल का कहना है कि वीथी में शृङ्गारादि सभी रसों का विधान क्रमशः करना चाहिए, वे एक पात्र के द्वारा अथवा दो पात्रों के द्वारा हों, विवरण में कोहल का पद्य भी दिया है—वह इस प्रकार है—

"उत्तमाधम-मध्याभियुक्ता प्रकृतिभिस्त्रिधा ।
एकहार्या द्विहार्या वा, सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अधम-प्रकृति वाले नायक को न चाहने वाले शंकुक की ओर इन्होंने कुछ आक्षेप किया है, विवरण में जो इस प्रकार है—"शङ्कुकस्त्वधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणादौ हास्यरस प्रधाने विटादेर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयं स्यादिति" वीथी का इतिवृत्त एक दिन में सम्पन्न होने से यह एक अङ्क की ही होती है। इसमें उक्ति-प्रत्युक्ति दो पात्रों द्वारा अथवा एक ही पात्र द्वारा आकाश-भाषित विशेष से होती है।

वीथी का अर्थ—दशरूपक के टीकाकार धनिक ने अङ्गों की पङ्क्ति भी किया है—"वीथी वद् वीथी मार्गः, अङ्गानां पङ्क्तिर्वा"। अतः यह त्रयोदश के प्रवेश के कारण वक्रोक्त्यादि वैचित्र्य से परिपूर्ण होने के कारण सभी रूपकों के लिए उपयोगी है। शृङ्गार-हास्य की सूचना मात्र होने से कैशिकी वृत्ति की हीनता भी रहती है, अर्थात् स्वल्पमात्रा में कैशिकी वृत्ति रहती है, विश्वनाथ व धनञ्जय ने इसमें खुलकर शृङ्गाररस का परिपोष होना चाहिए और किञ्चित् स्पर्श अन्य रसों का भी होना चाहिए ऐसा लिखा है। इसमें दशरूपक का कथन है—

"रसः सूच्यस्तु शृंङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्"

विश्वनाथ का व्याख्यान इस प्रकार है—

"सूचयेद् भूरि शृंङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसानपि" इत्यादि ॥२८॥

अब **वीथी के अङ्गों** का निर्देश करते हैं।

व्याहारोऽधबलं गण्डः, प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम्।
असत्प्रलापो वाक्केली, नालिका मृदवं मतम्॥२९॥
उद्घात्यकावलगिते, अथावस्पन्दितं स्मृतम्।
भारतीवृत्तिवर्तीनि, वीथ्यङ्गानि त्रयादश॥३०॥

अनुवाद—ये तेरह वीथी के अङ्ग अनेक प्रकार के वक्रोक्तिरूप होने से भारती वृत्ति में हैं। वीथी इन अङ्गों की अङ्गी है, अतः इसमें भी भारती वृत्ति का लेश रहेगा ही॥३०॥

व्याहार का लक्षण

अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा, व्याहारो हास्यलेशगीः।

अनुवाद—अन्यार्था—दूसरे के लिए जहाँ हास्यपूर्ण वचन बोले जायें अथवा भविष्यत्-विषयक-अर्थ में जहाँ हास्यपूर्ण आलाप किया जाय उसे व्याहार कहते हैं। "विविधोऽर्थ आहूयते अनयेति व्याहारः"।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे—**मालविकाग्निमित्र** में—

"विदूषक—प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा एष्टव्या, सा त्वयां लङ्घिता।

परिव्राजिका—अहो! प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः।

(सर्वे प्रहसन्ति, मालविका स्मितं करोति)"

यहाँ नायक के विश्वासपूर्वक नायिका के दर्शन के लिए प्रयुक्त वाक्य हास्यकारी होने से व्याहार है।

अथवा—भावि दृष्टिर्वा—भविष्यत् विषयक-अर्थ वाला उपहास—

रत्नावली में राजा का वासवदत्ता के प्रति—"उद्दामोत्कलिकां" इत्यादि पद्य में है।

"अन्ये तु वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति"

कुछ लोग वर्तमान प्रत्यक्षार्थ विषयक हास्य पूर्ण वचन को व्याहार कहते हैं—

जैसे— **मृच्छकटिक** में विदूषक जब वसंतसेना के घर में प्रवेश करता है तब उसकी वृद्धामाता को देखकर कहता है—

"विदूषक—यदि म्रियेत, तदा शृगालसहस्रस्य पर्याप्ता" इत्यादि प्रत्यक्ष हास्यपूर्ण वचन होने से यह भी व्याहार है।

अधिबल का लक्षण

मिथो जल्पे स्वपक्षस्य, स्थापनाऽधिबलं बलात् ॥३१॥

अनुवाद—परस्पर विवाद में अपने पक्ष की बलात् स्थापना करना ही अधिबल है।

जैसे—**रघुविलास** नामक नाटक में—

मय व रावण का परस्पर विवाद—अधिबल है।

केचित्तु—"अन्योन्य वाक्याधिक्योक्ति स्पर्धयाऽधिबलं भवेद्" इति पठन्ति। विश्वनाथ, कविराज आदि स्पर्धा-अहंकार से परस्पर वाक्य की अतिशय उक्ति को अधिबल कहते हैं, यह पूर्वोक्त लक्षण से ही गतार्थ है।

गण्ड का लक्षण

गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं, प्रस्तुतानुगतं वचः।

अनुवाद—अन्याभिप्राय परक अकस्मात् उच्चारित वचन भी प्रस्तुत-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकृतसम्बन्ध परक होता हुआ (दुष्टार्थ संयुक्त होने से) गण्ड—स्फोट की तरह गण्ड कहा जाता है।

जैसे—**उत्तररामचरित** में—

(रामः सीतामालोक्य)

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृर्वर्तिनयनयोः"—इत्यादि से—

"किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तुविरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव ! उपस्थितः।

रामः—अयि कः ?

प्रतीहारी—देवस्य आसन्न परिचारको दुर्मुखः।" इति

यहाँ अन्याभिप्राय से युक्त प्रतीहारी का वचन प्रस्तुत राम के वचन से सम्बद्ध होने से यह गण्ड है।

प्रपञ्च का लक्षण

प्रपञ्चः सस्तवं हास्यं, मिथोमिथ्यैकलाभकृत् ॥३२॥

अनुवाद—मिथ्यालाभकृत्—जिससे कोई खास लाभ न हो ऐसे परस्पर हास्यपूर्ण वचन को प्रपञ्च कहते हैं—

जैसे—**रत्नावली** नाटिका में—कदली गृहाश्रित चित्रगत सागरिका को देखने के अवसर पर राजा व सुसंङ्गता का सम्वाद।

"केचित्तु—असद्भूतेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योऽन्यस्तवो हास्यहेतु तं प्रपञ्चमाहुः।"

कुछ लोग परदारादि के विषय में चातुर्यपूर्ण असत्—उपहास के हेतुभूत वचन को ही प्रपञ्च कहते हैं—

जैसे किसी कौल धर्म में दीक्षित भिक्षु का वचन—

रण्डा चण्डा दीक्षिताधर्म दारा,
मद्यं मांसं खाद्यते पीयते वा।
भिक्षाभोज्यं चर्मखण्डं च शय्या,
कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्य ॥

त्रिगत का लक्षण

त्रिगतं शब्द साम्येन, भिन्नस्यार्थस्य योजनम्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—शब्दों की समता के कारण भिन्नार्थ-प्रस्तुति से अन्य अर्थ की योजना ही त्रिगत है।

जैसे—विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के विरह में पुरुरवा की प्रश्नात्मिका यह उक्ति-पर्वत प्रतिध्वनित होने पर पुनः प्रश्न रूप में उपस्थित हो जाती है—"सर्वक्षितिभूतां नाथ ! दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्, मया विरहिता त्वया"—(नेपथ्ये तथैव प्रतिशब्दः)"

"राजा कथं दृष्टेत्याह" यहाँ प्रश्न वाक्य ही उत्तर के रूप में कल्पित है।

छल का लक्षण

वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोषकारणम् ॥३३॥

अनुवाद—प्रयोजनान्तर से प्रयुक्त वचन जब दूसरे के लिए हास्य-रोष व वञ्चना का कारण वन जाता है, वञ्चन के हेतुभूत उस वाक्य को छल कहते हैं।

जैसे—"कस्य न भवति रोषः" इत्यादि वचन सखी ने भर्ता के विश्वास के लिए प्रयुक्त यह वचन विदग्ध के हास्य, और श्वसुरादि जनों के वञ्चन व सपत्नी के रोष के लिए है।

असत् प्रलाप का लक्षण

असत्-प्रलापस्तत्त्वेन, हितं यन्नावगम्यते।

अनुवाद—हित पूर्ण उपकारक वचन को भी जहाँ मूर्खतावश तत्त्वेन हित की दृष्टि से न देखा जाय उसे असत्प्रलाप कहते हैं।

जैसे—**रामाभ्युदय** नामक नाटक में—

मारीच का हितपूर्ण वचन भी रावण मूर्खतावश नहीं मानता है—

मारीचः—स्वामिन् ! जीवतो रामस्य परिभव इत्यशक्यमेतत्, न खलु तापस इति तमवज्ञातुमर्हति देवः, अन्यदेव वस्त्वन्तरं तत्।

रावणः—(सक्रोधं) आः किं नाम वस्त्वन्तरं तत् ? मूढ ! इत्यादि।'

वाक्केलि का लक्षण

प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली, हास्या वाक् प्रतिवागपि ॥३४॥

अनुवाद—एक प्रश्न या अनेक प्रश्नों का उत्तर जहाँ हास्य वचन या विदग्धता पूर्ण उक्तियों से दिया जाय उसे वाक्केलि कहते हैं।

जैसे—कोई व्यक्ति किसी भिक्षु सें प्रश्न कर रहा है, और भिक्षु भी उपहास पूर्ण उतर दे रहा है, इस प्रकार इनकी उक्ति-प्रत्युक्ति अत्यन्त विदग्धता पूर्ण है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"प्रश्नः— भिक्षो ! मांस निषेवणं प्रकुरुषे ?

उत्तरम् – किं तेन मद्यं विना ?

प्रश्नः—मद्यञ्चापि तव प्रियम् ?

उत्तरम्—प्रियमहो ! वाराङ्गनाभिः सह ।

प्रश्नः -- वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनम् ?

उत्तरम्—द्यूतेन चौर्येण वा ।

प्रश्नः—चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः ?

उत्तरम्—नष्टस्य कान्या गतिः ।।

केचित्तु "साकाङ्क्षस्य वाक्यस्य विनिवर्तनं वाक्केलिम्" अधीयते । यथा उत्तररामचरिते—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयम्" इत्यादि उदाहरण विवरण में दिया है । विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में "अन्ये" कह कर एक और मत का उपन्यास किया है वह है—"अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।"

नालिका या नाली का लक्षण

हास्याय वञ्चना नाली

अनुवाद-- दूसरे के वञ्चनार्थ हास्य निमित्तक वचन को नाली कहते हैं। कुछ लोग इसे प्रहेलिका भी कहते हैं । जैसे -- रत्नावली नाटिका में—

सुसङ्गता व सागरिका का परस्पर संवाद

"सुसङ्गता—सखि यस्य कृते त्वमागता, सोऽत्रैव तिष्ठति ।

सागरिका—कस्य कृते अहं आगता ?

सुसङ्गता—ननु चित्रफलकस्य ।

अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृत्तः ।"

मृदव का लक्षण

व्यत्ययो गुणदोषयोः, मृदवम्

अनुवाद—जहाँ (उत्तर के द्वारा) गुणों को दोष और दोषों को गुण बना दिया जाय, उसे --"मृदा-परपक्ष मर्दनेन स्वपक्षमवति-रक्षतीति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार मृदव कहते हैं ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गुणों का दोष होना

तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया ।
सुखैकायतनं जातं, दुःखायैव ममाऽधुना ॥

अपने मित्र के प्रति किसी विरही की यह उक्ति है कि संयोग काल में उसकी नायिका के वे रूप सौन्दर्यादि सुख देने वाले थे, इसीलिए गुण थें, इस समय विरहावस्था में वे गुण दुःखरूपी दोष में परिणत हो चुके हैं ।

दोषों का गुण होना

प्रिय ! जीवितताक्रौर्य्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता ।
भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः ॥

किसी नायिका का संयोग काल में अपने प्रिय के प्रति उक्ति है कि उस वियोगावस्था में उसके प्राणों की जीवितता, रूपी जो क्रूरता थी, और निःस्नेहता, कृतघ्नता आदि जो दोष थे, वे सम्प्रति संयोग-दशा में गुण हो गये हैं ।

यहाँ दोषों को गुण रूप में दिखलाया गया है ।

उद्घात्यक का लक्षण

परस्परं स्याद्, उद्घात्यं गूढ़भाषणम् ॥३५॥

अनुवाद—प्रश्न कर्त्ता व प्रतिवक्ता का परस्पर उक्ति प्रत्युक्ति रूप जो गूढ़ भाषण उसे उद्घात्मक कहते हैं ।

जैसे—"का भूषा बलिनां क्षमा, किं दुःखं परसंश्रयः" इत्यादि ।

अवलगित का लक्षण

तच्चावलगितं सिद्धिः कार्यस्यान्यमिषेण या ।

अनुवाद—जहाँ अन्य कार्य के बहाने से किसी विवक्षित प्रयोजन की सिद्धि हो उसे अवलगित कहते हैं । जैसे— **उत्तररामचरित में**—

सीता जी को गर्भावस्था में वनविहार की इच्छा (समुत्पन्न) हुई, उसी वन-विहार के बहाने से लक्ष्मण का जनापवाद के कारण निर्जन अरण्य में परित्याग करना इत्यादि ।

अवस्पन्दित का लक्षण

स्वेच्छोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानं, यदवस्पन्दितं तु तत् ॥३६॥

अनुवाद—स्वेच्छा से कहे हुए वचनों का जो (अन्य के द्वारा) अन्यथा आख्यान है उसे अवस्पन्दित कहते हैं ॥३६॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे—वेणीसंहार नामक नाटक में शरत् वर्णन के अभिप्राय से सूत्रधार के द्वारा उक्त यह पद्य "सत्पक्षा मधुरगिरः" इत्यादि पारिपार्श्विक के द्वारा धार्तराष्ट्र-दुर्योधनादि परक अर्थ का आख्यान करना।

स्वां स्वां वैशेषिकीं हित्वा, सन्धि-वृत्यादिकां स्थितिम्।
सामान्या नाटकस्थान्या विज्ञेया रूपकान्तरे ॥३७॥

अनुवाद—सन्धि-वृत्यादि अपनी-अपनी विशेषता को छोड़कर शेष सभी कार्य व्यायोगादियों में नाटक की तरह सामान्य ही जानना चाहिए ॥३७॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित नाट्यदर्पण में एकादश
रूप-निर्णय नामक द्वितीय विवेक सम्पूर्ण हुआ।

विमर्शः—वीथी में ये पूर्वोक्त त्रयोदश अङ्ग अवश्य होने चाहिए, यद्यपि वे नाटकादि में भी हो सकते हैं, परन्तु उनमें इनका होना अत्यावश्यक नहीं है। वीथी यह एक प्रकार की नाना रसों की मालारूप होने से वीथी-पङ्क्ति के समान है। शेष सन्धि-वृत्ति-अङ्ग रस नायकादि की विशेषता को छोड़कर व्यायोगादि में भी पात्रोक्ति-वैचित्र्य-अङ्क-उपाय-दशा-सन्ध्यङ्गादि सारे कार्य-कलाप नाटकवत् समझने चाहिए ॥३७॥

**इति श्री थानेश चन्द्र उप्रेती विरचित नाट्यदर्पण-विमर्श में
एकादशरूप निर्णय नामक द्वितीय विवेक पूर्ण हुआ ॥३७॥**

———

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तृतीयो विवेकः

अथ वृत्ति-रस-भावाभिनय-विचार-स्तृतीयो विवेकः

अब क्रमशः वृत्तियों का निर्देश करते हैं—

भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।
रसभावाभिनयगाः चतस्रो नाट्यमातरः ॥१॥

अनुवाद—भारती, सात्वती, कैशिकी व आरभटी, रसों व भावों का अनुसरण करने वाली ये चार वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ "नाट्य-मातरः" अभिनेय काव्य की "माता" कही जाती है ॥१॥

विमर्शः—प्रथम विवेक के प्रारम्भ में रूपकों के निर्देश के प्रसङ्ग में "चत्वारः सर्ववृत्तयः" कह कर पुनः "त्रिवृत्तयः परेत्वष्टौ" कहा था। अर्थात्--नाटक-प्रकरण, व नाटिका-प्रकरणी इन चारों में ये भारत्यादि चारों वृत्तियाँ रहती हैं, शेष आठों में कैशिकी को छोड़कर तीन ही वृत्तियाँ रहती हैं। अब इस तृतीय विवेक में इन वृत्तियों का स्वरूप विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

रस व भावों का अनुसरण करने वाली इन वृत्तियों को नाट्य की माता कहा गया है अर्थात् ये वर्णनीय काव्य तत्त्वों की जननी है। यथोचित रस भावों से सुव्यवस्थित इन वृत्तियों से कवि हृदय में वर्णनीय विषय की स्फूर्ति उत्पन्न होती है। जैसा कि विवरण में लिखा है "वृत्तयश्चतस्रः नाट्यस्याभिनेय काव्यस्य मातर इव मातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कवि हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते" वृत्ति की व्याख्या करते हुए विवरण में कहा है कि "पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः" अर्थात्—पुरुषार्थ-धर्मार्थ-काम या नाट्य-प्रयोजन विशेष फल अथवा नाटक की सफलता का साधक विचित्र व्यापार ही वृत्ति है। नाट्य व्यापार रस भावाभिनय संबलित होता है। यह व्यापार मानासिक व्यापार है। नेता-अन्य पात्रादिकों का मानसिक व्यापार विशेष ही वृत्ति है, जैसा कि धनञ्जय के टीकाकार धनिक ने भी दशरूपक में कहा है "प्रवृत्तिरूपो नेतृ-व्यापार स्वभावो वृत्तिः" नेतृ शब्द यहाँ उपलक्षक है। इससे पात्रों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि नाटक में विदूषक भी हास्य के लिए कोई चेष्टा करता है तो वह भी मन या बुद्धि से कुछ समझ कर ही करता है।

ये वृत्तियाँ चार हैं—**भारती, सात्वती कैशिकी व आरभटी।**

अभिनव गुप्त ने इन चारों का स्वरूप **नाट्यशास्त्र** की व्याख्या अभिनवभारती में इस प्रकार दिखलाया है—"पाठ्य-प्रधाना भारती, अभिनयप्रधाना सात्वती, अनुभावाद्यावेशमयरसप्रधाना आरभटी, गीतवाद्योपरञ्जकप्रधाना कैशिकी इति।

भारती वृत्ति का लक्षण

सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता।
प्रातः संस्कृतनिःशेष-रसाढ्या वाचि भारती ॥२॥

अनुवाद—भारती वृत्ति सभी रूपकों में सामान्य रूपेण रहती है, आमुख व प्ररोचना इसके अङ्ग होते हैं—यह वाग् व्यापार प्रधान रहती है ॥२॥

यह प्रायः संस्कृत भाषा में ही होती है, और सभी रसों से सम्पन्न रहती है ॥२॥

विमर्शः—भारती वृत्ति सभी रूपकों में चाहे वे अभिनेय हों अथवा अनभिनेय सामान्य रूप से रहती है। यह आमुख व प्ररोचना से युक्त रहती है। भारती वृत्ति में सभी रसों का समावेश रहता है। इसमें अधिकतर संस्कृत भाषा ही रहती है।

कुछ लोग करुण व वीभत्स रस को ही भारती वृत्ति में मानते हैं। उनके प्रति विवरणकारों का आक्रोश इस प्रकार है—"**ये तु भारत्यां वीभत्सकरुणौ प्रपन्नाः, तैः सर्वरसवीथी प्रधानशृङ्गारवीरभाण-प्रधानहास्यप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यां वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि।**" इसमें वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है।

भारती रूप—वाग्व्यापार प्रधान होने से इसका नाम भारती वृत्ति है—

जैसा कि **दशरूपक** में धनञ्जय ने भी कहा है—

"भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥"

प्रायः संस्कृत भाषा में नट के द्वारा किया गया वाचिक व्यापार ही भारती है। इसके अन्तर्गत कायिक व मानसिक व्यापार नहीं आता है। इसलिए यह शब्द वृत्ति रूप है। "प्रायः" संस्कृत में प्रायः शब्द इसलिए दिया गया है कि कहीं यह प्राकृत भाषा में भी होता है ॥२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब **भारती** वृत्ति के अङ्ग आमुख का लक्षण कहते हैं—

विदूषक नटी-मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत्तदामुखम् ।।३।।

अनुवाद—विदूषक-नटी और पारिपार्श्व के, सूत्रधार—(नाट्यार्थ-स्थापक) के साथ, वक्रोक्त अविवक्षितार्थ या स्पष्टोक्ति विवक्षितार्थ पूर्ण विचित्र वाक्यों द्वारा जहाँ प्रस्तुत अर्थ के आक्षेप कारक भाषण—आलाप करते हैं उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं ।।३।।

विमर्शः—पारिपार्श्विक ही विदूषक के वेष को धारण कर जब रङ्गमञ्च में नाटकीय वस्तु के स्थापक सूत्रधार के साथ प्रस्तुत कार्य के सूचक विभिन्न वाक्यों के द्वारा जब बातचीत करते हैं, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं ।

आमुख इसे इसलिए कहते हैं कि यह कार्य मुख सन्धि पर्यन्त रहता है। इसीलिए आङ् उपसर्ग यहाँ मर्यादा में है, अथवा ईषदर्थ यदि यह आङ् माना जाय तो "ईषन्मुखम्" का अर्थ होगा मुख सन्धि की किञ्चित् सूचनापूर्वक आरम्भ । इसीलिए इसको प्रस्तावना भी कहते हैं। कभी-कभी तो रङ्ग सूत्रक अर्थात् सूत्रधार ही आमुख के कृत्य को सम्पन्न कर लेता है । अतः नाटकों में प्रायः यह देखा जाता है—"नान्द्यन्ते-सूत्रधारः" इत्यादि । नान्दी पूर्वरङ्ग का अङ्ग है । कहीं-कहीं नान्दी सहित रङ्ग कृत्य को करके जब सूत्रधार निवृत्त हो जाता है तो तत्तुल्य वेशाकृति दूसरा स्थापक आमुख के कृत्य का सम्पादन करता है। जैसे—**अनङ्गवती** नाटिका में देखा जाता है—"पूर्वरङ्गान्ते-स्थापकः" इत्यादि ।

सूत्रधार के सदृश होने से स्थापक भी सूत्रधार ही कहा जाता है । सूत्रधार के अनुचर को पारिपार्श्विक कहते हैं । उससे कुछ निम्न श्रेणी का पात्र नट है । नट की स्त्री को ही नटी कहते हैं ।।३।।

आमुख के अङ्गभूत—पात्र-प्रवेश का लक्षण कहते हैं—

वाक्यार्थ-समयाह्वानै-र्भावोक्तैः पात्रसङ्क्रमः ।।

अनुवाद—जहां पात्र सूत्रधार के वाक्य, अर्थ, समय, या नाम संज्ञा को लेकर प्रविष्ट होता है, उसे पात्र सङ्क्रम या पात्र प्रवेश कहते हैं । अन्यत्र इसे कथोद्घात कहा है ।

सूत्रधार के वाक्य को लेकर पात्र-प्रवेश जैसे **सत्यहरिचन्द्र** नामक नाटक में—

सत्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।
प्रभविष्णुर्नदेवोऽपि, किं पुनः प्राकृतो जनः ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एतदेव पठत् हरिश्चन्द्रः प्रविशति ।

अर्थ को लेकर पात्र-प्रवेश **वेणीसंहार** नामक नाटक में—

"स्वस्था भवन्तु कुरुराज सुताः सभृत्याः"

सूत्रधार के द्वारा पढते इस वाक्य के अर्थ को लेकर (नेपथ्य में) "आः दुरात्मन् वृथामङ्गलपाठक, कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः" इत्यादि से भीम का प्रवेश ।।

आह्वान—नाम के द्वारा पात्र-प्रवेश—

जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल में—

"तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः
एवराजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा"—

इत्यादि सूत्रधार के वाक्य नामोच्चारण के बाद दुष्यन्त का प्रवेश ।।

भारती वृत्ति के द्वितीय अङ्गभूत प्ररोचना का लक्षण कहते हैं—

पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या, सभ्यौन्मुख्ये प्ररोचना ।।४।।

अनुवाद—पूर्वरङ्ग (नाट्यशाला में जब सामाजिकों के मनोरञ्जन हेतु सर्वप्रथम गीत-वाद्य-नृत्य आदि का पृथक् अथवा सामूहिक रूप से जहां प्रयोग किया जाता है, उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं) में नाट्यकथावस्तु के गुण कीर्तन द्वारा जहां सामाजिकों को उन्मुख किया जाता है उसे प्ररोचना कहते हैं। प्ररोचना की व्युत्पत्ति विवरण में इस प्रकार दिखलाई है—

"प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनं प्रकृतोऽर्थः, प्रकर्षेण रोच्यन्ते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना—

जैसे—क्षीरसागर विरचित **अभिनव राघव** में—

"स्थापकः—(सहर्षं) आर्ये ? चिरस्य स्मृतम् ।

अस्त्येव राघवमहीनकथापवित्रम् ।
काव्यप्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्नः ।।
भट्टेन्दु - राज-चरणाब्ज-मधुव्रतस्य ।
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम् ।।

अथवा

जैसे—**रत्नावली नाटिका** में—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषागुणग्राहिणी ।
लोके दारि च वत्सराज चरितं नाटये च दक्षा वयम् ॥
वस्त्वैकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते पदं किं पुन ।
मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गण ॥४॥

सात्वती वृत्ति का लक्षण

सात्वती सत्ववागङ्गाभिनेयं कर्ममानसम् ।
सार्जवाधर्ष-मुद्-धैर्य-रौद्र-वीर-शमादभुतम् ॥५॥

अनुवाद—सत्त्व-मन अर्थात् मानसिक-वाचिक व आङ्गिक अभिनयों से पूर्ण होने पर भी जहां मानसिक कर्म व्यापार की प्रधानता हो, जो ऋजता-आधर्ष-तिरस्कार-मुद्-हर्ष-धैर्य आदि भावों से युक्त हो और जो वीर, रौद्र, शान्त व अदभुत रसों वाली वृत्ति है, उसे सात्वती वृत्ति कहते हैं ॥५॥

विमर्शः—सत्त्व नाम प्रकाश का है, वह प्रकाश जहां हो उसे सत्त्ववत् अर्थात् प्रकाश युक्त मन कहेंगे तत्र भवा—ऐसे मन में होने वाली जो वृत्ति उसे सात्वती वृत्ति कहते हैं । अर्थात्—सात्विक मन में रहने वाला विविध भाव व रसों को अभिव्यक्त करने वाला वाचिक व आङ्गिक अभिनयों को भी प्रकट करने वाला मानसिक व्यापार विशेष ही सात्वती वृत्ति है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

"सत् सत्त्वं प्रकाशस्तद् यत्रास्ति तत् सत्वन्मनस्तत्र भवा सात्वती" सांख्य दर्शन के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु जब त्रिगुणात्मक हैं तो मन भी त्रिगुणात्मक है, अर्थात् सत्व, रज व तमो गुण से युक्त है । पर इस सात्वती वृत्ति में त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्व ही की प्रधानता रहती है, अन्य रज व तम यहां सत्त्व से अभिभूत रहते हैं और सत्त्व का कार्य प्रकाश है, अतः इसमें हर्षादि भावों की और शान्तादि रसों की प्रधानता रहेगी । मानसिक व्यापार के लिए सत्त्व की अधिकता अपेक्षित भी है । यद्यपि अभिभूत रज व तम भी किञ्चित् मात्रा में रहेंगे ही—तत्कार्यस्वरूप वागङ्गाभिनय की सत्ता रहेगी परन्तु सत्त्व के प्रधान होने से इसमें मानसिक व्यापार की ही प्रधानता रहती है । इसी अभिप्राय को लेकर विवरण में भी कहा है—

"अभिनयत्रयाभिधानेऽपि मानसव्यापारस्य सत्वप्रधानत्वात् सत्वाभिनय एवात्र प्रधानमितरौ गौणौ, अत एव सत्त्वशब्दः प्रथममुपात्तः" अतएव आर्जव-आधर्ष-मुद् धैर्यादि भावों का वर्णन रहता है । रौद्र-रस में भी किन्हीं के मत में प्रकाशरूप सत्त्व रहता ही है । वीर-रस से यहां युद्ध-दान-दया-वीरादि का ही ग्रहण करना चाहिए । यह भी सत्त्व-बाहुल्य से ही सम्भव है । शान्त रस शम स्थायि भाव वाला है । यह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सत्त्वैकवृत्ति है, तभी अरिषड् वर्ग (काम-क्रोध-मद-मात्सर्य-ईर्ष्या-लोभादि) पर विजय हो सकती है। अद्भुत रस भी सत्त्व प्रकृति होने से वस्तु वैचित्र्य जन्म विस्मय सम्भव ही है।

दशरूपककार धनञ्जय का कथन भी करीब-करीब इसी प्रकार का है। इनका कहना है, यद्यपि मानसिक व्यापार अनेक प्रकार का हो सकता है, तथापि नाट्याचार्यों ने इन चार भावों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है—

"विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः। शोकहीनः सत्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायक व्यापारः सात्वती ॥५॥

कैशिकी वृत्ति का लक्षण

कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-नर्म-भिदात्मिका।

अनुवाद—कैशिकी वृत्ति में हास्य व शृङ्गार रस का वर्णन रहता है, और यह नाट्य-नृत्य-गीत-वाद्य युक्त रहती है। इसमें नर्म-वाग् वेष व चेष्टाओं से अग्राम्य परिहास भी रहता है॥

विमर्शः अत्यन्त लम्बे-लम्बे केश होने से स्त्रियों को केशिका कहा जाता है, इन्हीं स्त्रियों की प्रधानता या बाहुल्य के कारण इस वृत्ति का नाम भी कैशिकी वृत्ति कहा गया है। जैसा कि विवरण में कहा है—

"अतिशायिनः केशा सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः, स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्, तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो विशेष प्रकार की वेष-भूषा, हास्य शृङ्गारादि नर्म-चेष्टाओं से चित्रित हो, जिसमें स्त्री पात्रों की प्रचुरता, उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं।

इसमें नर्म भी तीन प्रकार का होता है वाणी से, वेष से व चेष्टा से। वाणी द्वारा हास्य नर्म—

जैसे—कुमारसम्भव महाकाव्य में—

पार्वती के चरणों में अलक्तक लगाकर सखी ने आशीष दी कि इनसे पति के शिर की चन्द्र कला को स्पर्श करो - इत्यादि सखी का पार्वती विषयक परिहास—

"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन,
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वकम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
र्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेष द्वारा हास्य नर्म जैसे—नागानन्द नाटक में विदूषक व शेखरक के प्रसङ्ग में है।

चेष्टा द्वारा हास्य नर्म—जैसे—**मालविकाग्निमित्र** नाटक में—जब निपुणिका—विदूषक के ऊपर सूर्य जैसा टेढ़ा दण्ड काष्ठ गिराती है।

इस वृत्ति में श्रृङ्गार रस द्वारा मानसिक अभिनय, हास्य द्वारा वाचिक अभिनय और नाट्य-नृत्य-गीत-वाद्य द्वारा कायिक अभिनय सङ्गृहीत होता है। इसीलिए यह तीनों व्यापारों की संगम स्वरूप वृत्ति है।

विश्वनाथ कविराज के शब्दों में इस वृत्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

याश्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसङ्कुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥

आरभटी वृत्ति का लक्षण

आरभट्यनृत-द्वन्द्वछद्म-दीप्तरसान्विता ॥६॥

अनुवाद—आरभटी वृत्ति में अनृत-मिथ्या-युद्ध-छल-छद्म-माया-इन्द्रजालादि का वर्णन रहता है, और (औद्धत्य-आवेगादि के हेतु) रौद्रादि-दीप्त रसों से यह परिपूर्ण रहती है॥

विमर्शः—"आरेण-प्रतोदकेन-(अङ्कुशेन)तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटास्ते सन्त्यस्यामिति आरभटी।" आर अर्थात् अङ्कुश के समान उद्धत योद्धा पुरुष आरभट कहे जाते हैं, उन आरभटों का है वर्णन जिसमें उस वृत्ति का नाम आरभटी वृत्ति है। आरभटी वृत्ति नाना प्रकार के इन्दजाल—संग्राम-क्रोध व विचित्र नेपथ्य-भय-हर्षातिशयादि-उद्भ्रान्ति-पूर्ण चेष्टाओं से युक्त रहती है।

यह वृत्ति सभी प्रकार के—आङ्गिक-वाचिक व सात्विक व्यापारों से युक्त रहती है। इसीलिए विवरण में इस वृत्ति को "सर्वाभिनयात्मिका सर्वव्यापारात्मिका च" कहा है।

धनञ्जय व विश्वनाथ ने तो इसके चार अङ्गों का भी वर्णन किया है वे हैं वस्तूत्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति अवपातन।

माया-इन्द्रजालादि से उत्थित वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं।

क्रुद्ध तथा उत्तेजित दो व्यक्तियों के परस्पर प्रहार को सम्फेट कहते हैं। शिल्प द्वारा संक्षिप्त रूप में किसी वस्तु की रचना करना संक्षिप्ति है। भास—भयपूर्वक या विद्रव-उपद्रवादि से जहां पात्रों का निष्क्रमण व प्रवेश हो उसे अवपातन कहते हैं। भरत के **नाट्यशास्त्र** के अनुसार इन वृत्तियों में उत्तम-मध्यम व अधम प्रकृतियों के चेष्टा-व्यापार दिखलाये जाते हैं, जो धर्मार्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों से युक्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होते हैं। इनमें वाणी, शरीर व मन की चेष्टायें सर्व सामान्य रूपेण रहेंगी। क्योंकि कोई भी क्रिया बिना वाणी-मन एवं शरीर व्यापार के सम्भव नहीं है। नाट्य में इन्हीं व्यापार विशेष वृत्तियों में लालित्य व वैचित्र्य के द्वारा सौष्ठवाधान किया जाता है, जिनसे नाटक की रोचकता या सुन्दरता भी सामाजिकों के लिए स्पृहणीय होती है।

इन वृत्तियों में—भारती वृत्ति वाक्-वृत्ति है। सात्वती वृत्ति-मनोव्यापार रूप है। सत् यह संवेदन ज्ञान का नाम है, जो कि प्रख्यारूप है। यह प्रख्यारूप संवेदन जिसमें हो वह सत्व मन है, उस मन की यह वस्तु सात्वती है। जैसाकि भरत नाट्य शास्त्र के व्याख्याकार महामाहेश्वर श्री अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है—"मनो व्यापार रूपा सात्विकी-सात्वती। **सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम्, तद्यत्रा स्त तत्सत्त्वं मनः, तस्येयमिति।**" जो चलते हैं, क्रियाशील हैं वे आरभट हैं, आलस्य रहित अनलस हैं उन उत्साह सम्पन्न व्यक्तियों के व्यापार का नाम आरभटी है। यह कायवृत्ति है, जैसा कि अभिनवभारती में इसका विग्रह किया है—

"इर्यति इत्यरा भटाः सोत्सहा अनलसाः, तेषामियमारभटी कायवृत्तिः।"

कुछ भी क्रिया को न करने वाले को केश कहते हैं, जो केवल शरीर शोभा मात्र के आधायक हैं। उसी तरह सौन्दर्योपयोगी व्यापार का नाम **कैशिकी** वृत्ति है।

अभिनव गुप्त के शब्दों में यह इस प्रकार है—**"केशाः—किञ्चिदप्यर्थजातम-कुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः तद्वत् सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकी वृत्ति रिति।"**

"एवं यत् किञ्चिल्लालित्यं तत्सर्वं कैशिकी विजृम्भितम्।"

जो कुछ भी ललित व्यापार है, वह सब कैशिकी वृत्ति का विलास है। इस कैशिकी वृत्ति का प्रयोग ऋषि लोग नहीं कर सकते, इसीलिए उस विभु-ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि की। इसका निर्देश भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय के छियालीसवें श्लोक में किया है—

जो इस प्रकार है—

अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुः स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः ॥१.४६॥

अतः यह कहना युक्तियुक्त ही है कि नाटक को सुललित व रमणीय बनाने में **कैशिकी** वृत्ति का अपना स्थान है। इसीलिए सभी रसों व सभी प्रयोगों में इसका उपयोग सर्वथा उचित है। एक तरह से यह नाट्य का प्राण है।

उद्भट के अनुयायी कुछ आचार्य पांचवीं अर्थवृत्ति को भी मानते हैं, ऐसा दशरूपककार धनञ्जय का कहना है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥" इत्यादि ।

परन्तु दशरूपक के टीकाकार धनिक ने वहीं इसका प्रत्याख्यान भी कर दिया है—इनका कहना है कि पञ्चमी वृत्ति-अर्थवृत्ति, तो कहीं भी लक्ष्य ग्रन्थों में परिलक्षित नहीं होती और रसों का भी कहीं इसमें समन्वय नहीं दिखाई देता है, क्योंकि सभी रसों का समावेश या स्वरूप तो इन प्रसिद्ध चार वृत्तियों में ही समा जाता है और नीरस वस्तु काव्यार्थ नहीं हो सकती है—

"सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां त्वात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात् ।"

इन वृत्तियों की प्रयोग व्यवस्था का निर्देश दशरूपक में इस प्रकार दिखलाया है—

श्रृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ।।

शृङ्गार रस में कैशिकी वृत्ति, वीर में सात्त्वती तथा रौद्र और वीभत्स रस में आरभटी वृत्ति होती है । भारती वृत्ति सभी रसों में प्रयुक्त होती है ॥

वृत्तियों के सामान्य स्वरूप वर्णन के प्रसङ्ग में वृत्तियों को—"रसभावाभिनयगाः" अर्थात्—वृत्तियां रस भाव व अभिनय का अनुसरण करती हैं, ऐसा कहा है । कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण नाट्य-व्यापार रस भावन्य अभिनय से समन्वित होता है । अतः वृत्तियों के स्वरूप निर्णय के बाद अब रस भावादि के स्वरूप का विवेचन आवश्यक है इसलिए सर्वप्रथम नाट्य-रस के स्वरूप का निर्देश करते हैं—

स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो, विभाव-व्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभाव निश्चेयः, सुख-दुःखात्मको रसः ।।७।।

अनुवाद- विभाव-ललना-उद्यानादि, आलम्बन व उद्दीपन रूप वाह्य-हेतु विशेष से आविर्भूत व्यभिचारी भाव, रसिक मनः-स्थित हर्ष, मदगर्वादि भावों से परिपुष्ट और कटाक्ष-भुजाक्षेपादि-रूप अनुभाव कार्य विशेष से उपचित या निर्णीत रत्यादि स्थायी भाव—जब इन सभी भावों से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ अर्थात् प्राधान्येन अभिव्यक्त हुआ या सामाजिकों की अनुभूयमान-दशा को प्राप्त करता हुआ सुख-दुःख स्वभाव वाला यह पूर्वोक्त रत्यादि स्थायी भाव ही रस है ।।७।।

विमर्शः—विभाव दो प्रकार का होता है आलम्बन विभाव व उद्दीपन विभाव ।

आलम्बन विभाव—नायक व नायिका होते हैं—जैसे **अभिज्ञान शाकुन्तल** में दुष्यन्त के लिए शकुन्तला आलम्बन विभाव है, और शकुन्तला के लिए

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दुष्यन्त आलम्बन विभाव है। ये परस्पर एक-दूसरे के रति-अनुराग के आलम्बन हैं, इसीलिए इनको आलम्बन विभाव कहा जाता है।

उद्दीपन विभाव उसी उदीयमान रति या अनुराग को उद्दीप्त करने में सहायक सामग्री है—यह है, चन्द्र-चाँदनी, चकोर-उद्यानादि। इनके द्वारा परस्पर रति या अनुराग उद्दीप्त होता है इसीलिए इन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं।

अनुभाव—अनु-पश्चात् उसी भाव-रति-अनुराग विशेष का बोधक जो भाव है उसको अनुभाव कहते हैं। यह एक प्रकार से विभाव का कार्य है, जिसके द्वारा रति आदि के कारणों का अनुमान किया जाता है, अथवा रति आदि स्थायी भावों की स्पष्टतया प्रतीति होती है। ये हैं—रति स्थायिभावात्मक शृङ्गार में कटाक्षभुजाक्षेपादि जिनसे नायक व नायिका के परस्पर अनुराग की स्पष्टरूप से प्रतिपत्ति होती है।

व्यभिचारिभाव या सञ्चारी भाव वे हैं जो स्थायी रत्यादि के सन्निकट सहायक रूप में सञ्चरण करते रहते हैं। ये हर्ष, चिन्ता, ग्लानि, मद, गर्व इत्यादि तैंतींस भाव हैं। इनकी सहायता से रत्यादि भाव और पुष्ट होते हैं, इसलिए इन्हें सहकारी कारण भी कहते हैं। इस प्रकार विभावादि से आविर्भूत अनुभावों से प्रणीत योग्य और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट हुआ—यह सुख-दुःखात्मक रत्यादि स्थायी भाव जब प्राधान्येन उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं, अर्थात् अभिव्यक्त होते हैं, तब रस इस संज्ञा को प्राप्त करते हैं अर्थात् सुख-दुःख स्वभाव वाले ये रत्यादि स्थायी भाव सहृदयों के द्वारा आस्वाद के योग्य होते हैं। अन्य आचार्य रस को आनन्द स्वरूप मानते हैं, परन्तु रामचन्द्र व गुणचन्द्र के मत में रस केवल सुख स्वरूप (आनन्दात्मक) न होकर सुख-दुःख स्वभाव वाला है। इसीलिए रस के विषय में इन्हें विभज्यवादी कहा गया है।

इनका मत है कि—शृङ्गार-हास्य-वीर अद्भुत व शान्त ये रस तो अभीष्ट विभावादि से उपचित होने के कारण सुखस्वरूप है। पर करुण, रौद्र, वीभत्स व भयानक ये चार अनिष्ट विभावादि जन्य होने के कारण दुःखात्मक हैं। जो लोग सभी रसों को सुखात्मक ही मानते हैं या इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं मानते हैं वे मोटी अकल वाले हैं और यह बात तो अनुभव सिद्ध भी है कि भयानक, वीभत्स, करुण व रौद्र इन रसों की भयानक व क्लेशादि दशा को देखकर सामाजिक उद्विग्न सा होता है। इनमें जो कवि, नट आदि का शक्ति-कौशल है, मायेन्द्रजाल-विचित्र संग्रामादि ये चमत्कार विशेष ही कवि व सहृदयों की लेखन व प्रेक्षण प्रवृत्ति को प्रेरित करते हैं।

कवि लोग सुख-दुःखादि प्रपञ्च परिपूर्ण इस संसार की दशा का या किसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आदर्श पुरुष की सांसारिक दशा का वर्णन सुख-दुःख रसानुकूल ही करते हैं और सहृदय भी इनका आस्वादन पानक रस की तरह कर लेते हैं। जैसे पानक रस में गुड़ मरिच अम्लादि के संसर्ग से कुछ अपूर्व आनन्द आता है। पर उनमें भी तीक्ष्ण मरिचादि का स्वाद सभी के लिए सुखद नहीं होता उसी प्रकार सुख-दुःखात्मक यह प्रपञ्च परिवेश भी किसी अंश में मनोहर है तो अन्य किसी अंश में वीभत्स भी है। तदनुरूप साहित्य या काव्य का निर्माण करने में तल्लीन कवि भी सुख-दुःखात्मक भावों के वर्णन में व्यग्र रहता है।

रस का लक्षण

यह विभावानुभाव-व्यभिचारि भावों से अभिव्यक्त हुआ रत्यादि स्थायी भाव रस—अथवा उक्त भावों से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ रत्यादि चित्तवृत्ति रूप यह स्थायी रूप भाव-रस किसमें रहता है? क्या जिनका नाटक में अनुकरण किया जा रहा है उन राम युधिष्ठिरादि अनुकार्यों में रहता है अथवा जो पात्र नट-नायक आदि उन महापुरुषों का अनुकरण कर रहे हैं उन नट-नायकादि अनुकर्ताओं में ? या जो उक्त महानुभावों के चरित्र को देखने की अभिलाषा से रङ्ग-मञ्च में पधारे हैं, जिन्हें रस नाट्य सभा में साधु शिक्षा के ग्रहण करने का यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इसीलिए इन्हें सभायां साधु—सभ्य इस संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। इन सभ्यों-सामाजिकों में रस रहता है अर्थात् इन तीनों में अनुकार्य, अनुकर्ता व सामाजिकों में से रसास्वादन कौन करता है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रकृत-ग्रन्थकारों का कथन है कि - उत्कर्ष को प्राप्त हुई रत्यादि चित्तवृत्ति ही तो रस है, वह अचेतन काव्य में तो नहीं रह सकती अतः काव्यार्थ परिशीलनकर्ता सामाजिक में ही रसाविर्भाव उचित है। ये सामाजिक अपने आन्तरिक सुख की तरह रस का आस्वादन करते हैं न कि बाह्य वस्तु जन्य सुख की तरह। जैसे मोदकादि बाह्य वस्तु से सुखास्वाद होता है, उससे विलक्षण काव्यार्थ भावना जन्य रस का आस्वाद है—

"श्रितोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूपः स्थायी भावो रसः, स चाचेतनस्य काव्यस्यात्माधेयो वा कथं स्यात् ? ततः काव्यर्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तृणां रसाविर्भावः। प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति, न पुनः बहिःस्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति। अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य।"

इसलिए रस का आस्वादक सामाजिक ही है, नट-अनुकर्ता या अनुकार्य रामादि नहीं। जैसा कि विवरण में लिखा है—"काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्याऽसत्त्वात्, असतश्चापि प्रत्ययेऽहृदयस्यापि प्रतीति स्यात्। ततो विभावप्रतिपादककाव्यप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तुरेव स्थायी रसो भवति, तद्धेतुत्वाच्च काव्यं रसवदिति।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रस—अनुकर्तागत, या अनुकार्यगत है अथवा सहृदयनिष्ठ है? इनमें विभिन्न विद्वानों का पृथक्-पृथक् विचार है और आस्वाद्यमान रस स्वरूप तथा उसके उन्मेष के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। इन मत-मतान्तरों का विभिन्न स्वरूप हमें भरत के **नाट्य-शास्त्र** की व्याख्या—अभिनव गुप्त की अभिनव**भारती** के रस-सूत्र की व्याख्या में तथा काव्यप्रकाश व रसगङ्गाधर आदि ग्रन्थों में मिलता है।

भरत ने **नाट्य-शास्त्र** के छठे अध्याय में अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र का उपक्रम दिखलाते हुए कहा है—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
"तत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" ॥१॥

अब रसों की पूर्ण व्याख्या करेंगे—क्योंकि काव्य व नाट्य में रस के बिना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता है। अतः रस का स्वरूप दिखलाना परमावश्यक है—

"विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है॥" भरत के नाट्य शास्त्र के व्याख्याताओं ने अपने-अपने पक्ष में इस सूत्र की व्याख्या की है जिसका उल्लेख अभिनव गुप्त ने अपने प्रौढ व विस्तृत व्याख्या **अभिनव भारती** में किया है। वहां का व्याख्यान अत्यन्त गम्भीर व दुर्विज्ञेय है, इसलिए संक्षेप में उन आचार्यों के मतों का सार यहां दिखलाया जाता है—

भट्ट लोल्लट, शङ्कुक व भट्ट नायक अभिनव गुप्त ये तीन आचार्य हैं। इन लोगों ने अपना-अपना व्याख्यान क्रमशः मीमांसा दर्शन, न्यायदर्शन व सांख्य दर्शन व साहित्यशास्त्र की छाया में प्रस्तुत किया है, जिसका संक्षेप में निर्देश हमने "काव्य प्रकाश एक अध्ययन" नामक ग्रन्थ में किया है। जिज्ञासुओं को वहीं से इनके मन्तव्यों का आशय जानना चाहिए, यहां तो हम सिर्फ इनकी रसोन्मीलन प्रक्रिया व रसाश्रय के स्वरूप मात्र का विवेचन थोड़े शब्दों में करेंगे—

भट्ट लोल्लट—भट्ट लोल्लट के मत में वस्तुतः रस अनुकार्य रामादि में रहता है, परन्तु रामादि के वेश-भूषादि से सुसज्जित (राम का अभिनय करने वाले) नट में भी प्रतीत होता है, क्योंकि वह राम की ही तरह अभिनय करता है। इसलिए सामाजिक भ्रान्तिवश इसी को राम समझ लेते हैं, बस यही भ्रान्ति सामाजिकों के रसास्वाद में हेतु होती है। सूत्र में आये हुए संयोगात् व निष्पत्ति का अर्थ इन्होंने संयोगात् का-उत्पाद्य-उत्पादक भावात् किया है, और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। इस मत में अरुचि यही है कि एक तो रस सामाजिक-निष्ठ न होकर अनुकार्यगत है, दूसरा भ्रान्ति-मिथ्या ज्ञान से सामाजिकों का आस्वाद वर्णन होना अनुचित है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शङ्कुक—रससूत्र के दूसरे व्याख्याकार शङ्कुक है। इन्होंने रस **अनुकर्तृगत**—अर्थात् रामादि के वेष-भूषादि का अभिनय करने वाले नट में माना है,। इसी के शिक्षाभ्यासादि के कौशल से कृत्रिम—हाव भावों को भी सामाजिक अकृत्रिम जैसा समझ लेता है और नट के हावानुभावादियों के हेतु नट को पक्ष बनाकर उसमें रति का अनुमान कर लेता है, बस यह अनुमीयमान रति ही रस है, ऐसा शङ्कुक का कथन है।

इस मत में भी अरुचि यह है कि रस का जब साक्षात्कार होता है तभी यह आस्वाद्यमान होता है। अनुमीयमान रस इस प्रकार का चमत्काराधायक नहीं होता है। ये संयोगात् व निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः गम्यगमकभावात् और अनुमिति करते हैं।।

भट्ट नायक—भट्ट नायक के मत में रस न तो अनुकार्यगत है, और न ही अनुकर्तृगत है, और न यह स्वगत और परगत ही है। अपितु रस का आस्वादन सहृदय या सामाजिक करता है। जब भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का सामान्यरूप हो जाता है तब भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस का भोग या आस्वाद होता है। इसके मत में विभावादि भोजक हैं और रस भोज्य है, अतः ये संयोगात् का अर्थ भोज्य-भोजक व्यापारात् और निष्पत्ति का अर्थ युक्ति करते हैं। इनके मत में अरुचि यही है कि इन्होंने दो अतिरिक्त व्यापार—भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की जिसमें कोई प्रमाण नहीं है, और रस की अभिव्यक्ति न मानकर भुक्ति कहा। इनके द्वारा उद्भावित साधारणीकरण व्यापार का अनुकरण बाद में किया।

अभिनव गुप्त—अभिनव गुप्त रससूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता थे। इन्होंने साहित्यशास्त्र के अनुरूप इस सूत्र की व्याख्या की है। परवर्ती सभी आचार्यों ने एक स्वर से इनके मत का अनुमोदन किया है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में तो स्वयं अपना कोई मत न दिखाकर इनके मत को ही अपना मत मान लिया। इन्होंने भी रस को सहृदयनिष्ठ-सामाजिक में ही माना है। इसके लिए साधारणीकरण व्यापार को भी माना और रस की उत्पत्ति, अनुमिति व मुक्ति न मानकर व्यञ्जना व्यापार के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति ही मानी है। फलतः इनके अनुसार सूत्र में आए हुए संयोगात् शब्द का अर्थ—व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावात् है, और निष्पत्तिः—इस शब्द का अर्थ—अभिव्यक्ति है।

भरत सूत्र के प्रख्यात व्याख्याकार यही चार हैं, आगे इन्हीं के मतों को लेकर संक्षेप या विस्तार रूप में विवेचन होता गया।

दशरूपककार का रस विषयक विचार—

दशरूपककार-धनञ्जय का कहना है कि—विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव व व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने अपनी अवलोक टीका में लिखा है कि "श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्त्यमानोरत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी-स्वाद-गोचरताम्, निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः काव्यं तु तथा-विधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद्, आयुर्घृतमित्यादि व्यपदेशवत् ।"

अर्थात्—श्रोताओं और दर्शकों के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव जब विभावादि के द्वारा अत्यधिक आनन्दमय अनुभूति के योग्य कर दिये जाते हैं तब वे रस कहलाते हैं । इस प्रकार सामाजिक-सहृदय ही रस का आस्वादन करते है । काव्य तो केवल रसास्वाद का उद्बोधक होने के कारण रसवत् है, "आयुर्घृतम्" इत्यादि व्यवहार की तरह ।

इनके मत में भी रस सहृदयनिष्ठ ही है, और वह आनन्दमय है । परन्तु ये उस आनन्दमय रस के समुन्मीलन (प्रक्रिया) के लिए व्यञ्जना व्यापार को न मानकर, मीमांसक-सम्मत-तात्पर्यावृत्ति द्वारा ही रस की निष्पत्ति मानते हैं।

यदि ध्वनिवादी यह कहे कि तात्पर्यावृत्ति तो द्वितीय कक्षा में ही विश्रान्त हो जाती है, जहां केवल संसर्गात्मक वाक्यार्थ का बोध होता है । उससे अतिरिक्त "भ्रम धार्मिक" इत्यादि स्थलों पर तृतीय कक्षा में व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा होने वाले विधि-निषेध का बोध कैसे होगा—

इस आशङ्का का समाधान तात्पर्यवादी इस प्रकार देता है—

एतान्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥

अर्थात्—केवल नियत अर्थ में ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो जाती है । यह नियम किसने बना दिया ? वस्तुतः कार्य (प्रवृत्तिरूप का निवृत्ति रूप प्रयोजन) के बोध पर्यन्त तात्पर्याशक्ति का प्रसार होता है । यह वृत्ति-तात्पर्या वृत्ति कोई तराजू में तोली हुई वृत्ति थोड़ी है, जिसका कि विषय उतना ही किञ्चित् विषय तक ही परिमित माना जाए ।

रस के विषय में विश्वनाथ कविराज की धारणा—

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में रस विवेचन प्रायः अभिनव गुप्त व मम्मट के मतों के आधार पर ही किया है । ये भी रस को सहृदय निष्ठ सामाजिकगत व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और रस को प्रकाशानन्द चिन्मयता भी स्वीकृत करते हैं। परन्तु रसास्वादन प्रकार की प्रक्रिया में इनका अपना कुछ विशिष्ट मन्तव्य भी हैं। इनके शब्दों में जो इस प्रकार है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः ॥
रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनःसत्त्वमिहोच्यते ।।

इसके मतानुसार प्रकाशानन्द चिमय वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य-ब्रह्मास्वाद सहोदर अखण्ड यह रस सहृदय या सामाजिक के उस निर्मल मन में अभिव्यक्त होता है जो रजोगुण-तमोगुण से अस्पृष्ट हो, और सत्त्ब गुण का जहां उद्रेक-आधिक्य हो अर्थात् जब तक सत्त्व के आधिक्य से रजोगुण तथा तमोगुण का अभिभव नहीं होगा, तब तक उस सहृदय के मन में रत्यादि भावों का प्रकाशानन्द रस रूप में परिणाम ही नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि सहृदय के अन्तःकरण में वासनारूप में जो रत्यादि हैं, वे तब तक वासना रूप ही रहेंगे। यदि सत्त्वाधिक्य मन से उनका संशोधन न हुआ तो रत्यादि तो केवल उपलक्षणमात्र हैं अन्य भावों के विषय में भी यही बात है। अतः सर्वप्रथम सात्विक मन से भावों का "(सब्जिमेशन) संशोधन आवश्यक है, तब कहीं सहृदय को रसास्वादन की योग्यता आती है। अन्यथा तो नाट्य या काव्य में वर्णित वह रत्यादि केवल लौकिक रागद्वेष जन्य कारकों की तरह वासनामात्र रह जायेगी और काव्यालाप केवल ग्रामीण चर्चा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझे जायेंगे।

यतः इन अन्तःस्थित मलिन वासनाओं का जिन्होंने कि अनादि अविद्यावश हृदय में घर कर रखा है, काव्योपात्त विभावादि के विचार से मन की सात्त्विकता सर्वप्रथम अपेक्षित है, इसीलिए सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने सत्त्वोद्रेक की ओर जोर दिया। तदनन्तर ही निर्मल स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ हृदयदर्पण में चित्छाया अर्थात् रस रूप चैतन्य का प्रतिफलन हो सकता है।

अर्थात् रसास्वाद के लिए मन की स्वच्छता सर्वतोभावेन आवश्यक है। तभी सहृदय एक सामान्य वासना स्वरूप रति को परिशोधन रस के प्रकाशात्मक पद पर समासीन करा सकेगा। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार को सत्त्व शब्द की दो बार व्याख्या करनी पड़ी। कारिका में व वृत्ति में भी केवल "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं" इतने से जब सन्तोष नहीं हुआ तो फिर वृत्ति में भी लिख डाला—

"बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चन आन्तरो धर्मः सत्त्वम्" ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी प्रक्रिया को सहृदयों के हृदयङ्गम कराने के लिए इन्हें सांख्य दर्शन का आश्रय लेना पड़ा। अतएव

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभाव सचेतसाम्॥

इस कारिका में आये हुए व्यक्तः इस शब्द की व्याख्या में लिखा है—**"व्यक्तो दध्यादिन्यायेनरूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। न तु दीपेन घट इव पूर्व सिद्धो व्यज्यते।"**

दूध का सार अंश दही यह तो उपलक्षण हुआ। आदि से नवनीत-घृत इत्यादि का ग्रहण कर लेना चाहिए अर्थात्—दूध का सार अंश दधि-धृत आदि जैसे अपने उत्कृष्ट रूप में परिणित होते है, उसी प्रकार नाना वासनाओं से वासित यह रत्यादि विशिष्ट अन्तःकरण भी विशुद्ध चैतन्य रूप जो रस है, उसमें तन्मय हो जाता है। यहां हृदय की रस रूप परिणति ही रसास्वादन सिद्धान्त या प्रकार है॥

पण्डितराज जगन्नाथ का रसविषयक विमर्श

पण्डितराज जगन्नाथ ने साहित्य शास्त्र के अपने प्रौढ़ ग्रन्थ रसगङ्गाधर में पूर्वाचार्यों के रस विषयक विचार का परिष्कृत व समालोचित रूप उपस्थित कर रस-तत्त्व को जो कि अभी ब्रह्मास्वाद सहोदर के अनुसार ब्रह्मानन्द के सादृश्य या सामीप्य में ही कहीं विराजमान था, उसे पूर्ण ब्रह्मानन्द या आनन्दमय की पराकाष्ठा में प्रतिष्ठित कराने का स्तुत्य प्रयास किया।

इतना ही नहीं, प्राचीन आचार्यों के रस स्वरूप के निर्वचन की जो शिथिल व विसंष्ठुल पदावली या शैली थी, उसे अपने सशक्त प्रौढ परिष्कार पूर्ण पदावलियों से उज्ज्वल कर रस के प्रकाश को और उत्तेजित कर दिया। इन्होंने अपने रस-विवेचन प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट तथा श्री मधुसूदन सरस्वती जी और अभिनव गुप्त पाद व भट्टनायक आदि के रस विषयक-विचारों को अपने ग्रन्थ में बड़ी ईमानदारी से और पूज्य भाव से वर्णित कर उनके रहस्य को सुन्दर शब्दों में पाठकों के लिए प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम अपने मम्मट सम्मत रस का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—औचित्य व लालित्य से परिपूर्ण ललित काव्य के द्वारा समर्पित, विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के भावना-विशेष के प्रभाव से जब रङ्गमञ्च में दुष्यन्त व शकुन्तला अपने परिमित भाव, अर्थात्—दुष्यन्तत्व व शकुन्तलात्व रूप, स्वभाव विगलित हो जाता है तो सहृदय प्रमाता-सामाजिक भी अपने अपरिमित भाव से—अर्थात् अलौकिक व्यञ्जना व्यापार के द्वारा जब विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है, तो उसी व्यापार विशेष की महिमा से प्रमाता सहृदय के अज्ञानावरण=(जिसके कारण

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वह परिमित भाव तक ही सीमित था) भङ्ग के जाने से पहिले से वासना रूप में स्थित रत्यादि भाव इस अपरिचित चैतन्य रूप से प्रकाशित हो जाते है। यही विभावादि से अभिव्यक्त-व्यञ्जना व्यापार का विषयीभूत रत्यादि जो सावरण होने कारण अभी तक परिमित था, अब अविद्यान्धकार के विगलित हो जाने से पूर्ण रस स्वरूप-चैतन्य में प्रतिष्ठित हुआ सहृदयों के आस्वाद का विषय बनता है। चैतन्यापर-पर्याय रस की चवर्णा ही व्यक्ति है। आचार्य मम्मट के—''व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रस स्मृतः'' का रहस्य यही है।

व्यक्त का अर्थ है—व्यञ्जना व्यापार का विषयीभूत रत्यादि, अर्थात्—रत्यादि जब व्यञ्जना व्यापार के विषय होंगे तो प्रमाता (जीव) या सहृदय को अविद्या रूप आवरण भङ्ग होगा अर्थात् चिदाभास युक्त इस वृत्ति के या व्यञ्जनावृत्ति के यहां दो कार्य हैं एक तो (असत्त्वापादक) वस्तु के असत्तात्मक आवरण को भङ्ग करना, दूसरा अभानापादक—(वस्तु भासित नहीं हो रही है) इस प्रकार के आवरण को भंग करना है। इन उभयविध आवरणों के भङ्ग हो जाने से रत्यादि या जीव अपने स्वरूपपूर्ण रस या चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है, इसी को भग्नावरण चित् कहा है।

जैसे शरावादि (कसोरे) आदि से ढका हुआ, दीप अपने आवरण कसोरे के हटा देते से स्वयं भी प्रकाशित होता है और समीपस्थ पदार्थ को भी प्रकाशित करता है, इसी प्रकार प्रकृत काव्य में भी व्यञ्जक विभावादि के द्वारा भावित व्यञ्जना वृत्ति से आनन्दांश (रत्यादि) के आवरण को हटा देने से प्रकाशरूप चित्त या रस अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह व्यञ्जना वृत्ति बोध्य रसरूप जो आत्मचैतन्य है वह (आवरण भङ्ग के द्वारा) विभावादि सकलित रत्यादिकों का प्रकाशक होता है। ये अन्तःकरण में स्थित रत्यादि धर्म केवल साक्षी (आत्मा) के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं।

रत्यादि भाव अन्तःकरण के धर्म हैं इसलिए साक्षी के द्वारा इनका प्रकाशन तो ठीक है पर बाह्य जो विभावादि पदार्थ दुष्यन्त-शकुन्तला आदि है, उनका साक्षी द्वारा प्रकाशन सम्भव नहीं है? ऐसी आशङ्का पर समाधान देते हैं कि वे विभावादि पदार्थ भी स्वप्नानुभूत पदार्थ की तरह अथवा जाग्रतदशा में शुक्तिका में रजत ज्ञान की तरह साक्षी द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि ये विभावादि किसी के मत में तो प्रातिभासिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पदार्थ हैं और किसी के मत में अन्तःकरण के परिणाम धर्म हैं। अतः अन्तःकरणावच्छिन्न साक्षिचैतन्य विभावादि-संवलित रत्यादि का प्रकाशक होता है।

यहां परम रहस्य यह है कि स्वप्न में जैसे मनुष्य रथ, घोड़ा, हाथी आदि अनेक पदार्थ देखता है, परन्तु वे वस्तुएं वहां सत्य नहीं होती हैं, अपितु वे अन्तःकरण के परिणाम विशेष ही हैं। केवल उतने समय तक साक्षी चैतन्य से प्रकाशित होने के कारण साक्षिभास्य हो जाते हैं। उसी प्रकार रङ्गमञ्च में भी मनोमयी शकुन्तला या मनोरम दुष्यन्त और उनके जितने व्यापार हैं, वे सब प्रमाता-सहृदय के अन्तःकरण के धर्म विशेष होने से साक्षिभास्य हो जाते हैं। इसी प्रकार जाग्रतदशा में भी शुक्तिका में जो चाँदी का भ्रम होता है, वह भी साक्षिभास्य ही है। कुछ लोग इन दोनों को स्वप्न तथा जाग्रत के भ्रम को अविद्याकल्पित मानते हैं अर्थात् चैतन्य-अधिष्ठान में अविद्या ही तत्तत्सम में परिणत होती है। अतः इन्हें प्रातिभासिक मानते हैं। इसी प्रकार नाटक में भी दुष्यन्तादि प्रातिभासिक पदार्थ यदि साक्षिभास्य हो जाते हैं तो इसमें कोई क्षति नहीं।

मधुसूदन सरस्वती जी का मत

अद्वैतसिद्धि व भक्तिरसायनकार मधुसूदन सरस्वती जी के मत में प्रत्यक्ष स्थल में जैसे इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से अन्तःकरण विषयाकारित होता है इसी अन्तःकरण के विषयाकाराकारित होने का नाम ही वृत्ति है। इसी वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध वृत्ति के द्वारा जो कि पूर्वोक्त भावना विशेष से वासित है, इसीसे विषयगत अज्ञान हट जायेगा और चित् रस का प्रकाश भी हो जायेगा। जैसे समाधि में योगी की चित्वृत्ति होती है, जहां स्वयं चित् ही वृत्ति है और चिदानन्द ही विषय है या रस है; इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करना पड़ेगा और यहां चिदानन्द रस का आनन्द लौकिक सुख की अपेक्षा विलक्षण ही रहता है। सार यह है कि पहिले सहृदय काव्य को पढ़ता है या सुनता है तदनन्तर अर्थावगम करता है, इससे उसे दुष्यन्त व शकुन्तला के रति-अनुराग विशेष का ज्ञान होता है। पुनः अपनी सहृदयतावश या भावना विशेष की महिमा से दुष्यन्तादि का दुष्यन्तत्वादि विशेषांश का विगलन होकर सामान्य नायकत्वादि अंश ही उपस्थित होता है। समाधि में जैसे योगी के अन्तःकरण में ध्येय—आनन्दस्वरूप का भान होता है, उसी प्रकार यहां भी सहृदय को उसी वृत्ति में भासिक चैतन्य द्वारा कुछ सुखात्मक आस्वाद होता है। यह एक प्रकार से आनन्दमय कोष के समान है, जहां चिदाभास संचालित वृत्ति विशेष का ही आनन्द रहता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अभिनव पादाचार्य के मत के अनुसार "रसो वै सः, रसं ह्येवं लब्ध्वा आनन्दी भवति ।। इत्यादि श्रुति वाक्यों के अनुसार रति से अवच्छिन्न भग्नावरण चित् ही रस है। जबकि मम्मट के अनुसार भग्नावरण चित् विशिष्ट रत्यादि ही रस है। अतः उभयविधि से चाहे रत्यादि विशिष्ट चित् हो या चित् विशिष्ट रत्यादि हों विशिष्टात्मा इस चित् के विशेषणीय या विशेष्यांश को लेकर रस का नित्यत्व या स्व प्रकाशत्व ही स्वयं सिद्ध है। चिद्गतावरण भङ्ग ही रस की चर्वणा है। इसके सुखांश के भान या आस्वाद में "**रसो वै सः**" इत्यादि श्रुति और "**सुखस्यात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि-ग्राह्यमतीन्द्रियम्**" इत्यादि स्मृति भी प्रमाण है।

भट्टनायक के मतानुसार भी रसास्वाद सहृदय को ही होता है। परन्तु यह जब भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है, तब कहीं भोजकत्व व्यापार से सहृदय को रस की मुक्ति-चर्वणा होती है।

इन्होंने काव्य या नाटक के प्रसङ्ग की एक बड़ी भारी समस्या का समाधान बड़ी प्रतिभा के साथ किया है—

समस्या यह थी कि रङ्गमञ्च में उपस्थित सीता-शकुन्तलादि को सामाजिकों के प्रति विभाव कैसे बनाया जाए? इसी प्रसङ्ग में इन्होंने एक सूक्ष्म साधारणीकरण प्रक्रिया ढूंढ़ निकाली जिसके लिए काव्य या नाट्य में एक अतिरिक्त भावकत्व व्यापार की कल्पना की। जिसके बल से शकुन्तला आदि के विशेष्यांश—शकुन्तलात्व अगम्यात्वादि का परित्याग रङ्गमञ्च में उन्हें सामान्य नायिकात्वेन उपस्थित किया जा सकता है। तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा फिर सामाजिक अपने सात्विक अन्तःकरण के द्वारा उस रति का आस्वाद करता है। अन्यथा—इस भावकत्व व्यापार जन्य साधारणीकरण के बिना तो कथमपि रत्यादि का आस्वाद नहीं हो सकता है। अतः विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न शकुन्तलादिकों में अगम्यात्व प्रकार ज्ञान के अभाव का होना आवश्यक है। तभी वे शकुन्तलादि विभावतावच्छेदक कोटि में आ सकते हैं अर्थात् सहृदय के विभाव बन सकते हैं। इसी प्रकार करुणादि रसों में भी विभावतावच्छेदक कोटि में अशोच्यत्व का पुरुषत्व को ज्ञानाभाव अपेक्षित है।

नवीनमत

नव्यास्तु कहकर इन्होंने किसी नवीन विद्वान् का मत उपस्थित किया है। किन्हीं लोगों का कहना है कि पण्डितराज ने स्वयं अपना नाम न लेकर—कुछ नवीन लोगों का ऐसा मत है, इस प्रकार से नव्या शब्द के द्वारा स्वयं अपना ही मत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपस्थित किया है—

इनका मत इस प्रकार है—

काव्य व नाटच स्थल में कवि अथवा नट के द्वारा जब विभावादि का प्रकाशन हो जाता है और व्यञ्जना व्यापार के द्वारा दुष्यन्त विषयक शकुन्तलानिष्ट रति का ग्रहण हो जाता है तो फिर सहृदय को अपने सहृदयता से समुल्लसित भावना विशेषरूप दोष की महिमा से अपने में दुष्यन्तत्व की कल्पना कर लेता है। यह कल्पना वेदान्त में शुक्ति में दोष विशेष से समुत्पन्न रजत खण्ड की तरह है। अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति सीप के अधिक चमकाहट के दोष के प्रभाव से उसको रजत—चांदी समझकर उसे ग्रहण करते समय किसी अनिवर्चनीय सुख का अनुभव करता है, ठीक इसी प्रकार कल्पित दुष्यन्त भी कल्पित शकुन्तला में अपने दोष विशेष (भावना) से अनुरागादि सुख विशेष की कल्पना कर लेता है। यह शुक्तिका में समुत्पन्न रजत-खण्ड जैसे दोष विशेष से कल्पित अर्थात् अज्ञान का कर्मविशेष होने से अनिवर्चनीय है। इसी प्रकार भावनारूप दोष विशेष से कल्पित यह दुष्यन्त व शकुन्तला विषयक रति भी जो कि अन्तःकरण का धर्म होने से साक्षिभास्य है, वह भी दोष विशेष से कल्पित होने के कारण अनिवर्चनीय है, और यह कलिपत रति के बाद जो लोकोत्तर आनन्द आता है, इसी आनन्द के साथ पूर्व रति का अभेदाध्यवसान होने से यह सुख स्वरूप या आनन्द स्वरूप भी है।

कुछ अन्य आचार्यों का मत

कुछ लोग न तो व्यञ्जन व्यापार को ही मानते हैं और न अनिवर्चनीय ख्याति को ही स्वीकार करते हैं। वे लोग काव्य या नाटच स्थल में केवल एक दोष विशेष, भावनारूप दोष विशेष की कल्पना से ही सहृदय अपने में दुष्यन्त के साथ तादात्म्य का अध्यवसान कर लेता है और अपने को शकुन्तला विषयक रतिमान् समझ लेता है। यही विलक्षण आनन्द को देने वाला एक प्रकार का मानस बोध है, यह काव्यार्थ जन्मा होने के कारण स्वप्नादि बोध से विलक्षण होता है। यदि कोई पूछे कि यह दोष विशेष कल्पित शकुन्तला विषयक अनुराग तो असत्य-अविद्यमान सदृश है तो फिर ऐसे असत्य वस्तु से आनन्दानुभव कैसे होगा? तो इसके उत्तर में उक्त मतावलम्बी का समाधान है कि यह सब वस्तुओं का सहभाव तो लोक के लिए अपेक्षित है, न कि अलौकिक चमत्कारोत्पादक काव्य या नाटच के लिए। यह रतिविषयक मानसबोध ही आनन्दस्वरूप रसरूपता को प्राप्त करता है। इस प्रकार रस विषयक एकादश मतों को बड़े अनुसन्धान पूर्वक पण्डितराज ने उपस्थित किया है, जिनमें से मुख्य-मुख्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का हमने संक्षेप में निर्देश कर दिया। ग्रन्थ विस्तार के भय से यहां सभी मत मतान्तरों को देना असम्भव है। पाठक इतने से ही पण्डितराज की प्रतिभा का अनुमान लगा सकते हैं।

काव्य में विभावादि की स्थिति का वर्णन

कार्य्यहेतुः सहचारी, स्थाय्यादेः काव्यवर्त्मनि।
अनुभावो विभावश्च, व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥८॥

अनुवाद—स्थायी भाव आदि के, लोक में जिन्हें कार्य-हेतु व सहकारी कारण कहते हैं, यदि ये ही स्थायि भाव या रस भावादि के कारण कार्य—सहकारी कारण काव्य में वर्णित होते हैं तो इन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भाव कहते हैं ॥८॥

विमर्शः—लोक में जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण कहते हैं, यदि इन्हीं का वर्णन काव्य में किया जाए तो ये क्रमशः विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अनादि वासना के रूप में स्थित हृदय के सहृदय में इन रत्यादि भावों का रस रूप से उन्मीलन जिस उद्‌बोधक सामग्री द्वारा होता है, उन्हें विभाव कहते हैं—"विभावयन्ति आविर्भावविशेषं नयन्ति रत्यादीन् इति" ये विभाव दो प्रकार के होते हैं—

आलम्बन विभाव—ललनादि और उद्दीपन विभाव उद्यानादि। विशिष्ट भाव की अनु—पश्चात् जो सूचना देते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये हैं कटाक्ष भुजाक्षेप-स्तम्भस्वेदादि। रसोन्मुख स्थायीभाव के अभितः विशेषरूप से जो सञ्चरण करें और उसको पुष्ट करें वे सञ्चारीभाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये हैं—हर्ष, स्मृति, चिन्ता, ग्लानि इत्यादि।

इनमें स्थायीभाव संविदात्मक होने से चेतन है अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की तरह या अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य अथवा चिदाभास है। अन्य विभाव, अनुभाव व सञ्चारीभाव शरीर धर्म होने से संविन्मय चेतन भी है—कुछ उद्दीपन विभाव—पर्वत उद्यानादि भी है। अतः अन्य भावों का स्वरूप चेतना-चेतनात्मक है ॥८॥

रसों के भेद

शृङ्गार-हास्य-करुणाः, रौद्र-वीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुत-शान्ताश्च, रसाः सद्भिर्नव स्मृताः ॥९॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त ये पूर्वाचार्यों ने निर्दिष्ट किये हैं या पूर्वाचार्यों ने इन नौ रसों का स्मरण किया है ॥६॥

विमर्शः—अब इन स्थायी भावों से उपहित नव रसों के भेदों का वर्णन करते हैं, अथवा रत्याद्यवच्छिन्न चिद् विशेष का या चिदाभास विशिष्ट रत्यादिकों के भेदों का वर्णन करते हैं।

पूर्वाचार्यों ने शृङ्गारादि नौ भेद किए हैं। इसमें भी सर्वप्रथम शृङ्गार रस का वर्णन किया है, क्योंकि यह सर्वजाति सुलभ या अत्यन्त परिचित अथवा स्वाभाविक है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है "शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः"—शृङ्ग नाम कामोद्रेक का है, अर्थात् कामना, इच्छा। "यद् यद् हि कुरुते जन्तु तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" संसार की जितनी भी चेष्टायें हैं वे सब एक तरह से काम की ही चेष्टायें हैं—शृङ्गमृच्छति कामत्वेन प्राप्नोति या शृङ्गेणाप्येत प्राप्येत सामाजिकैः असौ, यद्वा शृङ्गमाराति समन्ततो ददाति वा शृङ्गारः' इस प्रकार शृङ्गार पद का निर्वचन विद्वानों ने किया है। भरत नाटचशास्त्र में शृङ्गार के विषय में इस प्रकार लिखा है—"तत्र शृङ्गारो नाम रति स्थायिभावः प्रभवः, उज्ज्वलवेषात्मकः, यत्किञ्चित्-लोके शुचिर्मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते, यस्तावदुज्ज्वल वेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते" अर्थात्—रति नामक स्थायि भाव से उत्पन्न होने वाला उज्ज्वल वेषात्मक रस शृङ्गार है। लोक में जो कुछ शुचि, स्वच्छ, पवित्र उज्ज्वल व दर्शनीय है, उसकी शृङ्गार से उपमा की जाती है, अर्थात् उज्ज्वल वेषधारी को शृङ्गार कहा जाता है।

इस प्रकार यह हृद्य आकर्षक एवं उज्ज्वलवेषात्मक आचार से सिद्ध शृङ्गार रस है। यह शृङ्गार रस उत्तम प्रकृति वाले युवक एवं युवतियों में दाम्पत्यभाव मूलक है। उत्तम प्रकृतिक होने से ही सब के प्रति हृद्य है, इसीलिए सर्वप्रथम शृङ्गार रस का निवेश किया है। इसके बाद शृङ्गारानुगामी होने के कारण, हास्य का और ततः हास्य के विरोधी करुण रस का निवेश किया है।

काम—अर्थसम्भव है, इसलिए तदनन्तर अर्थ प्रधान रौद्र रस का वर्णन किया है। काम और अर्थ ये दोनों धर्मजन्य हैं, इसलिए रौद्र के बाद फिर वीर रस का निवेश उचित है। भयभीत को अभयदान में समर्थ होने से भयानक रस का तदनन्तर निवेश किया, कभी सात्विक व्यक्ति भयभीत को घृणा की दृष्टि से भी देखते हैं, अतः भयानक के बाद वीभत्स रस का वर्णन उचित है। वीभत्स का परिहार विस्मय से होता है, उसलिए इसके बाद अद्भुत रस का वर्णन उचित है। धर्म का मूल शम है, इसलिए

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्त में शम-प्रधान शान्त रस का वर्णन सर्वथा उचित है। सभीं का पर्यवसान भी इसी में है। इस प्रकार रञ्जना विशेषस्वरूप इन नौ रसों का मानवीय पुरुषार्थों में उपयोग होने से नौ ही रसों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने किया है। यद्यपि गर्द्ध स्थायिक लौल्य रस, आर्द्रता स्थायिक स्नेह रस और आसक्ति स्थायिक व्यसन रस, अरति स्थायिक दुःख और सन्तोष स्थायिक सुखादि रसों का भी वर्णन सम्भव है, परन्तु पूर्व रसों में ही इनका अन्तर्भाव हो जाने से इनकी अतिरिक्त सत्ता का निर्देश नहीं किया ॥९॥

अब सर्वप्रथम—प्रभेद सहित शृङ्गार रस का निरूपण करते हैं—

सम्भोग-विप्रलम्भात्मा, शृङ्गारः प्रथमो बहुः।
मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥१०॥

अनुवाद—नायक व नायिकाओं के परस्पर अनुकूल प्रेम-परायण होते हुए जहां दर्शन, स्पर्शनादि का निशेवन करते हैं, उसे सम्भोग शृङ्गार कहते हैं। और अनुरक्त-उन विलासी नायिक-नायिकाओं में से जब पारतन्त्र्यादि किसी कारणवश अघटन अमिलन जन्य जो चित् विश्लेष होता है; उसे विप्रलम्भ शृङ्गार कहते हैं। ये दोनों प्रकार के शृङ्गार आस्थावन्धात्मक रति प्रकर्ष रूप शृङ्गार के कुछ अवस्था विशेष-स्वभाव वाले हैं। वस्तुतः ये शृङ्गार के स्वगत भेद गोत्व शावलेयल की तरह परस्पर कोई व्यवच्छेदक बिभाव वाले नहीं हैं, अपितु सम्भोग में भी कभी विप्रलम्भ की सम्भावना हो जाती है, और विप्रलम्भ में भी कभी आस्था वन्धात्मक रति के संयोग संचलित होने के कारणं सम्भोग शृङ्गार भी हो सकता है। आस्थाबन्धात्मक चित्त वृत्ति के संश्लेष व विश्लेष के उत्कट कोटि का विचार कर उक्त संयोग व वियोग व्यवहार होता है। कहीं-कहीं तो दोनों अवस्थाओं का उन्मीलन और भी चमत्कारा-धायक होता है—

एकासन स्थित ऐसे दम्पति या नायक-नायिका हैं, जो परस्पर प्रेम प्रकर्ष से पीड़ित भी हैं, परन्तु अपने-अपने प्रणयमान की सुरक्षा में तत्पर भी हैं। एकाएक जब उनके प्रणय पिपासु नयन समिलन को प्राप्त होते हैं तो, रति के विशेष का कारणी-भूत कलहस्वरूप मान सहसा कर्पूर की तरह उड़ जाता है और परस्पर प्रमोदपूर्ण संयोग हो जाता है। इस प्रकार ईर्ष्याविप्रलम्भ व सम्भोग शृङ्गार का विभावानुभाव व्यभिचारी की विचित्रता से यह पद्य अतिशय चमत्काराधायक वन गया है—

"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीरोत्तरं ताम्यतोः।
अन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ॥
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गनलनामिश्रीभवच्चक्षुषोः।
भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठ ग्रहम् ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्र ईर्ष्या विप्रलम्भ-सम्भोग विभावादि कृता सातिशया चमत्कृतिः।

सम्भोग श्रृङ्गार का उदाहरण—

उत्तररामचरित में—मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी व सीता जी के परस्पर आस्था-प्रकर्ष- चित्तवन्धन विशेष रति का परस्पर शुद्ध संचलन यह कितना उदात्त व मनोहर है—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्,
अविरलितकपोलं जल्पतोरकमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः,
अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥

विप्रलम्भ श्रृङ्गार का उदाहरण—

जब आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा को छोड़कर द्वारिकापुरी को चल दिए तो उनके विरह से कातर राधा ने कालिन्दी के किनारे लता-वृक्षों को सोत्कण्ठ आलिङ्गन कर प्रगय गद्-गद् स्वर से इतने जोर से रुदन किया कि जिससे यमुना के जलचरों ने भी विरह पीडिता राधा के संवेदनापूर्ण सहानुभूति हेतु विह्वल होकर कूजन किया—

यहाँ मधुरिपुजन्य विरह के विभावानुभाव व्यभिचारी के संवलन जन्य चर्वणा, ईर्ष्या, प्रणयभङ्ग वैमनस्यादिभावों से परिपुष्ट—मान को विषय बना रही है

याते द्वारवतीं तदामधुरिपौ तद्दत्त झम्पानतां,
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललता मालिङ्ग्य सोत्कण्ठया,
तद् गीतं गुरु वाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया।
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युक्तमुत्कूजितम् ॥

शाप हेतुक विप्रलम्भ

जैसे—कादम्बरी में—

महाश्वेता व पुण्डरीक का शापवश वैशम्पायन शुक रूप में परिणित हो जाना।

"सन्निहित देशस्यापि रूपान्तरापादनं शापः"

पारतन्त्र्य प्रयुक्त शाप

जैसे भविष्यत्—नव सङ्गम वाले दम्पति का माता-पित्रादि प्रयुक्त परवशता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जन्य विप्रलम्भ—

उर्ध्वाक्षः पिबति जलं, यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः ।
प्रपापालिकाऽपि तथा तथा, धारां तनुकामपि तनयति ॥

मानादि के अभाव में कार्यान्तर व्यापृत दम्पति का अनुसरण रूप विप्रलम्भ भी होता है—

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्,
यो मां नेच्छति नागतश्च स ह हा कोऽयं विधेर्विभ्रमः ।

इत्यादि ।

संयोग वियोग उभयात्मा शृङ्गार के विभावानुभाव व्यभिचारी भावों का निरूपण करते हैं—

स्त्री-पुंस-काव्य-गीतर्तु-माल्य-वेषेष्ट-केलिजः ।
अभिनेयः सचोत्साह-चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः ॥११॥

अनुवाद—रति स्थायिक—इस शृङ्गार में स्त्री-पुरुष परस्पर आलम्बन विभाव होते हैं। इन उत्तम प्रकृति नायक व नायिका के लिए—काव्य, गीत, नृत्य, वाद्यादि, ऋतु—वसन्तादि, माल्य-विलेपन—ताम्बूलादि, विशिष्ट वस्त्रालंकारादि, नेपथ्य, चन्द्रोदय, उद्यानादि, उद्दीपन विभाव होते हैं, और परस्पर नयन वदन, प्रसाद स्थिति, मनोज्ञाङ्गविकार वक्रोक्त्यादि अनुभाव होते हैं। तथा च उत्साह, चाटुकारी संतापाश्रुपात, मन्यु ग्लानि, चिन्ता, हर्षादि सञ्चारी भाव या व्यभिचारी भाव होते हैं, इसी प्रकार के भाव इस रस में अभीष्ट हैं। इन्हीं भावों से क्रमशः उभयात्मा-संयोग व विप्रलम्भ सम रतिस्थायिक शृङ्गार रस अभिव्यक्त होता है। ये तापाश्रु, मन्यु, ग्लानि आदि जो संयोग में सञ्चारी हैं वे वियोग में अनुभाव रूप होते हैं। संयोग शृङ्गार में हर्ष धृत्यादि जो सुखमय भाव हैं वे सञ्चारी रूप में हैं और वियोग में आलस्यादि सारे भाव केवल जुगुप्सा को छोड़कर निर्वेदादि दुःखमय भी सञ्चारी होते हैं ॥११॥

हास्य रस का लक्षण

विकृताचार-जल्पाङ्गाकल्प विस्मापनोद्भवः ।
हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दाश्रु-जठरग्रहैः ॥१२॥

अनुवाद—विकृत—आकार, वेष-भूषादि, आचार—अवस्था विशेष से, और विकृत-वागादि चेष्टा विशेष से, और विकृत—अङ्गों के विकृत वेशभूषादि के विस्मयोत्-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्पादक धृष्टता व लौल्यभावादि से तथा ग्रीवा, कर्ण, चूडा, भ्रू र्नासादि की विकृत चेष्टा विशेष इन स्वगत तथा परगत भावों से हास स्थायिक-हास्य रस व्यक्त होता है।

इसमें नाशापुर गण्ड ओष्ठादिकों का स्पन्दन, आकुञ्चन प्रसारणादि, अश्रु, नेत्र विकार, जरठग्रह, पार्श्व प्रदेश का ताडनादि अनुभाव होते हैं, और अवहित्था हर्षोत्साह, विस्मयादि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥१२॥

हास्य रस का उदाहरण

चन्द दिनों में ही कतिपय शास्त्र का चर्वण कर लेने वाले कुक्कुट मिश्रपाद के विषय का यह प्रसिद्ध पद्य है—

गुरोर्गिरः पञ्चदिनात्यधीत्य,
वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयञ्च
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्,
समागता कुक्कुटमिश्रपादाः ॥१२॥

हास्य रस के भेद

विहासश्चोपहासश्च, मध्ये ज्येष्ठे स्मितं हसः।
अपहासोऽतिहासश्च, नीचे प्रायोऽधमे रसः ॥१३॥

अनुवाद—ज्येष्ठ—उत्तम प्रकृति वाले लोगों को हास-स्मित और हसित कहा जाता है। स्मित एक प्रकार की मन्द मुसकान है, जिसमें हँसने वाले व्यक्ति के दाँत तक नहीं दिखाई देते हैं। इसी स्मित का कुछ विकसित रूप हसित है, जिसमें कुछ-कुछ दाँतों की झलक दिखाई देती है। ये दोनों प्रकार के हास या हास्य प्रथम श्रेणी के होते हैं। मध्यम प्रकृति वालों का हास-विहास—विहसित तथा उपहसित कहा जाता है। विहसित के हास्य में मधुर स्वर रहता है और उपहसित में अंश, प्रदेश व शिर आदि का कम्पन रहता है। यह विहसित व उपहसित दोनों मध्यम श्रेणी के लोगों में देखा जाता है।

अधम प्रकृति वालों का हास-अपहास-अपहसित और अतिहास-अतिहसित कहा जाता है।

अपहसित में—नेत्र आंसू से भर जाते हैं, और शिर आदि का कम्पन भी रहता है। अतिहसित में—विक्षिप्ताङ्ग होकर, हाथों से उदर पार्श्व देश को पकड़कर हंसना, विस्वर अर्थात् मधुर स्वर के बिना चिल्लाना आदि होते हैं। यह प्रायः निम्न श्रेणी के लोगों में देखा जाता है॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार हास्य रस के छः भेद होते हैं। ग्रन्थकारों का कहना है कि यह हास्य रस अधिकतर अधम प्रकृति में ही देखा जाता है। मनुष्यों में अपने वर्ग की अपेक्षा स्त्रियों में और पुरुषों में अपने वर्ग की अपेक्षा अधम प्रकृति में—क्योंकि इन्हीं में ये करुण, वीभत्स भयानकादि रस व अधिकतर शोक, हास, भय, परनिन्दादि देखे जाते हैं और थोड़ी-सी विचित्र बात में उन्हें काफी विस्मय हो जाता है।

अयं च हास्यो रस प्रायो बाहुल्येनाधम-प्रकृतौ प्रामर प्राये भवति, स्ववर्गापेक्षया च स्त्रियाः प्राधान्येऽपि, पुरुषापेक्षयाऽधमतैवेति, तस्यामपि। एवं करुण-भयानक-वीभत्साद्भुता, अप्यधमप्रकृतौ भूयस्त्वमनुभवन्ति पामर-प्रायः सर्वः प्रकर्षेण हसति शोचति विभेति परनिन्दामाद्रियते, स्वल्पेनापि सुभाषितेन सर्वत्र विस्मयते ॥१३॥

करुण रस का लक्षण

मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।
करुणोऽभिनयस्तस्य, वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ॥१४॥

अनुवाद—मृत्यु-बन्धन-धनभ्रंशादि इष्ट वस्तु के नाश तथा शाप—दिव्य प्रभाव वालों का आक्रोश विशेष और व्यसन-अनर्थादि जो अनिष्ट की प्राप्ति हैं। इन विभावों से उत्पन्न होने वाला—शोक स्थायिक करुण रस होता है। इसमें वाष्प, अश्रु विवर्णता, निश्वास, गात्र शिथिलतादि अनुभव होते हैं। अपनी निन्दा या दैव की उलाहना, रुदित, प्रलपित, निर्वेद, ग्लानि, चिन्तादि व्यभिचारी भाव होते हैं॥

करुण रस का उदाहरण

विश्वनाथ कवि निर्मित **राघवविलास** नामक नाटक का यह पद्य है—जिसमें राम-वन-गमन से उत्पन्न शोक से पीडित राजा दशरथ के द्वारा की गई दैव निन्दादि का सुन्दर समन्वय है—

विपिने क्व जटा निन्धनम्,
तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं,
ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥१८॥

रौद्र रस का लक्षण

प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोहाधर्षापनीतिजः ।
रौद्रः स चाभिनेतव्यः, घातदन्तौष्ठ-पीडनैः ॥१५॥

अनुवाद—प्रहार—शस्त्रादि व्यापार, असत्य, बध, वन्ध व वाक् पारुष्यादि और परगुणों के **असूया**, असहन जन्य—मात्सर्य विशेषसे, और आधर्ष—**विद्या**, कर्म, देश

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जात्यादि निन्दा व आगीति –अन्यायादि विभावों से क्रोध स्थायिक रौद्र रस होता है। इसमें घात, प्रहार, दन्तौष्ठ, पीडन, आयुत्क्षेपणादि अनुभाव होते हैं और मोहपस्मार आवेग, अमर्ष, स्वेद, वेपथु, कंपना, रोमाञ्चादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

रौद्र रस का उदाहरण

वेणीसंहार नाटक का यह पद्य है। इसमें अपने पितृवध को कुछ अश्वत्थामा की अमर्ष भरी यह उक्ति है—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्,
मनुज-पशुभिर्निमार्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना,
मयमहमसृङ्मांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥१५॥

वीर रस का लक्षण

पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयैः ।
वीरोऽभिनयनं तस्य, धैर्य-रोमाञ्चदानतः ॥१६॥

अनुवाद पराक्रम, शत्रुमण्डलादि में आक्रमण; बल—सेना समुदाय, न्याय, सामादियों का सम्यक् प्रयोग, यश-- सर्वत्र, शौर्य जन्य ख्याति, तत्त्व विनिश्चय-यथार्थ बातों का या वीरोचित बातों का निर्णय आदि विभावों से उत्साह स्थायिक वीर रस होता है। यह युद्ध, धर्म, दान, दयादि उपाधियों से अन्वित होकर अनेक प्रकार का होता है। इसमें धैर्य—घोर सङ्कट आने पर भी अविचलित रहना या निर्भीक रहना अथवा बुद्धिवल सन्तुलन रखना, सहायान्वेषणादि-अनुभाव हैं और धृति-मति-गर्व-स्मृति, तर्क रोमाञ्चादि व्यभिचारी भाव हैं।

वीर रस का उदाहरण

युद्ध वीर का यह पद्य है। इसमें रावण के प्रति रामचन्द्र जी की यह यह उक्ति उत्साह पूर्ण होने से वीर रसोचित है—

"भो लङ्केश्वर ? दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,
कोऽयं ते मति विभ्रमः ? स्मर नयं नाद्यापि किञ्चित् गतम् ॥
नैवञ्चेत्-खरदूषणस्त्रिशिरसा कण्ठासृजापङ्किलः,
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥१६॥

भयानक रस का लक्षण

पताका-कीर्ति-रौद्राजि-शून्य-तस्कर-दोषजः ।
भयानकोऽभिनेतव्यः, स्तम्भ-रोमाञ्च-कम्पनैः ॥१७॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—पताकारूपी कीर्ति से युक्त भीषण-संग्राम व शून्य-निर्जन वन, चोर व अन्य भयङ्कर दोषों के दर्शन-श्रवण एवं विचार्यभाव-विभावादिकों से भय स्थायिक भयानक रस होता है। स्तम्भ, कम्पन व रोमाञ्चादि इसके अनुभाव हैं। मुख व दृष्टि विकार वैवर्ण्य, मूर्च्छादि भी इसके अनुभाव भी हैं। शङ्का-मोह-दैन्यावेग, चपलता त्रासादि इसके व्यभिचारी हैं ॥

भयानक रस का उदाहरण

रत्नावली नाटिका में (भयानक सत्त्व के दर्शन से होने वाला भय)

वानर को देखकर अन्तःपुर के भय का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है, जिसमें बन्दर को देखकर हिजड़े, कन्चुकी, किरात व कुब्ज भय के मारे अन्तःपुर से पलायन करते हैं—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाऽभावादपास्यत्रपाम् ।
अन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्य्यन्ताश्रयिभिर्तिजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतम् ।
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ।।

बीभत्स रस का लक्षण

जुगुप्सनीयरूपादि पर-श्लाघा-समुद्भवः ।
वीभत्सोऽभिनयनश्चास्य, निष्ठेवोद्वेगनिन्दनैः ॥१८॥

अनुवाद—जुगुप्सीयरूपादि-मालिन्य व दुर्गन्धि युक्त अमनोज्ञ पदार्थ विशेष के दर्शन से और पर पक्ष के प्रशंसा से (जिसमें कि दोष दर्शन हो) श्रवणादि विभावों से जुगुप्सा स्थायिक बीभत्स रस होता है। इसमें निष्ठीवन-थूकना, उद्वेग-शरीर घूर्णन, निन्दन -- दोषोद्घाटन, नासासङ्कोच, मुख-फेरना आदि अनुभाव हैं। व्याधि मोह आवेग, अपस्मारादि व्यभिचारी भाव हैं।

बीभत्स रस का लक्षण

भवभूति विरचित **मालती माधव** नाटक का यह श्मशान वर्णन प्रसङ्ग का पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है—

'' क्षुधा पीडित अस्थिकङ्काल अवशिष्ट प्रेतरङ्क चारों ओर ताकता हुआ, जल्दी-जल्दी शव के शरीर से माँस को नोंच-नोंच कैसे खा रहा है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथमयप्रथूच्छोथ भूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक् पृष्ठ पिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः, प्रेतरङ्कः करङ्कात्
अङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥१८॥

अद्भुत रस का लक्षण

दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।
अद्भुतः सोऽभिनेतव्यः श्लाघा-रोमाञ्च-हर्षतः ॥१९॥

अनुवाद—दिव्य-चरित या इन्द्रजाल द्वारा अभूतपूर्व या असम्भाव्य वस्तु के प्रदर्शन से और अतिशय रमणीय पदार्थ अत्यन्त अभीष्ट सिद्धि रूप विभावों से विस्मय स्थायिक अद्भुत रस होता है। इसमें नयन विस्तार, गद्गद् वचन, गात्र-वेपथु-कम्पन आदि अनुभाव होते हैं और आवेग, जड़ता, सन्भ्रम, रोमाञ्चादि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥१९॥

अद्भुत् रस का उदाहरण

पण्डितराज जगन्नाथ का यह पद्य है—

किसी समय भगवान् श्री कृष्ण के विराट व अद्भुत स्वरूप को देखकर स्तब्ध व सम्मुग्ध हुई यशोदा माता का यह वर्णन है—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव ।
गलद्गगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥१९॥

शान्त रस का लक्षण

संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्र-विमर्शनैः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य,क्षमा-ध्यानोपकारतः ॥२०॥

अनुवाद—देव-मनुष्य-तिर्यक् रूप से परिभ्रमण ही संसार है, ऐसे असार संसार से भयभीत होना, वैराग्य-विषयों से विमुख होना, तत्त्व—पुण्यापुण्य या जीवाजीवादि का शास्त्रानुसार चिन्तन करना, इत्यादि विभावों से शम स्थायिक शान्त रस होता है।

इसमें सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का सहन करना, क्षमा जीवाजीव अर्थात् जड़ व चैतन्य का विचार रूप ध्यान करना, मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षादि उपकार

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुभाव हैं। निर्वेद मति-स्मृति-धृति इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

शान्त रस का उदाहरण

महाराजा भर्तृहरि का यह पद्य है, जिसमें उन्होंने इस संसार के संसरण से उपराम लेने के लिए समत्व की कामना की है—

अह्यौ वा हारे कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥२०॥

विमर्श—रस की सत्ता-विषयक विचार—काव्य व नाट्य में रस की सत्ता के विषय में विचार करना तो ऐसा ही है जैसे दर्शन-शास्त्र में या आध्यात्मिक जगत् में आत्मा के विषय में विचार करना। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रधान प्रयोजन वाले विषय को लेकर तत्तत् शास्त्र की प्रवृति होती है, यदि उसी रस व आत्मा के विषय में सन्देह हो जाए तो भला कैसे प्राणिमात्र या सामाजिक की उस ओर प्रवृत्ति होगी? इस आत्म-विषयक-विकल्प या सन्देह का समाधान भगवान् आदि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में बड़े सुन्दर शब्दों में किया है—

उन्होंने कहा है कि—"सर्वो हि जन आत्मास्तित्व प्रत्येति, नहि ना हमस्मीति कस्यचन प्रत्ययः" इत्यादि॥

तात्पर्य यह है कि सभी लोग अपने अस्तित्व—अर्थात् "मैं हूं" ऐसा ज्ञान करते हैं, "मैं नहीं हूं" ऐसा किसी का भी विचार नहीं होता है। अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में तो किसी को सन्देह ही नहीं होना चाहिए। यह बात और है कि सामान्य जन अपने अविद्या या अविवेक के द्वारा इसे देहेन्द्रियादि से पृथक् न समझ कर केवल देहेन्द्रियादि में ही आत्म-बुद्धि कर चुका हो, पर इसके अस्तित्व के विषय में किसी को भी सादेह नहीं है। हाँ, देहेन्द्रियादि से पृथक् इसकी सत्ता को सिद्ध करना और इसके व्यापक-महिमा का आख्यान करना यह शास्त्र या शास्त्रकारों का कार्य है।

ठीक यही दशा काव्य व नाटच-जगत् की भी प्रतीत होती है। काव्य के पठन व श्रवण की और नाटच के श्रवण व दर्शन की जो सामाजिक प्रवृत्ति है, अवश्य वह कुछ न कुछ अभीष्ट स्वार्थमूलक है प्रवृत्ति होने से, इतर प्रवृत्ति की तरह। संसार में जो अन्य प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वे अवश्य प्राणी के अभीष्ट प्राप्ति की ओर संकेत करती हैं चाहे वे संवादी हों अथवा विसंवादी। काव्य या नाटच के विषय में भी हम प्रतिदिन यही सुनते हैं कि "आज मैंने रामायण का पाठ किया" मुझे बहुत आनन्द

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आया या मेरा मन तो इतना तल्लीन हो गया कि मुझे कुछ समय या बाहरी कार्य-विशेष का कुछ ध्यान ही नहीं रहा। बस यही तल्लीनता या शास्त्रीय भाषा में वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता, आनन्द या चमत्कार ही रस है जिसको प्राप्त करके प्राणी फिर अन्य किसी पदार्थ की कामना नहीं करता है। यही आनन्दात्मिकता—लोक में जिसे रागात्मिका वृत्ति भी कहेंगे। यह आकीट – कीड़े-मकोड़े से लेकर देवताओं तक रहती है और उत्तरोत्तर विशुद्ध निरतिशय सुख की कामना करती है। इसी का संशोधन करना या परिष्कार करना शास्त्र या काव्य-नाटच का कार्य है। यह उस निर्मल अन्तःकरण में उतना अधिक आनन्द या चमत्कार प्रदान करेगी जिसका जितना अधिक सत्त्व या सत्त्वगुण होगा। अन्तःकरण या मन त्रिगुणात्मक है, रज व तम के मोह, सङ्कटता या दुःखान्धता का निवारण करना, विशुद्ध सत्त्वप्रधान मन में परिशुद्ध आनन्द का आधान करना ही काव्यों या नाटकों का परम प्रयोजन है। इसी स्थिति में रस का समास्वाद भी होता है, इसी के लिए प्रवृत्ति भी होती है। दर्शन जिस प्रेय पदार्थ को निवृत्ति मार्ग से प्राप्त करने का उपदेश देता है, जो सहसा सर्व साधारण के समर्थ का विषय नहीं है, काव्य या नाटच उसी लक्ष्य को प्रवृत्ति मार्ग से भी प्राप्त करा देते हैं। यह रस सर्वत्र किसी न किसी अंश में व्याप्त है, चाहे वे अलौकिक कार्य-कलाप काव्य नाटक हों अथवा लौकिक व्यवहार में भोजन शयनादि हों, सर्वत्र रस की सत्ता है। इसी रस की मन्दाऽभिव्यक्ति लोक व्यवहार में भी देखी जाती है। जैसे यह कहावत भी है कि—"**भोजनस्य रसः स्नेहः**" अर्थात् यदि कोई स्नेह पूर्वक भोजन कराता है तो उसमें भी कोई अपूर्व ही आनन्द आता है। यहाँ यह लौकिक स्नेह उपाधि से उपहित—उस आनन्द की लोक सीमित होने से मन्दाभिव्यक्ति है।

इसीलिए तो भरत मुनि ने अपने नाटच शास्त्र में कहा है—"नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते" अर्थात् इस जगती तल का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो रसहीन हो। गीता में भगवान् ने रस की अलौकिक महिमा तथा जल की तरह पवित्रता का आख्यान करते हुए कहा है, "**रसोऽह्यमप्सु कौन्तेय**" इत्यादि।

और श्रुति भी पदार्थ मात्रसार इसको मानती हुई कहती है—

"**रसो वै सः**" और इसी के प्राप्त करने का उपदेश देती है—"**रसह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**"

रस की उपाधियां
या
रस की संख्या के विषय में मतभेद

रस की संख्या के विषय में यद्यपि विद्वानों में मतभेद है, परन्तु अधिकतर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विद्वानों ने इसकी संख्या नौ मानी हे जैसा कि नाट्यदर्पण ने स्वीकार किया है। इन नौ रसों के विषय में अधिकतर विद्वानों की सम्मति है। कुछ विद्वान् इन नौ से अतिरिक्त वात्सल्य-भक्ति इत्यादि अन्य रसों को मानते हैं, इसका विवेचन हमने अपने "काव्य-प्रकाश एक अध्ययन" नामक पुस्तक में कर दिया है। पाठक वहीं से इसका अवगमन कर लें। यहाँ इनका विशिष्ट विवेचन अपेक्षित नहीं है, क्योंकि अन्य विषयों का भी विवेचन करना है।

रसों की सुखात्मकता

अधिकतर आचार्यों का मत है कि सभी रसस्वरूप या आनन्दस्वरूप हैं। इसमें अधिक विवाद होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि दर्शनकारों ने भी संसार के सभी पदार्थों में "अस्ति, भाति प्रियम्" इन तीन रूपों को स्वीकार किया है और नाम व रूप को विकृत होने के कारण असत्य माना है। वेदान्त के प्रति पदार्थनिष्ट 'अस्ति भाति प्रियम्' का साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरम् रूपान्तर है। जब आपाततः पदार्थ का यह स्वरूप है तो फिर काव्य व नाट्य में अलौकिक व्यञ्जना व्यापार द्वारा परिमार्जित उस पदार्थ का निरतिशय सुखस्वरूप या आनन्दस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर भी आचार्यों की धारणा के अनुसार इसका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) सभी रस सुखात्मक हैं। – साहित्यदर्पणकारादि का मत

(२) सभी रस सुखदुःखात्मक हैं। —अज्ञात आचार्यों का मत

(३) बीभत्स, भयानक, रौद्र व करुण रस दुःखात्मक अन्य सुखात्मक हैं। —प्रस्तुत ग्रन्थकार का मत

(४) शृङ्गारादि सुखात्मक हैं करुणादि दुःखात्मक हैं। —किन्हीं का मत

अधिकतर करुण रस के विषय में ग्रंथकारों ने सुख दुःखात्मकता का विस्तृत विश्लेषण किया है, इसकी चर्चा धनिक-विश्वनाथ व पण्डितराज ने अपने-अपने ग्रंथों में की है और अन्त में इसकी सुख-स्वरूपता ही सिद्ध की है। संक्षेप में इसका विवेचन भी हमने अपने 'काव्यप्रकाश एक अध्ययन' नामक पुस्तक में कर दिया है। जिज्ञासु पाठक वहीं से अवगम कर लें।

नाट्य में शान्त रस विषयक विवाद

काव्य में इन शृङ्गारादि नव रसों का प्रतिपादन असंदिग्ध रूप से होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसमें किसी भी आचार्य की विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु नाटच में शान्त रस के विषय में विद्वानों का बहुत मतभेद है। यद्यपि भरत ने अपने नाटचशास्त्र में निर्बाध रूपेण शान्त रस के अभिनय की चर्चा की है, स्वयं उनके शब्दों में—

"अथ शान्तो नाम शम स्थायिभावात्मको मोक्ष प्रवर्तकः, स तु तत्त्वज्ञान-वैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते, तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासन-सर्वभूतदयालिङ्गग्रहणस्तम्भरोमाञ्चादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः" अभिनय का निर्देश है, और उनके व्याख्याकार अभिनव गुप्त ने भी इसकी पुष्टि की है। यह सब होते हुए भी धनञ्जय ने अपने दशरूपक में इसका विरोध किया है। आपका कहना है कि—

"रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः शममपि नाट्ये केचित् प्राहुः—पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।

इत्यादि आठ जो स्थायीभाव हैं, इनका तो भलीभांति अभिनय हो सकता है, परन्तु केचित्—कुछ लोग शम स्थायिक शान्त को भी नवां रस मानते हैं। हमें तो यह बात अच्छी नहीं लगती, क्योंकि नाट्य में शान्त रस की पुष्टि हो ही नहीं सकती है।

धनञ्जय के टीकाकार धनिक ने तो और भी "नास्त्येव शान्तो रसः" कहकर इसका विरोध किया और इसमें अपनी दलील भी दी है कि अनादि काल से धारा प्रवाह की तरह चलने वाले राग-द्वेष का नाश तो होना असम्भव है और उन्हीं भावों को लेकर अभिनय का स्वरूप खड़ा किया जाता है। निरीहावस्था विशेष शान्त का अभिनय तो असम्भव ही है—

"अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्......... तस्य समस्त-व्यापारप्रलयरूपस्याभिनयायोगात्" इत्यादि।

सम्भवतः शान्त के नाट्य विषयक जबर्दस्त आन्दोलन के सङ्कोच से मम्मट ने भी आठ रसों की नाट्य में स्पष्ट घोषणा करके पीछे फिर "शान्तोऽपि नवमो रसः" इस प्रकार नवें रस के रूप में इसका निर्देश किया हो।

मम्मट के बाद विश्वनाथ कविराज के समय तक शान्त रस के विषय में काफी विचार प्रारम्भ हो गया था, इसीलिये प्रस्तुत नाट्यदर्पणकार ने भी इसके अभिनय के विषय की अधिक चर्चा न करके इतना ही कहा कि—

"अयं च कैश्चिन्नोक्तः, तेषां सकलक्लेशविमोक्षलक्षणः मोक्षपुरुषार्थपराङ्-मुखत्वमेव दूषणम्"—इस शान्त रस का कुछ लोग नाट्य में विरोध करते हैं, इसमें

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हमें केवल इतना ही कहना है कि सम्पूर्ण पुरुषार्थ में श्रेष्ठ—सकल क्लेश-क्षय रूप जो मोक्ष है उससे वे अपने को वञ्चित कर रहे हैं।

इससे प्रतीत होता है कि पण्डित रामचन्द्र व गुणचन्द्र के काल तक शान्त रस का हल्का विरोध चलता रहा।

आगे पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रस गङ्गाधर में आलोचना पूर्वक इसका मण्डन किया है। अन्त में संगीतरत्नाकरकार के इस पद्य को प्रमाणरूप में उपस्थित कर—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचास यतः कञ्चिन् न रसं स्वदते नटः॥

बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानतया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः—कहा है।

रसाद्वैत-वाद

दर्शन जगत् में जिस प्रकार परमात्मा के विषय में द्वैत-अद्वैत व विशिष्टाद्वैत या द्वैताद्वैत मत को लेकर विवाद हुआ है ठीक यही दशा रस के विषय में भी है। यदि कोई विशिष्ट रत्यादि भाव को रस मानता है तो दूसरा रत्यादि विशिष्ट चित् या वेद्यान्तर स्पर्श शून्य निरवच्छिन्न चित् को ही रस मानता है। यह तो विशिष्ट रस स्वरूप के विषय की कहानी है।

जिस प्रकार—अद्वैत वेदान्त में "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" का सिद्धान्त है, एक ही इस परमपिता परमेश्वर से सारे चराचर ब्रह्माण्ड की सृष्टि मानते हैं और इस चराचर जगत को जो असत्य नानारूप में अवभासित हो रहा है, उसे उस ब्रह्म का ही विवर्त मानते हैं, ठीक इसी प्रकार साहित्य-शास्त्र के भी कुछ मूर्धन्य आचार्य एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद की तरह रसाद्वैत भी मानते हैं।

इनमें सर्वप्रथम प्रातः स्मरणीय महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पादाचार्य हैं। आपका कथन है कि शम स्थायिक शान्त रस ही एक रस है अर्थात् अधिष्ठान है इसी के (वेदान्त में विवर्त स्वरूप) और सांख्य दर्शन में परिणामस्वरूप ये चित्तवृत्तियां रत्यादि हैं—

इसलिए उन आठों में अनाहतनाद "ओम्" स्वरूप अद्वय आनन्दमय स्वात्मा में होने वाली रति ही मोक्ष का साधन है। अतः वही शान्त रस का स्थायी भाव है जैसा कि कहा भी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तत्रानाहतनाद व्यक्ताद्वयानन्दमय स्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शान्ते स्थायिनीति—यथोक्तम्—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्" इत्यादि।

धाराधराधीश महाराज भोज केवल शृङ्गार को ही एक रस-प्रकृत-रस मानते हैं—इसी में रसन-आस्वादन मानते हैं—इनका महावाक्य हैं—"शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः" अन्य रसों में रस शव्द तो अप्रधान रूप में है।

आचार्य नारायण केवल अद्भुत रस को ही एक रस मानते हैं, अन्य रसों में तो वे आस्वादानुभूति ही नहीं मानते हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादभुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

भक्त प्रवर आचार्य मधुसूदन सरस्वती जी भगवद् विषयक भक्ति को ही रस मानते हैं और चैतन्य महाप्रभु जी श्री कृष्ण विषयक भक्ति को ही एक मधुर रस मानते हैं। भवभूति के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि भवभूति एक करुण रस को ही मुख्य रस मानते हैं—जिसका पूरा निर्वाह उन्होंने उत्तररामचरित में "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" इत्यादि से वज्र को गला के और पत्थरों को भी रुला के किया है—

आपके मत में मूल रस करुण ही है, अन्य रस तो सब इसी के विवर्त रूप है। "एको रसः करुण एव" इत्यादि।

काव्यों में रस-निवेश का विधान

अर्थ-शब्द-वपुः काव्यं, रसैः प्राणैर्विसर्पति।
अञ्जसा तेन सौहार्दं, रसेषु कविमानिनाम्॥२१॥

अनुवाद—अभिनेयानभिनेय—उभयविध काव्य का शब्दार्थ शरीर है, रस प्राण है। विभावानुभावसञ्चारी—रूप करणों के द्वारा यह काव्य सहृदयों के हृदय तक पहुंचता है। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे रस-निवेष के विषय अधिक सौहार्द तल्लीन रहें, जिससे कि अनायास रस निवेश के साथ-साथ अलङ्कार भी उसका अङ्ग-उपकारक बन जाय। तभी वह काव्य सहृदयों के चित्त में चमत्कार का आधान कर सकता है॥२१॥

जैसे निम्नाङ्कित पद्य में शृङ्गार रस के साथ-साथ शब्दार्थालङ्कार की अङ्गरूप

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में उपस्थिति हो जाती है, कवि को इन अलङ्कारों के निवेश में पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ा—

दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलये,
कम्पः किमेष पदमोष्ठदले बबन्ध ।
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य,
वक्रस्य कुङ्कुङ्ममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम् ॥

इसी विचार को और दृढ़ कर रहे हैं-

न तथाऽर्थ-शब्दोत्प्रेक्षाः, श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।
विपाककम्रमप्याम्रम्, उद्वेजयति नीरसम् ॥ ॥२२॥

अनुवाद—काव्य में शब्दालङ्कार अनुप्रास यमकादि और अर्थालङ्कार-उपमा उत्प्रेक्षादि उतने प्रशंसनीय नहीं होते, जितना कि रस । क्योंकि परिपक्व कमनीय भी आम्रफल यदि नीरस हो तो फीका ही मालूम पड़ता है ।

यद्यपि नव नवार्थ वाली शब्दार्थ व्युत्पत्ति तो न्याय तथा व्याकरण के बल पर सम्पन्न हो सकती है, किन्तु विचित्र-रस पवित्र-शब्दार्थ सन्निवेश तो केवल सुकवि साध्य ही है । इसीलिए पाकदशा को प्राप्त किन्तु नीरस आम्रफल से उक्त शब्दार्थ व्युत्पत्ति की तुलना की गई ।

फिर नाट्य के विषय में तो विवरणकारों का खासकर निर्देश है कि कवि को रसैकतान होना चाहिए, क्योंकि नाट्य का आधार ही रस है—

"अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमक-श्लेषादीनामेव निबन्धनमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ॥२२॥

इसीलिए जो यह चाहता है कि मैं महाकवि बनूँ उसे नाट्य में विशेष सावधान होना चाहिए, क्योंकि "नाटकान्तं कवित्वं" की यह सूक्ति सर्वथा सत्य है ।

अब विरुद्ध रसों के विरोध में व्यवस्था का निर्देश करते हैं—

एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता ॥

अनुवाद—एकत्र—एक ही आश्रय (नायकादि) में बराबर शक्ति वाले स्वतन्त्र परस्पर विरोधी रसों की विरुद्धता होती है न कि भिन्न आश्रय में ।

एकाश्रय में विद्यमान स्वतन्त्र परस्पर विरोधी रसों का ही विरोध होता है । एकाश्रय में भी यदि कहीं अङ्गाङ्गिभाव से विरुद्ध रसों का निवेश हो तब विरोध का परिहार हो जाता है । जैसे निम्नाङ्कित पद्य में—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किसी राजा के शत्रु की रमणियों का अपने नगर त्याग के करुण दृश्य का वर्णन इस पद्य में है—

यहां कुरवकादि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त शृङ्गार स्वतन्त्र अङ्गी करुण रस को पुष्ट कर रहा है—

"कुरबक ! कुचाघातक्रीड़ा-सुखेन वियुज्यसे,
वकुलविटपिन् ! स्मर्तव्यं ते मुखासव-सेचनम् ।
चरणघटना शून्यो यास्यस्यशोक ! सशोकताम्,
इति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥

इसी प्रकार एकाश्रय में तुल्यबल-विरुद्ध-रसों का कहीं नैरन्तर्येण विरोध होता है, बीच में रसान्तर यदि व्यवधान हो जाए तो विरोध का परिहार हो जाता है—

जैसे—**नागानन्द नाटक** में—

"रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः ।"

इत्यादि द्वारा मलयवती अनुराग रूप शृङ्गार के विरुद्ध शान्त रस का उपक्षेप हुआ पर मध्य में "अहो ! गीतम् अहो ! वादित्रम् ।" इत्यादि अद्भुत रस के सन्निवेश को व्यवहित होने से विरोध का परिहार हो जाता है ।

अब **रस दोषों** का निर्देश करते हैं—

दोषोऽनौचित्यमङ्गौग्र्यम्, अपोषोऽत्युक्तिरङ्गिभित् ॥२३॥ ।

अनुवाद— रसापकर्षत्व— रूप दोष सहृदयों के लिए भी उद्वेग का जनक तथ विचिकित्सा का विषय होता है, अतः रस प्रधान काव्य या नाट्य में वह वर्जनीय है । यह शब्दार्थ विषयक कवि कर्म अनौचित्य मूलक होता है । अर्थात् शब्दार्थ व रस के अभिव्यञ्जक विभावादियों का अनुचित विन्यास ही दोष है । यह दोष कहीं विभावादि के अनुचित घटना से होता है, और कहीं अङ्ग रस के विस्तृत वर्णन से । कहीं अङ्गी रस के अपरिपोष से तो कहीं निरन्तर एक ही रस की अत्युक्ति पुनरुद्दीप्ति से, और अङ्गी प्रधान रस के अननुसन्धान से । रसाभिनिवेश प्रवण रूपकों में यह अनौचित्य मूलक-रस दोष अनेक प्रकार का होता है । अतः महाकवियों को चाहिए कि वे सरस प्रबन्धों में या नाटकादि में बड़ी सावधानी से इसका विनिवेश करें—

अन्यथा रसास्वाद के स्थान में रस भङ्ग होने का महान् भय बना रहता है । इस विषय में आनन्दवर्धनाचार्य की यह सूक्ति अत्यन्त सत्य मालूम पड़ती है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा: ।।

प्रकृत रस के प्रतिकूल विभाव का वर्णन

त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते, स्मरयते रमते स्म वधूजनः ।।

यद्यपि इस शृङ्गार की सुन्दर योजना में मानवती के मानभङ्ग हेतु शब्दार्थालङ्कारों का अनायास रस पोष में पर्याप्त सहयोग है, परन्तु "अलं विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वय:" से युवावस्था के अनित्यता-प्रकाशन शान्त रस के विभाव का ग्रहण करना अत्यन्त अनुचित है। अतः यह प्रकृत रस के प्रतिकूल विभावादिग्रह दोष से दूषित है। कहीं-कहीं अनवसर में किसी रस का प्रथन—प्रकाश भी अनुचित ही होता है—

जैसे—**वेणीसंहार नाटक में—**

भीष्म प्रभृति महावीर जो कि लाखों योद्धाओं के विनाश में समर्थ है, इनके सेनापतित्व में जब महासंग्राम होने जा रहा है, उस समय धीरोद्धत प्रकृति दुर्योधन का भानुमती के साथ शृङ्गार-प्रथन-वर्णन भी अनुचित ही है।

अवसर में रस का उपसंहार भी अनुचित ही है—

जैसे **वीरचरित** नाटक में – राघव व भार्गव का वीर रस-धारा प्रवाह-वाक् युद्ध चल रहा है, इसी बीच में राघव का यह कथन है कि "कङ्कणमोचनाय गच्छामि" अनुचित है।

कहीं-कहीं उत्तमाधममध्यम प्रकृतियों का अन्यथा (विपरीत) वर्णन भी दोष है—

जैसे महाकवि कालिदास के **कुमारसम्भव** महाकाव्य में उत्तम-दिव्य-प्रकृति-उमामहेश्वर का दिव्यादिव्य या अदिव्य अर्थात् मध्यमाधम प्रकृति की तरह सम्भोग शृङ्गार का वर्णन माता-पिता के सम्भोग वर्णन की तरह अत्यन्त अनुचित है।

इसी प्रकार तत्तत् रसों के अनुरूप घटना और वय-अवस्था, वेष व देशकाल के विपरीत रचना भी अनुचित ही है।

मुख्य रस की अपेक्षा अङ्गभूत अप्रधान रस का अधिक वर्णन दोष ही है—

कृत्यारावण नाटक में जैसे जटायु वधादि का विस्तृत वर्णन राम के करुणा के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्यधिक संचार के लिए है, इससे अङ्गीभूत वीर रस तो ओझल सा हो जाता है। कुछ लोग हयग्रीव वध महाकाव्य के हयग्रीव के वर्णन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह तो एक प्रकार से वृत्त दोष है। वस्तुतः वीर रस प्रधान काव्य में वध्य के अत्यन्त शौर्य-वैभव का वर्णन तो, घातक नायक के और प्रकर्ष के लिए होता है।

प्रकृत रस की परिपुष्टि न होना भी रस परिपोष नामक दोष है—

बीभत्सा विषया जुगुप्सिततमः कायो वयो गत्वरम्,
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो वियोगावहः।
हातव्योऽयमसम्भवाय विरसः संसार इत्यादिकम्,
सर्वस्याऽपि हि वाचि चेतसि पुनः कस्यापि पुण्यात्मनः॥

इस पद्य में कवि ने विषयों की बीभत्सता तथा काय का कुत्सितत्व बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया, परन्तु अङ्गी शान्त रस के परिपोष के लिए पुनः "सर्वस्याऽपि हि वाचि" कहकर उसके प्रति कुछ मन्दता या उदासीनता की सी प्रतीति होती है।

यदि "**सर्वस्यापि जनस्य चेतसि**" इत्यादि कह देते तो शान्त रस की सुतरां परिपुष्टि हो जाती, अथवा यदि यह पद्य किसी मुक्तक का हो या अङ्गाङ्गिभाव शून्य किसी प्रसंग विशेष में आया हो तो फिर निर्दुष्ट भी है।

एक ही रस की निरन्तर दीप्ति भी दोष ही है—

कुमारसम्भव महाकाव्य में जैसे रति-प्रलाप। ऐसे अवसर पर रससिद्ध कवियों का स्वल्प वाग्विलास ही प्रशस्य है—

जैसा कि विवरणकारों का कहना है—

"लब्ध परिपोषो हि रस पुनः पुनः परामृश्यमानो मालती-माल्यमिव म्लायति, अतएव प्रकर्षप्राप्तरसविशिष्टानां कवीनामल्पीयानेव वाग्विलास इति।"

अङ्गिभित्—अङ्गीरस का अनुसन्धान न करना भी दोष ही है—

जैसे—**रत्नावली** के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका की विस्मृति।

कुछ आचार्यों का "**दूरादुत्सुकमागते-विवलितं सम्भाषिणि स्फारितम्**" इत्यादि स्थलों में स्वशब्दवाच्यत्व रस दोष बतलाते हैं। वस्तुतः यह ठीक नहीं है, उक्त स्थलों में सञ्चारियों के स्वशब्दवाच्यत्व होने पर भी विभावादि के परिपोष में कोई क्षति नहीं है। अतः निर्बाध रसानुभूति होने से यह कोई दोष नहीं है, अपितु अव्युत्पन्नोक्ति होने से यहां वक्रोक्ति का अभावमात्र है।

इसी प्रकार उभयरस साधारण-अनुभाव विभावादियों की कष्ट कल्पना भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"परिहरति रति मति लुनीते" इत्यादि स्थलों में सन्दिग्धत्व लक्षण वाक्य दोष ही है। क्योंकि उक्त विभावों का करुणादि रसों में भी सम्भव होने से शृङ्गार के प्रति विभात्व का सन्देह ही होता है ॥२३॥

अब रसों के विवेचन के बाद स्थायी-भावों का विवेचन करते हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च, क्रोधोत्साहो भयं तथा।
जुगुप्सा-विस्मय-शमाः, रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥२४॥

अनुवाद—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम, ये क्रमशः शृङ्गारादि नौ रसों के स्थायीभाव हैं ॥२४॥

विमर्शः—सम्पूर्ण प्रवन्ध में व्याप्त रहने से या स्थिर रहने के कारण इन भावों को स्थायी भाव कहते हैं।

मालान्तर्गत सूत्र न्याय से अन्यान्य भावों का (व्यंगवृत्ति द्वारा) अनुगमन करता हुआ भी यह स्थायी (जो वासना रूप में चिरकाल से चित्त में अवस्थित है) उन हर्ष स्मृत्यादि या विभावानुभाव सञ्चारी भावों से तिरोहित नहीं होता है, अपितु उन भावों से यह स्थायी अच्छी तरह पुष्ट होता है। जैसा कि कहा भी है—

स्रक्सूत्रवृत्त्याभावानामन्येषामनुगामुकः।
न तिरोधीयते स्थायी, तैरसौ पुष्यते परम् ॥

संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **रति**—स्त्री-पुरुष का परस्पर आस्था-बन्धापरपर्याय—अन्योन्य में जो अभिष्वंग चित्त प्रणय बन्धन है, वही रति है।

(२) **हास**—रञ्जन और उन्माद से संयुक्त चित्त का विकास ही हास है।

(३) **शोक**—निर्वेदानुविद्ध दुःख ही शोक है।

(४) **क्रोध**—अपचिकीर्षा-परोपकार करने की इच्छा से उत्पन्न परिताप विशेष ही क्रोध है।

(५) **उत्साह**—धर्म दान-युद्धादि कर्म में आलस्य का न रहना ही उत्साह है।

(६) **भय**-चित्त की विकलता ही भय है।

(७) **जुगुप्सा**—कुत्सित्व का विचार ही जुगुप्सा है।

(८) **विस्मय**—अतिशय का विचार ही विस्मय है।

(९) **शम**—निस्पृहता ही शम है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यही स्थायी भाव रसान्तर में अर्थात् दूसरे रसों में जहां ये आगन्तुकभाव से रहते हैं, वहाँ स्थायी भाव न होकर व्यभिचारी भाव या अनुभाव हो जाते हैं।

अव उद्देश्य क्रम से व्यभिचारी भावों का वर्णन करते हैं—

निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्काऽसूया-मद-श्रमाः।
चिन्ता चापल मावेगः मतिर्व्याधिः स्मृतिर्धृतिः ॥२५॥
अमर्षो मरणं मोहः निद्रा-सुप्तौग्र्य-हृष्टयः।
विषादोन्माद-दैन्यानि, व्रीडा त्रासो वितर्कणम् ॥२६॥
गर्वौत्सुक्यावहित्थानि, जाड्यालस्य-विबोधनम्।
त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं, रसानां व्यभिचारिणः ॥२७॥

ये तैंतीस यथोचित रसों के व्यभिचारी भाव हैं। यह तो हमने केवल पूर्व कथन का अनुवाद मात्र कर दिया, इससे अधिक—क्षुत्, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव, दाक्षिण्य आदि भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं ॥२७॥

अव इनका स्वरूप प्रतिपादक लक्षण किया जाता है—

निर्वेद का लक्षण

निर्वेदस्तत्त्वधी-क्लेशैः वैरस्यं श्वास-तापकृत्।

अनुवाद—क्लेश-दारिद्रय्-व्याधि-अपमान इर्ष्या-तत्त्वज्ञानादि से जन्यसन्ताप व निश्वास कारक जो वैरस्य - रत्यभाव वही निर्वेद है।

ग्लानि का लक्षण

ग्लानिः पीडा-जराऽऽयासैः, अशक्तिः कार्श्य-कम्पभाक् ॥२८॥

अनुवाद—पीडा-व्याधि-जरा-आयासादि से कृशता और कम्पन का सम्पादक जो असामर्थ्य वही ग्लानि है ॥२८॥

अपस्मार का लक्षण

वैकल्यं ग्रह-दोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः।

अनुवाद—ग्रह-पिशाचादि के प्रकोप से या धातु वैषम्य जनित प्रकोप से भूमिपात-फेन वमन-निश्वासादि पूर्ण, निन्द्य चेष्टाओं से जो वैकल्य-कृत्याकृत्य-अविवेक वही अपस्मार है।

शका का लक्षण

शङ्का स्व-परदौरात्म्याद्, दोलनं श्यामताऽऽदियुक् ॥२९॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—अपने अथवा दूसरे के अपराध से मुखादि का विवर्तरूप श्यामता सम्पादक जो चित्त का क्षोभ या अस्थिरता है उसी को शङ्का कहते हैं ।।२६।।

असूया का लक्षण

द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिः, असूया दोषदर्शनी ।

अनुवाद—द्वेषादि से जो दूसरे के सद् गुणों में दोषदृष्टि पूर्वक जो असहन-शीलता, उसी को असूया कहते हैं ।।

मद का लक्षण

ज्येष्ठादौ मून्मदो मद्यात्, निन्द्रा-हास्याश्रुकृत् कमात् ।।३०।।

अनुवाद—उत्तम-मध्यमादि व्यक्तियों में मद्य के द्वारा-निद्रा-हास्य व अश्रुओं का जनक जो क्षुत्-हर्ष है, उसी को मद कहते हैं ।।३०।।

श्रम का लक्षण

श्रमोरतादिभिः सादः, स्वेदः श्वासादिकारणम् ।

अनुवाद—रति-व्यायामादियों से स्वेद व श्वासादिकारक साद-अंगों का शोषण ही श्रम है ।

चिन्ता का लक्षण

आधिश्चिन्ता प्रियानाप्तेः, शून्यता श्वास-कार्श्ययुक् ।।३ .।।

अनुवाद—अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति-शून्यता-इन्द्रिय विकलता और श्वास व कृशता को उत्पन्न करने वाली मानसिक व्यथा ही चिन्ता है ।

आवेग का लक्षण

चापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वैरिताऽऽदिमत् ।
आवेगः सम्भ्रमोऽतर्क्याद्, विकर्त्ताऽङ्गमनो-गिराम् ।।३२।।

अनुवाद—अतर्कित-प्रियाप्रिय वस्तु से उत्पन्न आंगिक-मानसिक व वाचिक विकाररूप सम्भ्रम-सङ्क्षोभ ही आवेग है ।

मति का लक्षण

प्रतिभानं मतिः शास्त्र-तर्काद् भ्रान्तिच्छिदादिकृत् ।

अनुवाद—शास्त्र-तर्क व भ्रान्ति को दूर करने वाले उपदेशादि से उत्पन्न प्रति-भान-प्रतिभा ही मति है ।

व्याधि का लक्षण

दोषेभ्योऽङ्ग-मनः-क्लेशः, व्याधिः स्तनित-कम्पवान् ।।३३।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—दोष—कफ-वात-पित्त की विषमता से जनित आर्तस्वर व कम्पकारक, अङ्ग व मन का क्लेश ही व्याधि है।

स्मृति का लक्षण

दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्यदृष्ट्यादेर्भ्रून्नतिक्रिया।

अनुवाद—तुल्यदृष्टि—सदृशदर्शन श्रवण-चिन्तनादि से भ्रून्नति क्रिया पूर्वक पूर्वदृष्ट वस्तु का आभास स्मरण ही स्मृति है।

धृति का लक्षण

धृतिर्ज्ञानेष्टलाभादेः सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत् ॥३४॥

अनुवाद—ज्ञान-विवेक ज्ञान या इष्ट-लाभादि से देहपुष्टि कारक सन्तुष्टि ही धृति है ॥३४॥

अमर्ष का लक्षण

क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः।

अनुवाद – क्षेपादि—तिरस्कार व अपमानादि से उत्पन्न कुछ-कुछ कम्पादि-कारक, परानर्थकरणाभिप्रायरूप मन्द मानसिक क्रोध ही अमर्ष है।

मरण का लक्षण

व्याध्यादेर्मृत्युसङ्कल्पः, मरणं विकलेन्द्रियम् ॥३५॥

अनुवाद—व्याधि—वात-पित्त-कफ के वैषम्य से समुत्पन्न जो मृत्यु सङ्कल्प—मरण का अध्यवसाय—"दुष्प्रतिकारोऽयमनर्थस्तस्मादवश्यं मरिष्यामीत्यध्यवसायः" रूप निश्चय से इन्द्रिय असामर्थ्य ही मरण है, न कि प्राण निरोध रूप मरण क्योंकि नाट्य में उसका निषेध है।

"प्राणनिरोधरूपं तु मरणं न नाट्ये प्रयोज्यमिति, न तस्य विभावानुभाव-रूपाणि प्रतिपाद्यन्त इति" ॥३५॥

मोह का लक्षण

अचैतन्यं प्रहारादेः, मोहोऽत्राघूर्णनादयः।

अनुवाद—प्रहारादि जन्य मूर्च्छनादि कारक-अचैतन्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति ज्ञानाभाव ही मोह है।

निद्रा का लक्षण

इन्द्रियाव्यापृत्तिर्निद्रा, खेदादेर्मूर्द्धकम्पनी ॥३६॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—खेदादि-परिश्रमादि से इन्द्रियाँ-स्पर्श, श्रवण, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा व्यापाराभाव अर्थात्—अपने अपने विषयों का अग्रहण होना ही निद्रा है, इसमें जृम्भा-निश्वास वदन-विकासादि विभाग भी होते हैं। निद्रा में केवल पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का ही व्यापार का विराम होता है, न कि मन का, **"न तु मनस्तस्य निद्रायामपि व्यापारात्"** ऐसा विवरणकारों का कहना है ।।३६।।

सुषुप्ति या स्वाप का लक्षण

सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र, स्वप्नायित खमोहेन ।

अनुवाद—स्वप्नायित—स्वप्न कालिक विषय प्रतीति, प्रलपित व मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों की जिसमें सम्मोहन—विषय विमुखता होती है। ऐसा निद्रा का प्रकर्ष गाढ तमोगुणावस्था ही सुसुप्ति या सुप्त है। निद्रा से इसमें भेद यह है कि निद्रा में मन की सावधानता रहती है और सुसुप्ति में मन भी तमो गुण से उपरुद्ध हो जाता है। अन्य कार्य सब निद्रा के समान ही हैं।

उग्रता का लक्षण

दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यम्, औग्र्यं बन्धवधादिभिः । ३७।।

अनुवाद—चौर्यादि अपराध के कारण हिंस्रत्व-अनृतत्वादि दोष दूषित व्यक्ति में राजादि-प्रयुक्त जो निर्दयता वही उग्रता है। इसमें वध-वन्धनादि कार्य होते हैं ।।३७।।

हर्ष का लक्षण

हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्ते, अत्र स्वेदाश्रु-गद्गदाः ।।

अनुवाद—इष्ट-प्रिय संयोग तथा अप्रिय के वियोग जन्य जो प्रसत्ति—चित्त की विकासावस्था है, उसी को हर्ष कहते हैं। इसमें प्रमोदाश्रुपुलक, वाष्पादि से कण्ठ का गदगद हो जाना इत्यादि विभाव होते हैं ।।

विषाद का लक्षण

विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निःश्वास-चिन्तनैः ।।३८।।

अनुवाद—इष्ट अभीष्ट वस्तु को अनाप्ति-अप्राप्ति में या दैव प्रतिकूल्यादि कारणों से विरुद्ध प्राप्ति अनर्थ प्राप्ति के कारण चित्त का जो अनुत्साह जन्य सन्ताप, वही विषाद है। इसमें अनर्थ निवृत्ति के उपायों का चिन्तन मुख मालिन्य निश्वासादि विभाव होते हैं ।।३८।

उन्माद का लण

मनो विप्लुतिरुन्मादः, ग्रहदोषैरयुक्तकृत् ।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—ग्रह-दोष-पिशाचादि ग्रहग्रस्त होने से या धातुवैषम्य जनित दोषों के कारण मन की जो अनवस्थिति विह्वलता विशेष ही उन्माद है, इसमें उन्मत्त व्यक्ति गीत नृत्य रुदितादि-कार्यो को करता है ।

दैन्य का लक्षण

आपदः स्वान्तनोचत्वं, दैन्यं कार्ष्ण्यावगुण्ठनैः ।।३८।।

अनुवाद—आपत्ति-जन्य मन की हीनता या विकलता ही दैन्य या दीनता है। इसमें मुख की मलीनता, शरीर के संस्कार का परिहारादि अनुभाव है ।।३६।।

व्रीडा का लक्षण

व्रीडाऽनुताप-गुर्वादेः, अधाष्ट्र्यं गात्रगोपकम् ।

अनुवाद—गुर्वादि—माता पिता व गुरुजनों के समक्ष—अकृत्य करण जन्य मानसिक अनुताप ही व्रीडा है। इसमें अतिशय लज्जा के कारण अधोमुख करना, भू विलेखनादि अनुभाव है ।

त्रास का लक्षण

घोराच्चकित (ता) त्रासः कायसंकोच-कम्पितैः ।।४०।।

अनुवाद—घोर भयानक उत्पात-जन्य मन का उद्वेग ही त्रास है, इसमें काम सङ्कोच, कम्पन-मूर्च्छा आदि अनुभाव होते हैं ।।४०।।

तर्क का लक्षण

एकसम्भावनं तर्कः, वादादेरङ्गनर्तकः ।

अनुवाद—वाद—विप्रतिपत्ति—या विवाद-ग्रस्त विषय में एक पक्ष की सम्भावना ही तर्क है। इसमें अङ्गुलि का नर्तन, भ्रुकुटि आदि का उन्नयनादि अनुभाव है ।

गर्व का लक्षण

आत्मन्याधिक्यधीर्गर्वः, विद्याऽऽदेन्यरीढया ।।४१।।

अनुवाद—विद्यादि विभूति के द्वारा परावज्ञा पूर्वक आत्माभिमान ही गर्व है। इसमें पारुष्य अनुत्तरदान, उपहसनादि अनुभाव हैं ।।४१।।

औत्सुक्य का लक्षण

इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं, स्मरणाघात् त्वराऽऽदिभिः ।

अनुवाद—प्रिय या मनोज्ञ वस्तु को देखने की या जो अधीरता या अभि-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुखता वही औत्सुक्य कहा जाता है। इसमें मन, वाणी, शरीर व दृष्टि में चपलता रहती है। कृत्य विस्मरण, असम्बद्ध वचन, दीर्घ निश्वासादि इसके अनुभाव हैं ।।

अवहित्था का लक्षण

धार्ष्ट्यादेर्विक्रियोरोधोऽवहित्थाऽत्र क्रियान्तरम् ।।४२।।

अनुवाद—धाष्ट्र्य—प्रगल्भता, भय लज्जा-गौरव कुटिलाशयादि की विक्रियाओं की गुप्ति— या उनके आकारों का गोपन ही अवहित्था है। इसमें प्रस्तुत क्रिया से अन्य कथनावलोकन कृतक स्थैर्यादि अनुभाव होते हैं ।।४२।।

जड़ता का लक्षण

जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञान मौननिमेषणैः ।

अनुवाद—इष्ट—प्रिय दर्शन या श्रवण जन्य और अनिष्ट—भयानक वस्तु के दर्शन या श्रवण से जो कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान की शून्यतारूप मौन निष्क्रियभाव है, उसी को जड़ता कहते हैं। इसमे निर्निमेष दर्शनादि अनुभाव होते हैं।

आलस्य का लक्षण

कर्मानुत्साह आलस्यम्, श्रमाद्याज्जृम्भितादिभिः ।।४३।।

अनुवाद—श्रमादि के कारण कार्य विशेष मे अनुत्साह ही आलस्य है। इसमें जृम्भित—जँभाई लेना, बैठे रहना, किसी पुरुषार्थ का अनारम्भादि अनुभाव होते हैं ।।४३।।

विबोध का लक्षण

निद्राच्छेदो विबोधश्च शब्दादेरङ्गभङ्गवान् ।।

अनुवाद—शब्दादि—ध्वनि या स्पर्श स्वप्नान्तादि से उत्पन्न जो निद्राभङ्ग उसी को विबोध कहते हैं। इसमें अङ्ग विमर्दन, भुजाक्षेप, अंगुलित्रोटनादि-अनुभाव होते हैं ।।

अब इन रसों व भावों की परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव (कार्य-कारण) दिखलाते हैं—

केषाञ्चित् तु रसादीनाम् अन्योन्यं हेतुकार्यता ।।४४।।

अनुवाद —किन्हीं इन रसादियों का परस्पर कार्यकारण भाव भी होता है। जैसे महापुरुषों के उत्साह से विस्मयादि की भी प्रतीति होती है, तथा द्रौपदी स्वयंवरादि उत्साह पूर्ण उत्सव से शृंङ्गार की भी प्रतीति होती है। बध बन्ध

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

फलवाले रौद्र से भयानक व करुण की भी प्रतीति होती है—

"तथा च सर्वरसेभ्योऽनन्तरं सर्वे सजातीया रसा भवन्ति" और सभी रसों से सजातीय रसों की प्रतीति होती है।

जैसे—शृंङ्गारी को देखकर शृंगार, और हंसते हुए आश्रय को देखकर हास्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परस्पर रसों से कार्य-कारण भाव रहता है।

इन रसों की अनुचित प्रवृत्ति ही रसाभास में कारण है, और यह रसाभास हास्यरस का कारण है। जैसे—रावण का अनुचित शृङ्गार-शृङ्गाराभास होता हुआ सहृदयों के हास्य का कारण होता है।

कभी-कभी तो हास्याभास से भी हास्य की प्रतीति होती है—जैसे निम्नाङ्कित पद्य में—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एषः,
सम्मन्यते 'यदि किमङ्ग ! वदाम नाम !।
यत् त्वत्र हासमुखरत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

व्यभिचारी भावों में भी परस्पर उत्पाद्योत्पादक भाव देखा जाता है—

जैसे—व्याधि से निर्वेद, चिन्ता व विवोध से स्मृति, श्रम से आलस्य इत्यादि। अनुचित प्रवृत्ति व्यभिचारी भाव से—अर्थात् प्राधान्येन जहां अनुचित भाव की अभिव्यक्ति हो उस भावाभास से भी हास्य की प्रतीति होती है।

अब रसों के स्थायी व व्यभिचारियों के कार्यभूत—अनुभावों या सात्त्विक-भावों का वर्णन करते हैं—

वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्चाः, स्वर-भेदोऽश्रु मूर्छनम्।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्याः, अनुभावा रसादिजाः ॥४५॥

अनुवाद—वेपथु, स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद-विवर्णता इत्यादि रसों के स्थायी व व्यभिचारी भावों से उत्पन्न होने वाले अनुभाव हैं ॥४५॥

वेपथु का लक्षण

भयादेर्वेपथुर्गात्र-स्पन्दो वागादिविक्रियः।

अनूवाद—भयादि से वाणी-गति-चेष्टादि की विक्रिया का सम्पादक जो गात्र शरीर कम्पनादि है उसे वेपथु कहते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्तम्भ का लक्षण

यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भः, हर्षादेर्हा विषादवान् ।।४६।।

अनुवाद—हर्षादि के कारण—प्रयत्न करने पर भी अङ्गों की जो प्रक्रिया चलनाभाव है, अथवा स्तब्ध होना, इसी को स्तम्भ कहते हैं। यह यदि हर्षातिरिक्त कारण जन्य होगा तो दुःख पूर्ण भी होगा ।।४६।।

रोमाञ्च का लक्षण

रोमाञ्चः प्रियदृष्ट्यादेः, रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।।

अनुवाद—प्रिय दर्शनादि विभावों से रोम विक्रियात्मक जो रोम विकास है, उसी को रोमाञ्च कहते हैं। इसमें नेत्रादि प्रमुख अङ्गों का विकास होता है।

स्वरभेद का लक्षण

स्वरभेदः स्वरान्यत्वम्, मदादेर्हर्ष हास्यकृत् ।।४७।।

अनुवाद—मदादि के कारण स्वर का उपचयापचय जन्य विक्रियारूप जो गदगद है, उसी को स्वरान्यत्व या स्वरभेद कहते है यह हर्षादि जनक है।

अश्रु का लक्षण

अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्यैः, नासास्पन्दाक्षिरूक्षणैः।

अनुवाद—शोकादि कारणों से, नासिका व नेत्रादि का मालिन्य कारक जो नेत्रोत्पल वारि—जल है, उसी को अश्रु कहते हैं।

मूर्छा का लक्षण

मूर्छनं घात-कौपाद्यैः, खग्लानिर्भूमिपातकृत् ।।४८।।

अनुवाद—प्रहार व कोपादि के कारण इन्द्रियों की ग्लानि अर्थात् विह्वलता ही मूर्छा है, इसमें भूमि पातादि अनुभाव होते हैं ।।४८।।

स्वेद का लक्षण

स्वेदो रोम-जलस्रावः, श्रमादेर्व्यंजनग्रहैः।

अनुवाद—श्रमादि के कारण—रोम-कणों से जल का जो निस्पन्द है उसी को स्वेद कहते हैं, व्यंजन-ग्रहण इत्यादि इसके अनुभाव हैं।

वैवर्ण्य का लक्षण

छायाविकारो वैवर्ण्यं, क्षेपादेर्दिग्निरीक्षणैः ।।४६।।

अनुवाद—तिरस्कारादि के मुख शोभा की मलिनता रूप जो विक्रिया है उसी को वैवर्ण्य कहते हैं, इसमें झांकना दिग्निरीक्षणादि अनुभाव होते हैं ।।४६।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विमर्शः—इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार ग्रन्थकारों ने नौ रस और उनके नौ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव और आठ सात्विक भावों या अनुभावों का वर्णन किया, ये सब मिलाकर उनचास होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यभिचारी भावों की गणना के प्रसङ्ग में उन प्रसिद्ध तैंतीस व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त कुछ अन्य भावों की भी कल्पना की गई जैसे तृष्णा-मैत्री-मुदिता-दया-श्रद्धा इत्यादि। परन्तु इनका यथाक्रम हर्षादि में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है।

इसी प्रकार रसों के विषय में भी कुछ अन्य ग्रन्थकारों ने अपने-अपने प्रतिभा के वल से कुछ अतिरिक्त कल्पना की है। जैसे विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य रस की कल्पना की है। हिन्दी साहित्य में सूर व तुलसी की रचनाओं में काफी मात्रा में इसका परिपोष हुआ है।

मधुसूदन सरस्वती जी ने भक्ति रस की उद्भावना की है। इसी रस के प्रतिपादन के लिए उन्होंने **"भक्तिरसायन"** नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया।

गौडीय-वैष्णवों में चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्णविषयक अलौकिक रत्यवच्छिन्न माधुर्य को ही परम रस माना। उनके शिष्य श्री रूपस्वामी ने इस पर **भक्तिरसामृत सिन्धु** नामक सुन्दर ग्रन्थ का निर्माण किया।

आधुनिक युग में भी पूर्व व पश्चिम सभी देशों के साहित्य में देश सेवा या देश भक्ति रस भी एक अभिनव रस के रूप में आधुनिक साहित्य यत्र-तत्र वर्णित है, विशेषकर पाश्चात्य साहित्य में इसका अधिक वर्णन है। देश भक्ति में एक प्रकार से अपने देश-राष्ट्र के प्रति प्रेम का प्रसार करता है, जिसके फलस्वरूप सहृदय अपने राष्ट्र या देश के समुत्थान या संरक्षण के लिए सब कुछ अर्पण कर देता है, जिसका सुन्दर वर्णन फल या प्रयोजन आपके सामने है कि आज दुनिया का कोई भी देश परतन्त्र नहीं है। परतन्त्रता के पाश-बन्धन से मुक्ति कराना और स्वस्थ दशा में देश की समृद्धि देखना इस रस का लक्ष्य है।

अब प्रकृत विषय में हमें यह देखना है कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने इन सब उपादेय भावों की कहीं उपेक्षा तो नहीं की? वे जब प्राणीमात्र के अभ्युदय व निःश्रेयस हेतु ग्रन्थों का निर्माण करते हैं तो फिर मानवमात्र के परिपयोगी इन भावों की सहसा अवहेलना नहीं कर सकते हैं।

प्राचीन आचार्यों में भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने पूर्वोक्त उपयुक्त तत्त्वों का भाव में अन्तर्भाव कर दिया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भाव पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

"भावा इति, कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किंवा भावयन्तीति भावाः। उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा, इति ॥"

अब भावों की व्याख्या करेंगे कि भाव किसे कहते हैं। भू-अवकल्पने धातु से निष्पक्ष चिन्तन ज्ञान अर्थ वाले इस भाव शब्द का अर्थ है वाचिक आङ्गिक व सात्विक अभिनयों से युक्त काव्यार्थों का सामाजिकों को जो ज्ञान करा देते हैं, उन्हें भाव कहते हैं।

णिजन्त भू-धातु से करण में "करणाधिकरणयोश्च" इस सूत्र से घञ् प्रत्यय से यह भाव शब्द सिद्ध होता है—जिसका अर्थ है भावना या वासना। लोक में भी प्रसिद्ध है कि इस गन्ध से या रस से अमुक द्रव्य या देश भावित है वासित है। भावित पद में भी भाव शब्द से इतच् प्रत्यय करके भावित शब्द बनाया है इसका अर्थ है भावना जिसमें दे दी गई है। अतः यह भावित व्याप्ति के अर्थ वाला है।

इस विषय में निम्नलिखित श्लोक है—

विभावेनादृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः, स भाव इति संज्ञितः ॥१॥

जो अर्थ विभावों से निष्पादित हो और अनुभावों से प्रतीत होकर वाचिक आङ्गिक व सात्विक भावों से अभिनीत हो, उसे भाव कहते हैं।

अथवा

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाऽभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥२॥

वाचिक, आङ्गिक, मुखराग एवं सात्विक अभिनय के द्वारा कवि के हृदय-गत आशय का जो ज्ञान करा देते हैं उन्हें भाव कहते हैं।

या

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥३॥

नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों का जो सामाजिकों को बोध करा देते हैं, नाट्यप्रयोक्ता लोग इन्हें भाव कहते हैं।

अभिनव गुप्त ने और इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि **"रसनयोग्यान् चित्त-वृत्तिविशेषान् भावयन्ति गमयन्ति बोधयन्ति बुद्धिविषयान् प्रापयन्ति।"** अर्थात् नाना

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अभिनयों से सम्बद्ध-आस्वादन के योग्य चित्तवृत्तियों को इन सामाजिकों के भावगम्य-बोध के योग्य-बुद्धि के बिषय जो करा देते हैं उन्हीं चित्तवृत्ति विशेषों को भावना या भाव कहते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार देवादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी भाव कहा जाता है।

"रति देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः"।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का भी करीब-करीब यही मत है—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

इत्यादि—

पण्डितराज जगन्नाथ ने बड़े ऊहापोह के साथ अतिव्याप्त्यादि दोषों से बचाते हुए भाव शब्द का निर्वचन किया है—उन्होंने "अथ किं भावत्वम्" यहां से प्रारम्भ कर मध्य में अनेक विकल्पों को निरस्त करके फिर सिद्धान्तरूप में "विभावादिव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्" कह भाव पद को प्रतिष्ठित किया, अर्थात् विभावानुभाव से व्यज्यमान हर्षादि अन्यतम को भाव कहते हैं। इसके बाद सभी आचार्यों ने भाव के विषय में भी मम्मट का ही अनुकरण किया।

इसी भाव में इन आचार्यों ने अन्य या नौ से अतिरिक्त रसों का अन्तर्भाव कर दिया है। अतः इनमें किसी प्रकार की न्यूनता की कल्पना करना उचित नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थकारों ने इस भाव नामक अंश की ग्रन्थ में कुछ उपेक्षा सी कर दी थी। सम्भवतः नाट्य के लिए इसे अत्यन्त उपयोगी न समझते हुए, इसका यहां जिक्र नहीं किया हो, अन्यथा वे रसों की ही तरह इसको भी विवेचना करते। हमने जिज्ञासु पाठकों की व्युत्पत्ति के लिए संक्षेप में इसका परिचय दे दिया।

तृतीय विवेक के प्रारम्भ में रस व भाव के पश्चात् निर्दिष्ट-अभिनय का अब वर्णन प्रस्तुत है—

वह अभिनय-वाचिक-आङ्गिक, सात्विक व आहार्य भेद से चार प्रकार का है—

वाचिक अभिनय का लक्षण

वाचिकोऽभिनयो वाचां, यथा भावमनुक्रिया।

अनुवाद—संस्कृत-प्राकृतादि वाणी के द्वारा अनुकार्य के क्रोध-हर्ष-विस्मयादि भावों के अनुकूल (नटों के द्वारा) अनुकरण ही वाचिक अभिनय कहलाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आङ्गिक अभिनय का लक्षण

कर्मणोऽङ्गैरूपाङ्गैश्च, साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥५०॥

अनुवाद—अङ्ग—सिर-हस्त-पार्श्वपादादि के द्वारा और उपाङ्ग—नेत्र-भ्रू-कपोल-चिबुकादि के द्वारा अनुकार्य की चेष्टाओं का अनुकरण करना या उन अनुकार्य की चेष्टाओं का सामाजिकों को प्रत्यक्ष कराना, (जो कि परोक्ष में थीं) आङ्गिक अभिनय कहलाता है ॥५१॥

सात्विक अभिनय का लक्षण

सात्त्विकः स्वरभेदादेः अनुभावस्य दर्शनम् ।

अनुवाद—स्वरभेदादि के द्वारा अर्थात् स्तम्भ-वेपथु-रोमाञ्चादि के द्वारा अनुकार्य के मनोविकारों का प्रदर्शन सात्विक अभिनय कहलाता है ।

आहार्य का लक्षण

वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यः, बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥५१॥

अनुवाद—श्वेत रक्तादि वर्ण विशेषों से और वेपभूषादि आकल्प विशेषों से आयुध-देश-नदी-पर्वतादि वाह्य वस्तुओं के द्वारा अनुकार्य की नटों के द्वारा अनुक्रिया-अनुकरण ही आहार्याभिनय कहलाता है ॥५१॥

विमर्शः—तृतीय विवेक के प्रारम्भ में वृत्तियों के वर्णन के प्रसङ्ग में—नाट्य-जननी-वृत्तियाँ रस भाव व अभिनय का अनुसरण करती है यह कहा था। अब यहां रसभावादि के वर्णन के वाद ग्रन्थकार अभिनय के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं ।

क्योंकि—**रसभावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये व्यापारः**' नाट्य में सारा व्यापार रसभाव व अभिनय से संवलित ही होता है, इसीलिए भी रस भाव के वाद अभिनय का स्वरूप प्रदर्शन आवश्यक है ।

अभिनय का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

नटों के द्वारा वाणी अङ्ग-भाव-भूषादि से अनुकार्य-राम—युधिष्ठिरादिकों की अवस्था का अनुकरण करना ही अभिनय है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने कहा है—

"**भवेदभिनयोऽवस्थाऽनुकारकः स चतुर्विधः**" इत्यादि । यह अभिनय चार प्रकार का होता है—वाचिक, आङ्गिक, सात्विक व आहार्य। वाचिक अभिनय की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए विवरणकारों ने लिखा है—"**वागनुकार्या प्रयोजनं हेतुरस्येति-वाचिकः**" अर्थात् अनुकार्या वाक् ही जिस अभिनय में हेतु हो उसे वाचिक अभिनय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहते हैं। अभिनय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—**सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्-कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेति-अभिनयः"** । अर्थात् नाट्य का वह साधन जिसके द्वारा सामाजिक अभिनीत-पदार्थ का साक्षात्कार करता है। अभिनय में जहां नट रामादि अनुकार्य भावों का वाणी द्वारा अभिनय करता है या अनुकरण करता है, उसे वाचिक अभिनय कहते हैं।

अनुकरण किसी दृष्ट या अनुभूत वस्तु का ही किया जा सकता है, परन्तु नटा-दियों ने तो रामादि का दर्शन नहीं किया है फिर वह उनकी विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण कैसे करेगा ?

उत्तर है कि यद्यपि नट ने स्वयं रामादि के चरित का दर्शन नहीं किया है परन्तु कवि निबद्ध रचना या काव्यादिकों का सम्यक् अध्ययन कर वह शिक्षाभ्यास द्वारा उनके चरित का अनुकरण कर सकता है। क्रान्तदर्शी कवि त्रिकालदर्शी ऋषियों के ज्ञान के समान है। उनके द्वारा निबद्ध रामादि के चरित में नट का भी विश्वास हो जाता है, इस प्रकार नट का भी यह साक्षात् दर्शन ही है।

इस प्रकार नटों में रामादि के अध्यवसाय या अध्यास को प्रेक्षक तन्मयीभाव से अवलोकन करते हैं। इस अलीक तादात्म्य से भी सामाजिकों को रसानुभूति होती है।

आङ्गिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अङ्गानि प्रयोजनं हेतवोऽस्येत्या-ङ्गिकाः। अर्थात् जिस अभिनय में विशेषकर अङ्ग के कारण हों, अङ्गों के द्वारा अभिनीत हो, यह अङ्ग और उपाङ्ग से अभिनीत होने के कारण आङ्गिक कहा जाता है।

अवहित मन को सत्त्व कहते हैं, ऐसा अवहित मन जिस अभिनय में कारण हो उसे सात्त्विक अभिनय कहते हैं। "अवहितं मनः सत्त्वं तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः" इत्यादि यह अभिनय वाचिक व आङ्गिक से भिन्न सत्त्वमानसिक भावों के द्वारा अभिनीत होने के कारण सात्त्विक कहा जाता है।

आहार्य-अभिनय में—वेषभूषादि वन, पर्वत, नदी, वर्ण, विच्छिति विशेष उपकरणों से अनुकरण होता है। ये सब उपकरण बाह्य हैं, वहीं से इनका आहरण होने से इसे आहार्याभिनय कहते हैं।।५१।।

श्री थानेशचन्द्र उप्रेती निर्मित विमर्श में तृतीय विवेक पूर्ण हुआ।।

———

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ चतुर्थो विवेकः

सर्वरूपक-साधारण लक्षण-निर्णयः

अब सभी रूपकों के उपयुक्त वस्तुओं का वर्णन करते हैं—

नान्दी का लक्षण

देव-भूप-सभा-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।
नित्या रूपमुखे नान्दी, पदैः षड्भिरथाष्टभिः ॥१॥

अनुवाद—देव, नृप, सभा, स्वामी व इष्ट देवता-सरस्वती, कवि आदि मङ्गलाशंसन रूप या इनके आशीर्वाद वचनों से संयुक्त नान्दी, रूपक के प्रारम्भ में अवश्य करनी चाहिए। यह नान्दी कहीं षड्पदा या कहीं अष्टपदा रहती है। (पूर्ण वाक्य की अपेक्षा अवान्तर वाक्यों को पद कहा जाता है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है।) जैसा कि विवरण में कहा भी है—"**केचित्तु पूर्णवाक्यापेक्षयाऽवान्तरवाक्यानि पदानि" इत्याहुः** ।

सामान्यतः वाक्य के अङ्गों को पद कहा जाता है, वे सुबन्त हों अथवा तिङन्त। कर्त्तव्य-कर्म रूपक के अभिनय के निर्विघ्नता पूर्वक सम्पादन हेतु और शिष्टाचारानुकूल-आचार की दृष्टि से भी नाटक के प्रारम्भ में नान्दी का होना अत्यावश्यक है।

भरत मुनि ने अपने **नाट्यशास्त्र** में नान्दी पाठ इस प्रकार किया है—

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो, द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
जितं सोमेन वै राज्ञा, शिवं गोब्राह्मणाय च ॥ ॥

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु, हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमां महाराजः, पृथिवीं च ससागराम् ॥२॥

राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव, रङ्गस्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो, भवतु ब्रह्मभाषितम् ॥३॥

काव्यकर्तुर्यशश्चापि, धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं, प्रीयन्तां देवता इति ॥४॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्वरङ्ग का आवश्यक अङ्ग यह नान्दी पाठ मङ्गलाचार की दृष्टि से और शुभ कृत्य के आरम्भ में विविध बाह्य व अन्तरङ्ग अन्तरायों की शान्ति के लिए रूपक के आरम्भ में अवश्य ही करना चाहिए।

इसलिए नाटककार कवि—रूपकारम्भ में "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" ऐसा प्रयो करते हैं। यह नान्दी पाठ—सूत्रधार स्थापक और पारिपार्श्विक द्वारा किया जाता है।

ध्रुवा या कविध्रुवा का लक्षण

(पात्रों के प्रवेशादि पांच अवस्थाओं के अनुकूल स्वर-ताल व लय के द्वारा कविग कृत-गीति को ध्रुव कहते हैं, यह पाँच प्रकार की होती है—

प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तर-सङ्गतम्।
चित्रार्थं रूपकं गेयं, पञ्चधा स्यात् कवि-ध्रुवा ॥२॥

अनुवाद—प्रवेश, निष्क्रम, आक्षेप, प्रसाद, चित्रार्थ ये पांच ध्रुवा गीति के प्रकार हैं ॥२॥

प्रवेश—रङ्गमञ्च में प्रवेश करते हुए पात्र के रस भाव व प्रकृति और अवस्था के अनुकूल—श्लेष व समासोक्ति पूर्ण जो रूपक का गेय (गीत) वह प्रवेश या प्रवेश प्रयोजन वाली गीति होने से प्रवेशिकी गीति कही जायेगी।

निष्क्रमः—अङ्क के अन्त में या मध्य में किसी प्रयोजनवश रङ्गमञ्च से पात्र का जो बहिर्गमन है वह निष्क्रम कहा जाता है। उस निष्क्रम प्रयोजन वाली या निष्क्रम के लिए गाये जाने वाली गीति को नैष्क्रामिकी गीति कहेंगे।

आक्षेप—प्रस्तुत रस को छोड़कर रसान्तर की उद्‌भावना करना आक्षेप है, इसी प्रयोजन के लिए गाये जाने वाली गीति को आक्षेपिकी गीति कहेंगे।

प्रसाद—प्रकृत रस के विभावोन्मीलन द्वारा चित्त का निर्मलीकरण ही प्रसाद है। अथवा रङ्गमञ्च में प्रविष्ट पात्र के चित्तवृत्ति या मनोभावों के प्रभाव से सामाजिकों में उस भावना का प्रसार ही प्रसाद है। इसी प्रयोजन के लिए गाये जाने वाली गीति का नाम प्रसादिकी गीति होगा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चित्रार्थ—चित्र—नाना प्रकार के सरो, वन, दिवस-रात्रि-सन्ध्यादि उत्तमाधम मध्यम प्रकृति के उचित गज-सिंहादि विविध पदार्थों के भावों के अनुकूल स्वर-ताल-लय के द्वारा गेय मान विशेष को चित्रार्थ कहेंगे।

इस प्रकार पांच प्रकार के प्रवेशादि के उपयुक्त कवि-प्रयुक्त इस गीति को ध्रुवागीति या कविध्रुवा कहते हैं ॥२॥

अब नाटकीय पात्रों की प्रकृति का वर्णन करते हैं—

उत्तमा मध्यमा नीचा, प्रकृतिर्नृ-स्त्रियोस्त्रिधा।
एकैकापि त्रिधा स्व-स्व-गुणानां तारतम्यतः ॥३॥

अनुवाद—नाटक में पुरुष व स्त्री पात्र की प्रकृति, अपने-अपने गुणों के तारतम्य से (एक-एक प्रकृति स्त्री व पुरुष) उत्तमा, मध्यमा, व अधमा (नीचा) तीन प्रकार की होती है।

विमर्शः—नाटकीय पात्र वह स्त्री पात्र हो या पुरुष पात्र, पुनः गुणों के तारतम्य-उत्कर्षापकर्ष के कारण स्त्री या पुरुष प्रकृति भी उत्तमा, मध्यमा व अधमा (नीचा) इन तीन श्रेणियों में विभक्त होती है।

प्रकृति का अर्थ है—जन्यसहजातस्वभाव या शुभाशुभशील। यह शील आश्रय विशेष के कारण उत्तम-मध्यम व अधम भाव को प्राप्त करता है। उत्तम यह शब्द इस उपाय से जिसका अर्थ उत्कृष्ट है, अति-प्रकृष्टार्थ में तमप् प्रत्यय लगाकर बनता है।

अब उत्तम प्रकृतिक पुरुष पात्र के गुणों का वर्णन करते हैं—

शरण्यो दक्षिणस्त्यागी लाक-शास्त्रविचक्षणः।
गाम्भोर्य धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवानुत्तमः पुमान् ॥४॥

अनुवाद—उत्तम प्रकृतिक पात्र, शरण्य—शरण में आये हुए व्यक्ति की रक्षा करने वाला, अनुकूल (दक्षिण) लोक व शास्त्र में निपुण, गम्भीर—धैर्यशाली, दाता न्यायवान् होता है ॥४॥

अब मध्यम प्रकृतिक पात्र का वर्णन करते हैं—

मध्यो मध्य गुणः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद— मध्यम प्रकृतिक पात्र में न तो उत्कृष्ट गुण होते हैं, और न निकृष्ट गुण होते हैं। मध्यम कोटि के लोक व्यवहार चातुर्य, कला, दाक्षिण्यादि गुण इसमें रहते हैं।

नीच प्रकृतिक पात्र का लक्षण

नीचः, पापीयान् पिशुनोऽलसः।
कृतघ्नः कलही क्लीबः, स्त्रीलोलो रुक्षवाग् जडः ।।५।।

अनुवाद—नीच प्रकृतिक पात्र—पाप में संलग्न, चुगुलखोर, आलसी, किये हुए उपकार को न मानने वाला, कहलप्रिय, हीनसत्त्व, स्त्रीलम्पट, रुक्षवाणी वाला, मन्दतादि गुणों वाला होता है ।।५।।

उत्तम स्त्री पात्र की प्रकृति का लक्षण

लज्जावती मृदुर्धीरा गम्भीरा स्मितहासिनी।
विनीता कुलजा दक्षा, वत्सला योषिदुत्तमा ।।६।।

अनुवाद—उत्तम प्रकृतिक स्त्री—लज्जावती, मृदुस्वभाव वाली, गम्भीर-स्मितहास्ययुक्त, विनीत, कुलीन, कुशल व स्नेह वाली होती है ।।६।।

मध्यमा व नीचा स्त्री पात्र का लक्षण

नरवन्मध्यमा-नीचे—

अनुवाद—मध्यम प्रकृतिक—पुरुष पात्र के गुणों के समान ही मध्यमा स्त्री पात्र के गुण होते हैं और अधमा या नीच प्रकृतिक पुरुष पात्र के गुणों के समान अधमा या नीचा स्त्री पात्र के गुण होते हैं। कभी-कभी प्रबन्धों में नीच प्रकृतिक पात्र भी नायक होता है—

नीचोऽपीशः कथावशात्।

अनुवाद—कथा कहते हैं इतिवृत्त को, अर्थात् इतिवृत्त के अनुरूप हास्य रस पूर्ण कथानकों में भाव या प्रहसनो में अथवा वीथी में नीच प्रकृतिक पात्र भी नायक होता है। प्रथम विवेक में उत्तम और मध्यम प्रकृतिक पात्र को ही नायक कहा था, यहां यह उसका अपवाद है।

अब सभी रूपकों के मुख्य नायक के लक्षण का निरूपण करते हैं—

प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः ।।७।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—मुख्य नायक नाटक के प्रधान फल से युक्त व अव्यसनी स्त्रियों में आसक्त नहीं होता अथवा किसी व्यसन-विपत्ति का शिकार नहीं बनता। ॥७॥

अब नायक के गुणों का वर्णन करते हैं—

तेजो विलासो माधुर्यं, शोभा स्थैर्यं गभीरता।
औदार्यं ललितं चाष्टौ, गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥८॥

अनुवाद—नायक में तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गम्भीरता, उदारता, ललित - ये आठ सात्त्विक गुण रहते हैं ॥८॥

तेज का लक्षण

क्षेपादेरसहिष्णुत्वं, तेजः प्राणात्ययेऽपि च।

अनुवाद—क्षेप, तिरस्कारादि के, प्राणों पर आ पड़ने पर भी सहन न करना तेज है।

विलास का लक्षण

माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या क्षोभहेतौ महत्यपि ॥

अनुवाद—स्तुति आदि के कारण बहुत बड़े क्षोभ के कारण रोमाञ्चादि के उपस्थित होने पर भी रूपान्तर को प्राप्त होना—विकृत होना या विलसित होना माधुर्य है।

शोभा का लक्षण

शोभा चिह्नं घृणा-स्पर्द्धा दाक्ष्य-शौर्योद्यमोन्नये।

अनुवाद—घृणा– निम्न वस्तु विषयक जुगुप्सा, स्पर्द्धा—उच्च के साथ समता की अभिलाषा, उद्यम—उत्साह, एषामुन्नयः इनकी सत्ता, इन गुणों के सद्भाव का चिन्ह-हेतु ही शोभा है।

स्थैर्य का लक्षण

विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यं, प्रारब्धादशुभादपि।

अनुवाद – अशुभ—प्रारब्धवश अर्थात् विपरीत भाग्य के कारण विघ्नों के रहने पर भी विचलित न होना ही स्थैर्य है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गाम्भीर्य का लक्षण

गाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः, कोप-हर्षादि-गोपनी ॥११॥

अनुवाद—कोप हर्षादि को आच्छादित करने वाला-मुखराग-दृष्टिविकार रहित स्वभाव ही गम्भीरता है ॥११॥

औदार्य या उदारता का लक्षण

औदार्यं शत्रु-मित्राणां, प्राणितेनाप्युपग्रहः ।

अनुवाद—शत्रु या मित्रों का प्राणपण से उपकार करना ही औदार्य है ।

ललित का लक्षण

शृङ्गारिचेष्टा ललितं निर्विकाराः स्वभावजाः ॥१२॥

अनुवाद—स्वाभाविक-निर्विकार-शृङ्गारिक चेष्टाओं-वक्रोक्ति भाषण-शरीर-संस्करणादिकों को ललित कहते हैं ॥१२॥

अमुख्य सहायक नेता का लक्षण

अमुख्यो नायकः किञ्चिदूनवृत्तोऽग्र्यनायकात् ।

अनुवाद—अमुख्य नायक—प्रधान फल की अपेक्षा अवान्तर फल वाला—मुख्यनायक का सहायक होने के कारण उससे किञ्चित् न्यून वृत्त वाला रहता है । यह प्रायः पताका या प्रकरी नायक होता है ।

प्रतिनायक का लक्षण

लोभी धीरोद्धतः पापी, व्यसनी प्रतिनायकः ॥१३॥

अनुवाद—मुख्यनायक का प्रतिपक्षी-प्रतिनायक-प्रायः लोभी-पापी व्यसनी होता है । जैसे—राम युधिष्ठिरादि के रावणदुर्योधनादि ॥१३॥

विदूषकादि के प्रकृतियों के लक्षण

नीचा विदूषक-क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः ।
हास्यायाद्यो नृपे श्यालः, शकारस्त्वेकविद् विटः ॥१४॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—विदूषक-क्लीब-शकार-विट्-किङ्करादि ये सब नीच प्रकृति के होते हैं। इनमें से आद्य-प्रथम, विदूषक राजा के हास्य-मनोविनोद के निमित्त होता है। विकृत हास्य के निमित्त राजा का श्याल शकार होता है। राजा के उपयुक्त कुछ गीत नृत्यादि को जानने वाला विट होता है ॥१४॥

धीरोद्धत नायकों के विभिन्न विदूषकों का वर्णन करते हैं—

स्निग्धा धीरोद्धतादीनां, यथौचित्यं वियोगिनाम्।
लिङ्गी द्विजो राजजीवो, शिष्याश्चैते विदूषकाः ॥१५॥

अनुवाद—धीरोद्धत-धीरललित व धीरप्रशान्त नायकों के विदूषक-ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, अथवा ब्राह्मणों के शिष्य होते हैं। ये नायकों के मित्र की तरह होते हैं। विशेषकर विप्रलम्भ में विनोदप्रिय होते हैं अतएव विदूषक की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार की जाती है—

यथासम्भवम् सन्धि विग्रहेण विग्रहं सन्धिना वा विशेषेण दूषयन्ति-विनाशयन्ति इति विदूषकाः।

अथवा—**विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति विदूषकाः** ॥१५॥

अब धीरोद्धत नायकों के सहायकों का वर्णन करते हैं—

युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवादयः।
सहाया एतदायत्तकर्मैव ललितः पुनः ॥१६॥

अनुवाद—युवराज, चमूनाथ-सेनापति, पुरोहित सचिव आदि सामन्त व तापस इत्यादि इनके सहायक होते हैं।

धीरललित नायक की तो सिद्धि सहायकाधीन ही होती है। सहायक व्यापार ही नायक व्यापार है ॥१६॥

अन्तःपुर के परिवार का वर्णन करते हैं—

शुद्धान्ते कारुको द्वास्थः, कञ्चुकी शुभकर्मणि।
वर्षवरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेषणे स्त्रियाः ॥१७॥
कार्याख्याने प्रतीहारी, रक्षास्वस्त्योर्महत्तरा।
पूर्वस्थितिविधौ वृद्धा, चित्रादौ शिल्पकारिका ॥१८॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—शुद्धान्त अन्तःपुर का द्वारपाल आचारयुक्त कुछ हीनसत्त्व पुरुष होता है जिसे कारुक भी कहते हैं। शुभ कर्म में कञ्चुकी-स्त्री स्वभाव-अदूष्यजाति-ब्राह्मणादि नियुक्त होता है। रक्षाकार्य में वर्षवर—हीनसत्त्व विनीत व्यक्ति को वर्षवर कहते हैं, यह रक्षा-चौकीदारी में रहता है।

प्रेषणादि कृत्य में अत्यन्त हीन सत्त्व-अकर्मण्य को निर्मुण्ड कहते हैं। यह प्रेषणादि कृत्य में रहता है। यही स्त्री रानी आदि के दास्यादिकों का प्रेषणादि कृत्य करता है। रक्षा-ऐश्वर्यादि कर्म व माङ्गलिक कार्य में महत्तरा रहती है। आयकार्य में वृद्धा और चित्रादि कर्म में शिल्पकारिका रहती है ॥१८॥

नायिका का लक्षण

नायिका कुलजा दिव्या, क्षत्रिया पण्यकामिनी।
अन्तिमा ललितोदात्ता, पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥१९॥

अनुवाद—नायिका—कुलीन-दिव्य-सुन्दर-क्षत्रिय कामोत्पन्न, उदात्त होनी चाहिए और धीरललित रूपकादियों में तो पण्यस्त्री भी नायिका होती है। पूर्व वर्णित उदात्त नायिका पुनः धैर्य-लालित्य व उदात्तत्वेन तीन प्रकार की होती है।

अब नायिकाओं के विशेष भेदों का वर्णन करते हैं—

रागिण्येवाप्रहसने, नृपे दिव्ये च न प्रभौ।
गणिका क्वाऽपि दिव्या तु, भवेदेषा महीभुजः ॥२०॥

अनुवाद—प्रहसन से अतिरिक्त रूपकों में गणिका को नायिका के रूप में वर्णन करना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में चारुदत्त की वसन्त सेना। प्रहसन में तो हास्य के निमित्त भी दिव्यु-प्रभु उत्तम नायक के विषय में गणिका का वर्णन नहीं करना चाहिए। यदि दिव्य गणिका हो तो वृत्त के अनुसार उसका भी वर्णन करना चाहिए। जैसे—उर्वशी पुरुरवा।

नायिकाओं के भेद

मुग्धा मध्या प्रगलभेति, त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः।

अनुवाद—पुनः ये मुग्धा, मध्या, प्रगलभा तीन प्रकार की होती हैं ॥

मुग्धा का लक्षण

मुग्धा वामा रते स्वल्प-माना रोहद-वयः-स्मरा ॥२१॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—सुरत में विपरीत, व्यस्था-युवती, युवावस्था वाली, काम वासना युक्त, स्वल्प मान वाली स्त्री को मुग्धा कहते हैं ।

मध्या का लक्षण

मध्या मध्यवयः-काम-माना मूर्च्छान्तमोहना ।

अनुवाद—मुग्धा से अधिक वयवाली, मानवती, मूर्च्छान्त सुख वाली स्त्री को मध्या कहते हैं। यह धीरा-अधीरा व धीराधीरा के भेद से पुनः तीन प्रकार की होती है।

प्रगल्भा के भेद

प्रगल्भेद्धवयो-मन्यु-कामा, स्पर्शेऽप्यचेतना ॥२२॥

अनुवाद—प्रगल्भ-अवस्था-क्रोध व काम वाली, स्पर्श में भी अचेतन होने वाली यह प्रगल्भा भी मध्या की तरह तीन प्रकार की होती है ॥२२॥

प्रकारान्तर से नायिकाओं के भेदों का वर्णन करते हैं—

प्रोषिता का लक्षण

कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया ।

अनुवाद— किसी काम से पति के प्रवास होने से जो अभूषा-केश-शरीरादि के अलङ्करण रहित हो उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं ।

विप्रलब्धा का लक्षण

विप्रलब्धा ससङ्केते, प्रेष्य दूतीमनागते ॥२३॥

अनुवाद—किसी कार्य के करने को दूती को भेजकर भी, सङ्केत करने पर भी जिसका प्रिय नहीं आता उसे विप्रलब्धा कहते हैं ॥२३॥

खण्डिता का लक्षण

खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्त्या वासकमीर्ष्यिता ॥

अनुवाद—पति के अन्यासक्ति के कारण वासक-सज्जा प्रिय के विषय में जो ईर्ष्याकलुषित होती है, वह खण्डिता होती है ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कलहान्तरिता का लक्षण

ईर्ष्या-कलह-निष्क्रान्ते,-कलहान्तरिताऽर्तिभाक् ॥२४॥

अनुवाद—इर्ष्या व कलह् के कारण व्यवहित कर दिया है प्रिय समागम जिसने ऐसी समागम विषयक पीडावाली नायिका को कलहान्तरिता कहते हैं ॥२४॥

विरहोत्कण्ठिता का लक्षण

विलम्बयत्यदोषेऽपि, विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।

अनुवाद—बिना किसी अपराध के समागमेच्छा वाले नायक के कुछ विलम्ब के कारण जो उत्कण्ठित होती है, उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं ।

वासकसज्जा का लक्षण

हृष्टा वासकसज्जाऽऽत्मन्यलङ्कृतिपरैष्यति ॥२५॥

अनुवाद—प्रिय के साथ रात्रि में निवास ही वसन है, उसमें जो उचित कार्य कलापों में तत्पर हो उसे वासक कहते हैं। अतः प्रिय के निषय में प्रसन्न व मण्डन-युक्ता नायिका को वासकसज्जा कहते हैं ॥२५॥

स्वाधीनभर्तृका का लक्षण

सुभगम्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।

अनुवाद—प्रिय जिसके वश में हो और सन्निकट भी हो ऐसी सुभगम्मन्या नायिका स्वाधीनभर्तृका कहलाती है ।

अभिसारिका का लक्षण

सरन्ती, सारयन्ती वा, रिरंसुरभिसारिका ॥२६॥

अनुवाद—स्वयं पति के पास अभिसरण करे या प्रिय को जो अपने पास बुलाए उसे अभिसारिका नायिका कहते हैं ॥२६॥

अब स्त्रियों के युवावस्था सुलभ धर्मों का वर्णन करते हैं—

भावाद्या यौवने स्त्रीणाम्, अलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।
दश स्वाभाविकाश्चैते, क्रियारूपास्त्रयादश ॥२७॥
सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।
नावश्यम्भाविनोऽथैषा, विंशतिः स्त्रीषु मुख्यतः ॥२८॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—युवावस्था में भावुक स्त्रियों में वे बीस प्रकार के अलङ्कार होते हैं। इनमें से तीन अङ्गज हैं इन्हें भाव भी कहते हैं, दश स्वाभाविक हैं। मिलकर ये तेरह अलङ्कार. क्रियारूप हैं। सात विना किसी प्रयत्न के होने वाले स्वभावज अलङ्कार होते हैं। यही बीस अलङ्कार मुख्यतः होते हैं।। २८।।

भाव का लक्षण

भावो वागादिवैशिष्ट्यं, चिह्नं रत्युत्तमत्वयोः।

अनुवाद—उत्तम प्रकृतिक नायिकाओं के वाक् करचरण्यादि के विचित्र मनोहर विकार को भाव कहते हैं।

हाव का लक्षण

नेत्रादिविकृतं हावः, सश्रृङ्गारमसन्ततम् ।।२६।।

अनुवाद—नेत्रादि अङ्गों का निरन्तर श्रृङ्गार रस पूर्ण अतिशय विकार को हाव कहते हैं।।२६।।

हेला का लक्षण

तदेव सन्ततं हेला, तारुण्योद्बोधशालिनी।

अनुवाद—तारुण्य के प्रकर्ष होने पर श्रृङ्गारोचित सतत प्रसरण शील नेत्र विकार ही हेला है।

अङ्ग व भाव उत्तराङ्गों की अपेक्षा नहीं रखता है, हावभाव की अपेक्षा रखता है और हावापेक्षी हेला है।।

अब स्वभावज अलङ्कारों का वर्णन करते हैं।

विभ्रम का लक्षण

रागादिना विपर्यासः, क्रियाणामथ विभ्रमः ।।३०।।

अनुवाद—प्रियतम-विषयक रागादि के कारण क्रिया-चेष्टाओं के विपर्यास को विभ्रम कहते हैं। विपर्यास स्वरूपम्—"अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा वचनम्, हस्तेनादातव्ये पादेनादानमित्यादि ।।३०।।

विलास का लक्षण

विलासः प्रियदृष्ट्यादौ चारुत्वं गात्रकर्मणोः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—प्रिय के दर्शनादि में शरीर व चेष्टाओं के तात्कालिक गतिविशेष को विलास कहते हैं।

विच्छित्ति का लक्षण

वेषाल्पतैव विच्छित्तिः, परां शोभां वितन्वती ॥३१॥

अनुवाद—थोड़ी सी आकल्प रचना-वेषभूषा जब अधिक शोभा को उत्पन्न करती है तो उसे विच्छित्ति कहते हैं।

लीला का लक्षण

लीला दयितवागादेः, स्वे न्यासो बहुमानतः।

अनुवाद—प्रिय के वागादि वेष व्यापार का अतिशय प्रीति के कारण अपने में अनुकरण करने को लीला कहते हैं।

विव्वोक का लक्षण

विव्वोकोऽनादरो मान-दर्पादिष्टेऽपि वस्तुनि ॥३२॥

अनुवाद—मान—(चित्तसमुन्नति) दर्प-सौभाग्य गर्व के कारण अभीष्ट वस्तु विषयक अनादर को विव्वोक कहते हैं ॥३२॥

विहृत का लक्षण

विहृतं जल्पकालेऽपि, मौनं ह्री-व्याज-मौग्ध्यतः।

अनुवाद—लज्जा या मुग्धता आदि के कारण वक्तव्य समय में भी अवाक्-मौन रहने को विहृत कहते हैं।

ललित का लक्षण

ललितं गात्रसञ्चारः सुकुमारो निरर्थकः ॥३३॥

अनुवाद—निरर्थक सुकुमार—अति मनोहर शरीर के गति विशेष को ललित कहते हैं। 'सम्प्रयोजनस्तु व्यापारो विलास' इत्यनयोर्भेद इति ॥३३॥

कुट्टमित का लक्षण

कचौष्ठादिग्रहे कोपो, मृषा कुट्टमितं मुदि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—प्रियतम के द्वारा कचादि के ग्रहण किये जाने पर भी, प्रमोद रहने पर भी मिथ्याकोप को प्रदर्शन कुट्टुमित कहते हैं ।

मोट्टायित का लक्षण

मोट्टायितं प्रियेक्षादौ, रागतो गात्रमोटनम् ।।३४।।

अनुवाद—प्रिय के दर्शन-श्रवणादि में रागतः अङ्गों के मर्दन को मोट्टायित कहते हैं ।।३४।।

किलकिञ्चित का लक्षण

मुहुः स्मिताश्रु-कम्पादेः सङ्करः, किलकिञ्चितम् ।

अनुवाद—स्मिताश्रु-कम्पादि—भय, हसित, श्रम, रोष, गर्व, दुःखादियों का बार-बार सम्मिश्रण सङ्कर कहलाता है ।।

नायिकाओं में ये दश अनुरागजन्य भाव स्वाभाविक होते हैं ।

अब अयत्नज अलङ्कारों का वर्णन करते हैं—

शोभा का लक्षण

औज्ज्वल्यं यौवनादीनाम्, अथ शोभोपभोगतः ।।३५।।

अनुवाद—युवावस्था जन्य रूप-लावण्यादिकों की उज्ज्वलतारूप छाया विशेष को ही शोभा कहते हैं ।। ३५।।

कान्ति व दीप्ति का लक्षण

सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा, दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

अनुवाद—शोभा ही जब अनुराग से तीव्र हो जाती है तो उसे कान्ति कहते हैं और कान्ति का विस्तार दीप्ति है ।

धैर्य व प्रगल्मता का लक्षण

चेतोऽविकत्थनं धैर्यं, प्रागल्भ्यं कौशलं रते ।

अनुवाद—आत्मश्लाघा से रहित या चञ्चलता से रहित चित्त ही धैर्य है। अनुराग में जो कुशलता है, उसे प्रगल्मता कहते हैं ।

अब इन नायिकाओं के विनियोग का वर्णन करते हैं—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यथौचित्यं च नेतॄणां, नायिकाः कुलजाऽऽदयः ॥३०॥

अनुवाद—प्रकृति-अवस्था-देश-काल के अनुसार धीरोद्धतादि नायकों के लिए कुलजादि नायिकाओं का नाटकादि में उपभोग करना चाहिए ॥३७॥

इन नायिकाओं के सहायकों का वर्णन करते हैं—

सहायिन्यस्तु-धात्रेयी-लिङ्गिनी-प्रातिवेशिकाः ।
शिल्पिनी-चेटिका-सख्यः, गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिराः ॥ ३८॥

अनुवाद— धायी, परिव्राजिका, प्रतिवेशिनी (पड़ोसिन), चित्रादि कर्म में निपुण, दासी, सखी आदि नायिकाओं के प्रिय सङ्गम में सहायक होती हैं । ये सहायिकाएँ—रहस्य धारण समर्थ, दक्षा-देश काल स्थिति को जानने वाली, अहङ्कार रहित और चञ्चलता से रहित होती हैं ॥३८॥

अब सामान्यतः भाषा के विधान का वर्णन करते हैं—

देवानीचनृणां पाठः, संस्कृतेनाथ जातुचित् ।
महिषी-मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥३९॥

अनुवाद—देवता व उत्तम-मध्यम दर्जे के मनुष्यों की भाषा संस्कृत ही है, अन्य स्त्रियों की भाषा प्राकृत है । महिषी, मन्त्रिजाया, पण्यस्त्री की भाषा प्राकृत है । कार्य-वशात् कभी संस्कृत भी ये बोल सकते हैं । दम्भ के बिना ही जो व्रत ग्रहण किये हैं ऐसे लिङ्गी ब्रह्मचारियों की भाषा भी संस्कृत ही है और जो किसी व्याज से ब्रह्मचारी हैं, उनकी भाषा प्राकृत भाषा है ॥३९॥

प्राकृत भाषा के पाठ के विषय में कहते हैं—

बाल-षण्ढ-ग्रहग्रस्त-मत्तस्त्रीरूपयोषिताम् ।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि, दारिद्र्यैश्वर्यमोहिनः ॥४०॥

अनुवाद—बाल, षण्ढ (क्लीव) ग्रहग्रस्त, उन्मत्त, स्त्रीप्रकृतिक पुरुष, स्त्रियों की प्राकृत भाषा है, दारिद्र्य से या धनग्रंथ से मूढमन वाले उत्तम प्रकृति वालों की भी भाषा संस्कृत ही होती है ॥४०॥

भाषा का अन्य प्रकार भी दिखलाते हैं—

अत्यन्तनीच-भूतादौ, पैशाची मागधी च वाक् ।
शौरसेनी तु नीचस्य, देशोद्देशे स्वदेशगीः ॥४१॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुवाद—अत्यन्त नीच प्रकृति वालों की और पिशाचादि से जो ग्रस्त हैं उनकी भाषा पैशाची और मागधी होती है। नीच प्रकृति मात्र की भाषा शौरसेनी है, और कुरु-मगधादि देशों की भाषा तत्तत् देश की अपनी भाषा होती है ॥४१॥

तिर्यक् जाति की भाषा का वर्णन करते हैं—

तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण सङ्कथा।

अनुवाद—तिर्यग् जाति, आदि-अर्थात् पशु व पक्षी आदि की जैसी भाषा, आवाज व स्वर प्रसिद्ध है, उसका तदनुरूप वर्णन किया जाना चाहिए।

भाषा में परिवर्तन भी हो सकता है

भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः कार्यतः क्वापि लंघनम् ॥४२॥

अनुवाद—कार्यतः—प्रयोजनवशात्—भाषा प्रकृति, वृत्त आदि के औचित्य से भी संस्कृत व प्राकृतादि भाषाओं में परिवर्तन हो सकता है ॥४२॥

नाटक में स्त्रीपात्रों का नाम निर्देश का प्रकार बताते हैं—

आर्येति शब्द्यते पत्नी, लिङ्गिनो ब्राह्मणी द्विजः।
अम्बाऽपि जननी वृद्धे, पूज्या तु भवतीत्यपि ॥४३॥
भ्रात्राऽग्रजोऽधमैर्मन्त्री, नटी-सूत्रभृतौ मिथः।
पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां, पत्नी पत्न्या जरन् पतिः ॥४४॥

अनुवाद—पत्नी-सहधर्मचारिणी के लिए नाटक में आर्या शब्द से सम्बोधित किया जाता है। ब्राह्मण की पत्नी के लिए लिङ्गिनी या ब्राह्मणी शब्द से पुकारा जाता है। वृद्धा, राजमाता आदि के लिए अम्बा, जननी, पूज्या आदि शब्द से व्यवहार किया जाता है। भ्राता के द्वारा ज्येष्ठ-भ्राता की पत्नी को भवती शब्द से पुकारा जाता है, और अधम नीच-पात्रों द्वारा मन्त्री की पत्नी को भी भवती शब्द से पुकारा जाता है। नटी और सूत्रधार परस्पर क्रमशः आर्या व आर्य शब्द से व्यवहार करते हैं। पुरोहित व वणिक आदि भी परस्पर पति-पत्नी आर्य व आर्या शब्द से व्यवहार करते हैं ॥४४॥

पुरुष पात्रों के व्यवहार का भी वर्णन करते हैं—

महाराजो नृपः सर्वस्त्वार्यपुत्रेति यौवने।
पुंसा भद्रेति भोक्तव्या, प्रियेति दयिताऽथवा ॥४५॥
पिता-पुत्राभिधायोगैर्मुख्या देव्यपि राजभिः।
विदूषकेण भवती, राज्ञी-चेट्यो नृपस्त्रियः ॥४६॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भट्टिनी, स्वामिनी देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदैः।
वेश्याऽज्जुकेति वृद्धा तु, साऽत्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥४७॥

अनुवाद—वृद्ध राजा को राजपत्नी महाराज शब्द से सम्बोधित करें, और युवावस्था में आर्यपुत्र शब्द से सम्बोधित करे। सामान्य पुरुषों को अपनी पत्नी के लिए भद्रा, प्रिया, दयिता आदि शब्दों से व्यवहार करना चाहिए। राजाओं के द्वारा पिता व पुत्रादि के सम्बन्ध को दिखाकर भी अमुक के पिता या अमुक के माता आदि से भी व्यवहार किया जाता है। रानी व चेटी के लिए विदूषक भवती शब्द का प्रयोग करें।

राजपत्नियों के लिए भट्टिनी, स्वामिनी, देवी इत्यादि शब्दों का प्रयोग करे, वेश्या के लिए अज्जुका और वृद्धा वेश्या के लिए अत्ता शब्द से व्यवहार करे। अन्य परस्पर तुल्य शील-अवस्था वाली स्त्रियों का परस्पर हला शब्द से व्यवहार होता है ॥४७॥

प्रकारान्तर से भी सम्बोधन वर्णन करते हैं—

हंजे त्वनुत्तमा प्रेष्ये, भगवदिति देवता।
तपःस्था चार्च्य-देवर्षि, बहुविद्याः संयोषितः ॥४८॥
मान्यो नामान्तरे राजा, लिङ्गिनाऽथ विदूषकैः।
वयस्योऽप्यधमैर्भट्टी; लोकैर्देवेति भूपतिः ॥४९॥

अनुवाद-- मध्यम वर्ग की स्त्री को और (सेविका) प्रेष्या के लिए हंजे शब्द का प्रयोग करना चाहिए। देवता आदि—सरस्वती इत्यादि के लिए भगवती शब्द का प्रयोग करना चाहिए। तपस्या में रत व पूज्यतमाओं एवं बहुश्रुत महिलाओं के लिए भगवति शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

ब्रह्मचारियों के द्वारा, राजा के लिए मान्य, अमुक वंश मौक्तिकमणे, इत्यादि प्रशंसावाचक पदों से सम्बोधन होना चाहिए। विदूषक को राजा के लिए वयस्य शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अधम-नीच प्रकृति वालों को राजा के लिए भट्ट या भट्टारक इत्यादि पदों से व्यवहार करना चाहिए। लोक-उत्तमाधम-मध्यम प्रकृति को राजा के लिए देव शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

और भी

मित्राख्याभिर्विदू राज्ञा, कुमारो भर्तृदारकः।
मुनि-शाक्यौ भदन्तेति, स्वप्रसिद्ध्याऽपरो व्रती ॥५०॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सूत्री भावोऽनुगेनासौ, तेन मार्षः समः सखा ।
शिष्यात्मजानुजाः पुत्र-वत्सौ, तातो जरन्नपि ॥५१॥
सौम्यो भद्रमुखश्चेति, नीचो हंडे तु पामरैः ।
येन कर्मादिना यस्तु, ख्यातः स तदुपाधिकः ॥५२॥

अनुवाद—राजा को विदूषक के लिए वयस्य, सखे, मित्र इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए । कुमार के लिए भर्तृदारक और कुमारी के लिए भर्तृदारिका प्रयोग करना चाहिए । मुनि-निर्ग्रन्थ, और शाक्य, भिक्षु आदि के लिए भदन्त शब्द का प्रयोग करना चाहिए । अन्य पाशुपतादिव्रती के लिए भा पूर्वव जैसे— 'भासर्वत्र' इत्यादि सम्बोधन करना चाहिए । अनुचर को सूत्रधार के लिए भाव शब्द का प्रयोग करना चाहिए, और सूत्रधार अनुचर के लिए मार्ष शब्द का प्रयोग करे । अवस्था शील व गुण में समान आपस में सखा शब्द का प्रयोग करें । शिष्य, आत्मज व अनुज को क्रमशः गुरु, जनक व ज्येष्ठ भ्राता, शिष्य, पुत्र व वत्स शब्द से प्रयोग करें । वृद्धों के लिए तात शब्द का प्रयोग करें ।

मध्यम व उत्तम लोगों को सामान्य लोगों के लिए सौम्य, भद्रमुख इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए । नीच प्रकृति वाली स्त्री को नीच प्रकृतिक स्त्री के लिए हंजे शब्द का प्रयोग करना चाहिए और जिस कर्म से जो प्रसिद्ध हो उसको उसी के उचित नाम से सम्बोधित करना चाहिए । जैसे पान के व्यापारी को ताम्बूलिक; कृषि करने वाले को कृषीबल; पशु पालने वाले को पशुपाल या गोपाल । इसी प्रकार सेवक वैद्य, क्षत्रिय, ब्राह्मणादि पदों से व्यवहार करना चाहिए ॥५२॥

अन्य कल्पनीय नामों की कल्पना का निर्देश करते हैं—

शूरे विक्रमसंसूचि, कल्प्यं नामाथ वाणिजे ।
दत्तान्तं प्रायशो विप्रे, गोत्र-कर्मानुरूप्यतः ॥५३॥
नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनान्तं पणयोषिति ।
पुष्पादिवाचकं चेट्यां, चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥५४॥

अनुवाद—शूर-सत्त्वप्रधान पुरुष के लिए उसके पराक्रम का सूचक नाम रखना चाहिए, जैसे—भीम पराक्रम, अरिमर्दन, इत्यादि । वणिक का प्रायः दत्त शब्दान्त नाम रखना चाहिए । यथा—समुद्रदत्त, सागरदत्त इत्यादि । विप्र—ब्राह्मण का नाम उसके गोत्र व कर्म के अनुसार रखना चाहिए । जैसे—आथर्वणिक, सामक, अग्निहोत्री

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सोम शर्मा, इत्यादि। नृपस्त्री—रानी का नाम शुभ सूचक होना चाहिए, जैसे—सुलक्षणा या विजयवती, इत्यादि।

वेश्या का नाम दत्ताशब्दान्त या सेना शब्दान्त होना चाहिए, जैसे—देवदत्ता,, वसन्तसेना इत्यादि। चेटी का नाम पुष्पादि वाचक होना चाहिए, जैसे—मालिनी मल्लिका इत्यादि। चेट-भृत्यका नाम माङ्गलिक होना चाहिए जैसे सिद्धार्थक इत्यादि।

इसी प्रकार उत्तमाधम मध्यम प्रकृति वाले पात्रों का नाम उनके शील गुण व अवस्था के अनुसार होने चाहिए ॥५४॥

इति रामचन्द्र गुणचन्द्र विनिर्मित नाट्य-दर्पण में सानुवाद-सर्वरूपक साधारण लक्षण निर्णय नामक चतुर्थ विवेक सम्पूर्ण हुआ।

विमर्श—इस प्रकार नाट्य-दर्पण के इन चार विवेकों में क्रमशः नाटक निर्णय अर्थात् द्वादश रूपकों का स्वरूप विवेचन सहित उनके साङ्गोपाङ्ग सन्धि सन्ध्यङ्गों का भी वर्णन प्रथम व द्वितीय विवेक में हुआ। नाट्य को जीवनदान देने वाली वृत्तियाँ जिन्हें "नाट्यमातरः" कहा जाता है, उनके साथ ही साथ रसभावाभिनय का विचार तृतीय विवेक में हुआ और चतुर्थ विवेक में रूपकों के सभी विधाओं में उपयुक्त होने वाले उन आवश्यक अङ्गों का विस्तृत विवेचन हुआ। इसी के साथ पात्र व पात्रों की प्रकृति तदनुकूल उनके स्वभाव-वेष-भूषा भाषा का भी सुन्दर वर्णन इस विवेक में हुआ है। नाटक के विषय में प्राचीन आचार्यों की जैसी भी धारणा थी वह सब इन विद्वान लेखकों ने अपने नाट्य-दर्पण नामक ग्रन्थ में उनके बिम्बों, सिद्धान्तों व मतमतान्तरों के सुन्दर प्रतिबिम्बों का विन्यास किया। इन बिम्बों की छाया को इतने वैज्ञानिक तरीक़े से सजाया कि जिसमें न तो दर्पण की स्वच्छता में ही कुछ आँच आयी और न उन बिम्ब व प्रतिबिम्ब में ही कोई भेद मालूम पड़ा। नाटक के आवश्यक भेद व अङ्ग-उपाङ्ग इतने ही हैं।

यद्यपि अन्यान्य भी इनके प्रकार हो सकते हैं, इन्हीं के विकल्प व विकार के रूप में कुछ प्रभेद-परिणाम दिखाई देते हैं जो आजकल हिन्दी अंग्रेजी आदि साहित्य में प्रचलित हैं। इसी प्रकार सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रेक्षक, रासक इत्यादि उस समय में भी प्रचलित होने लगे जिनका संकेत विवरण में किया गया है। परन्तु नाटक के ये प्रकार उतने हृदयावर्जक नहीं हो सके जितना कि अपेक्षित हैं।

इसलिए स्वयं विवरणकारों ने लिखा है—

"एतानि च स्वल्पमात्ररञ्जनानिमित्तत्वाद् वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृतावेव कीर्तितानि' ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्मविधायिनाम् ।
श्री हेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः ॥१॥
परोपनीतशब्दार्थाः स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽधुना तेन, को नौ क्लेशमवेष्यति ॥२॥
न सूत्रवृत्योराधिक्यं, न हीनत्वं न कुण्ठता ।
यावदर्था गिरः सन्ति, स्वयं सन्तो विवेचताम् ॥३॥
शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः ।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नौ प्रवाह इव जाह्नुजः ॥४॥
रूप-स्वरूपं विज्ञातुं, यदीच्छत यथास्थितम् ।
सन्तस्तदानीं गृह्णीत, निर्मलं नाट्यदर्पणम् ॥५॥

———

—: भावार्थ :—

शब्दशास्त्र-व्याकरणशास्त्र-प्रमाणशास्त्र-न्यायशास्त्र व साहित्यशास्त्र तथा छन्द विद्या के स्वरूप के विवेचक श्री हेमचन्द्र पादाचार्य के कृपापूर्णप्रसाद के लिए हम उन्हें नमस्कार करते हैं। दूसरों की कृतियों से शब्दार्थो का चयन करके अपना नाम कमाने वालों की इस समय कमी नहीं हैं, अतः स्वयं परिश्रम पूर्वक ग्रन्थ लिखने वाले हम लोगों के कष्ट को कौन जानेगा ? प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने यथोचित सूत्र व वृत्ति का विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें किसी प्रकार की सङ्कीर्णता नहीं आने दी ; अर्थानुसार शब्दों का प्रयोग किया है, उसमें सङ्कोच या विस्तार नहीं किया है, इस बात का विवेचन स्वयं काव्यज्ञ सन्त कर सकते हैं।

शब्द-पदविद्या, प्रमा-न्यायविद्या, व काव्यविद्या का यह विलास भगवती जाह्नवी के तीनों मार्गों की तरह है। काव्य मर्मज्ञो एवं सन्तो ?—यदि आपको रूपकों के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा है, तो इस निर्मल नाट्यदर्पण का अवलोकन अवश्य करें॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रसंसूत्रितं

स्वोपज्ञविवरणम्

अथ शिष्टसमयपरिपालनाय प्रत्यूहव्यूहोपशमनाय च सकलसन्दर्भार्थस्तवनागर्भं समुचितेष्टाधिदैवतस्य सूत्रकारौ नमस्कारश्लोकं परामृशतः—

चतुर्वर्ग॰ इत्यादि। चतुर्वर्गो धर्मार्थ-काम-मोक्षा यथौचित्यं प्रधानं गौणं वा फलं यस्याः। समुदाय-समुदायिनोरभेदोऽप्यस्ति, तेन पुरुषभेदेनैक-द्वि-त्रिपुरुषार्थ-फलत्वेऽपि चतुर्वर्गफलत्वं न विहन्यते। इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थो-ऽभीष्टः, स तस्य प्रधानमपरो गौ[ण]ः। 'नित्यम्' इत्यनेन आवश्यकं वा[चः] चतुर्वर्गं प्रति हेतुत्वमुच्यते। अर्थापेक्षया जिनानामियं जैनी जिनोपदिष्टं ह्यर्थमृषयो ग्रथ्नन्ति। वाचम् इति भारतीम् उपास्महे तदर्थानुष्ठानेन समीपे वर्तामहे। समीपवृत्त्या च तदेकशरणत्वमात्मनः ख्यापितम्। नित्यमित्यस्यावा (त्रा)पि सम्बन्धादुपासनस्यावि-चि(च्छि)त्तिः ख्यापिता। रूपाणि अङ्गान्याचारादीनि दृष्टिवाद-पर्यन्तानि द्वादश प्रसिद्धानि। संख्यानिर्देशेन चानियन्त्रितसंख्याया जिनवाचः प्रस्तुतातुल्यत्वेन व्यवच्छेदः कथ्यते। विश्वम् इति समुदायापेक्षमेकत्वम्। कर्मभूमित्वात् प्राधान्यविवक्षया मनुष्यलोको वा विश्वम्। न्याय्ये यायादनपेते धृतं व्यवस्थापितम्। व्यवस्थापनस्य त्रैकाल्पेऽप्यतीतिनिर्देशोऽर्थापेक्षया वाचोऽनादित्वख्यापनार्थः। पथि इति पुरुषार्थप्रापणो-पायत्वादहिंसा-दानादिकं कर्म लक्ष्यते॥

(२) अथाभिनेयवाक्परतया श्लोकोऽयं व्या[ख्या]यते। यद्यपि साक्षाद्-धर्म-कामार्थ-फलान्येव नाटकादीनि, तथापि 'रामवद् वर्तितव्यं, न रावणवद्' इति हेयोपादेय-हानोपादानपरतया धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम्। नित्यम् इत्यनेन 'चतुर्वर्गफलान्येव रूपकाणि निबन्धनीयानि' इति ख्याप्यते। जिनानां रागादिजेतॄणां लक्षणप्रणयनापेक्षयेयं जैनी। न नाम सर्वत्रोपविष्टं लक्षणं न। नवेक्षाऽर्वाचीनदृशः सङ्क्षेप-विस्तराभ्यां तत् कर्तुं प्रभवन्ति। वाचं नाटकाद्याम् उपास्महे परिशीलयामः। नित्यमित्यत्रापि सम्बध्यते। सततापरिशीलिताभिनेयवाचो हि कुतो नामौचित्यवेदिनो भवेयुः ?। रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि। अनभिनेयायां रूपशब्दाप्रतीतेः सामान्यनिर्देशेऽपि वाचोऽभिनेयत्वं लभ्यते। भूरिभेदत्वे-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऽप्यभिनेयवाचो द्वादशभिः इति प्रस्तुतप्रकरणापेक्षम् । विश्वम् इति पूर्ववत् समवकारादीनां देव-दैत्यचरितव्युत्पादकत्वात् । पथि इति यशः सम्पदुपायत्वात् कृत्यं लक्षयति । नायक-प्रतिनायकयोर्हि नयानयफलोपदर्शनेन नाटकादिभिर्दुर्दान्तचेतसां न्यायादनपेते कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते । अत्रापि व्याख्याने श्रद्धापरत्वेन नमस्कारपरतैव श्लोकस्य । व्याख्येयव्याख्यानयोरेककर्तृकत्वख्यापनार्थमयमेव श्लोको विवरणस्याप्यादावधीत इति ॥१॥

अभिनेयस्य वाचिकाङ्गिक-सात्त्विकाहार्यैरभिनयैः प्रत्यक्षीभावनयोग्यस्य । सूत्रकाराभिप्रायापेक्षं चैतत्, तेन रस-भाव-नायक नायिकाऽऽदि-लक्षणस्य अभिनेयं प्रति प्रवृत्तस्य अनभिनेयव्यापित्वेऽपि न विरोधः । काव्यस्य वर्णनात्मनः शब्दार्थग्रन्थनस्य कविव्यापारस्य । भूरीन् रसप्रधानान् नाटकादीन्, अप्रधानरसांश्च दुर्मिलिता-श्रीगदित-भाणी-प्रस्थान-रासकादीन् भेदान् बिभर्ति । कियदित्यनान्तरीयकस्य रङ्गसन्ध्यन्तरालादिलक्षणस्य परिहारेण वक्ष्यमाणप्रबन्धद्वादशकग्रन्थननान्तरीयकं कतिपयं लक्ष्मेति योगः । कियतोऽपि लक्षणविधावभिप्रेतस्य, तेन कोहलप्रणीतलक्ष्माणः साटकादयो न लक्ष्यन्ते । लक्षणीयबाहुल्येऽपि यावत्येव भागे लक्षयितुः श्रद्धा, तावानेव लक्ष्ते । कियतोऽपि च प्रसिद्धस्य रसप्राधान्यादखिललोकरञ्जकतया ख्यातस्य नाटकादेः । दृष्टं पूर्वमुनिप्रणीतनाटचलक्षणपौर्वापर्यपरामर्शेन उपयुक्ततया निश्चितम् । एवं च स्वामनीषिकानिरासेन लक्षणस्योपादेयत्वमुक्तम् । लक्षयत्यभिनेयादनभिनेयाच्च कियतोऽपि व्यपच्छिन्नत्तीति लक्ष्म [लक्ष]णम् । प्रचक्ष्महे सारासारोपादान-हानाभ्यां सङ्क्षेप-विस्तराभ्यां च प्रकर्षेण ब्रूमहे । एवं चापरप्रणीतलक्षणोत्कर्षेण निष्प्रयोजनत्वमपास्तमिति ॥२॥

चकारः सर्वपुरुषार्थफलत्वेन महापुरुषोपदेशार्हचरित्वेन च प्रबन्धेषु नाटकप्रकरणयोः प्राधान्यमाह । अथशब्दो नाटकादिचतुष्टयादपूर्णसन्धित्वेन विष्कम्भकप्रवेशकायोग्यत्वेनानुपदेशार्हचरितप्रायत्वेन चोत्तरेषां पार्थक्यं ज्ञापयति । अङ्क इति उत्सृष्टिकाङ्को न पुनरवस्थासमाप्त्यादिरूपः । अङ्कवतां मध्ये पाठात् छन्दोऽनुरोधाच्च एकदेशेनाभिधानम् । चत्वार इति प्रकरण्यन्ता व्यक्तिभेदाः । सर्वा गु(गौ)ण-प्रधानभावेन चतस्रोऽपि वृत्तयो भारती-सात्वती-आ(त्या)रभटी-कैशिक्यो वक्ष्यमाणलक्षणा यत्र । तिस्रो भारतीसात्वत्यारभट्यो व्यस्ताः समस्ता वा वृत्तयो येषु । अत्र च येषु व्यायोग-समवकार-ई(रे)-हामृग-डिमेषु एकस्या वृत्तेर्न लक्षणे प्राधान्यनिर्देशस्तेषु व्यक्तिभेदेन पृथक् पृथगेकैकस्या वृत्तिः(त्तेः) कविस्वेच्छया प्राधान्यं निबध्यते । येषु तु भेदेषु भाण-प्रहसन-उ (नो)त्सृष्टिकाङ्क-वीथीषु यस्या वृत्ते प्राधान्यनिर्देशस्तेषु प्रतिव्यक्ति तस्या एव प्राधान्यमपरयोर्गौणत्वमल्पत्वादभावो वा । कैशिक्याः परिः सामस्त्येन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्जनं अभाव:। यद्यपि समवकारे शृङ्गारत्वमस्ति, तथापि न तत्र कैशिकी। न खलु काममात्रं शृङ्गारः, किन्तु विलासोत्कर्षः; न चासौ रौद्रप्रकृतीनां नेतृणाम्। शृङ्गार-शब्दश्च तत्र काममात्रपर्यवसायीति ।।३-४।।

ख्याताद्यराजस्य चरितं यत्रेत्यन्यपदार्थः। इह ख्यातत्वं त्रिधा नाम्ना चेष्टितेन देशेन च। कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम् चरितमपि वत्सराजस्य कौशाम्ब्यां वासवदत्तालाभादिकमेव। वासवदत्तालाभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव। चरित-ख्यातत्वं च प्रधानचरितापेक्षया ततस्तदनुयायीनि रञ्जकत्वार्थमख्यातान्यपि चरितानि क्रियन्ते। तेन बहुषु रामप्रबन्धेषु सीताहरणानयनोपायानां युद्धानां गौणपात्राण्यपरेषां च भणितिविशेषादीनां भेदेऽपि न दोषः। आद्येति पूर्वः, तेन वर्तमानभविष्यतोर्निरासः। कविना हि रञ्जनार्थं किञ्चित् सदप्युपेक्ष्यते, किञ्चिदसदप्याद्रियते। वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धिबाधया रसहानिः स्यात्, पूर्वमहापुरुषचरितेषु च अश्रद्धानं स्यात्। भविष्यतस्तु वृत्तं चरितमपि न भवति, चर्यते स्म चरितमित्यतीतिनिर्देशात्। राजेति क्षत्रियमात्रम्। न पुनरभिषिक्त एव, राम-जीमूतवाहन-पार्थादीनाम्-नभिषिक्तानामपि दर्शनात्। क्षत्रियो मर्त्य एव, तेन न देवनेतृकं नाटकमित्युक्तं भवति। नाटकं हि 'रामवद् वर्तितव्यं, न रावणवद्' इत्युपदेशपरम्। देवतानां तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छा-मात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वात् न मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्; तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते, न ते सम्यगमंसतेति। नायिका तु दिव्याऽपि भवति यथोर्वशी, प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात्। उपदेशानर्हप्रायवृत्तत्त्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते। चरितमित्याचरितम्, न तु कविबुद्धि-कल्पितम्। बाहुल्यापेक्षं चैतत्, तेनाल्पं किमपि रञ्जकं कल्पितमपि न दोषायेति। धर्म-कामार्था व्यस्त-समस्ताः सत् प्रधानं फलं यत्र। मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम्। सन्तोऽचिरभावित्वाद् वर्तमाना वा धर्मार्थ-कामाः फलम्, तेन भाविधर्म-कामार्थफलत्वा-दागमा न नाटकम्। तत्र धर्मफले नाटके दया-दम-दान-न्याय-प्रायं दृष्टफलमामुष्मिक-फलं च राज्याद्यबाधया नेतुश्चरितं व्युत्पाद्यते, न पुनः सर्वसङ्गपरित्यागं कृत्वा व्रतमा-चरितमित्यामुष्मिकफलमेव। साक्षाद्दृष्ट-फलार्थी हि लोकः। कामफले च दिव्यकुल-जस्त्री-सम्भोग-सङ्गीतक-कामचारोपवनविहारप्रायम्। अर्थफले च शत्रूच्छेद-सन्धि-विग्रहादिराज्यचिन्ताप्रायमिति। साङ्केति अङ्कोपाय-दशा-सन्धिभिर्वक्ष्यमाणैः सह वर्तते। दिव्याङ्गमिति दिव्यां देवता अन्योऽपि चोत्तमः प्रधानस्य नेतुरङ्गं सहायः पताका-प्रकरी-नायकलक्षणो यत्र। दिव्यो हि तेनैव विरुध्यते, न पुनः सहायः। अत्यन्तभक्ताना-मेवं नाम देवताः प्रसीदन्तीति देवताऽऽराधनपुरःसरमुपायानुष्ठानमाधेयमिति व्युत्पाद-नार्थं दिव्योऽप्यङ्गत्वेन कार्यः। तत्र देवता यथा नागानन्दे गौरी। उत्तमप्रकृतिर्यथा रामादिप्रबन्धेषु सुग्रीवादिरिति। यद्वा दिव्यानि अनवद्यानि अङ्गानि वक्ष्यमाणानि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपक्षेपादीनि यत्र तत्रेति निर्धारणार्थः । अभिनेयसमुदायात् प्रधानपुरुषार्थप्रवृत्तविनेय-राजादिव्युत्पादनगुणेन नाटकं निर्द्धार्यते । नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम् । अभिनवगुप्तस्तु नमनार्थस्यापि नटेर्नाटकशब्दं व्युत्पादयति. तत्र तु घटादित्वेन ह्रस्वाभावश्चिन्त्यः । यद्यपि कथाऽऽदयोऽपि श्रोतृहृदयं नाटयन्ति तथाप्यङ्कोपायादीनां वैचित्र्यहेतुनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम् । तथा नाटकम् प्रधानपुरुषार्थेषु राज्ञां तदङ्गभूतेष्वमात्यादीनां च बहूनां व्युत्पादकमिति कतिपयव्युत्पादकानि प्रकरणादीन्यपि न नाटकमिति ।।५।।

धीरो धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषाम् उद्धतादीनां धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीरललित-धीरशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु स्वभावा नेतृणां तथा वा सन्तु । नेतृणामिति बहुवचनात् प्रायेणैकैकस्मिन् धर्मिण्येकैकः स्वभावः, क्वचिदेव तु चत्वारः । मध्यमोत्तमा इति । यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तम-मध्यमाधमभेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतादयः स्वभावा उत्तम-मध्यम-भेदेनैव वर्णनीया इति ।।६।।

स्वभाव-स्वभाविनोरभेदात् सामानाधिकरण्यनिर्देशः । राज्ञां चातुर्विध्यभणनात् देवा धीरोद्धता एव, सैन्येश-मन्त्रिणो धीरोदात्ता एव, वणिग्-विप्रा धीरशान्ता एव वर्णनीया इति स्वयोगव्यवस्थापकत्वेनैवावधार्यते, नान्ययोगव्यवच्छेदेन । यः पुनः परशुरामस्यातिक्रूरत्वख्यापनार्थो धीरोद्धतत्वनिबन्धः, स 'भाषा-प्रकृति-वेषादेः, कार्यतः क्वापि लङ्घनम्' इत्यपवादादविरुद्धः । अयं च नियमो देवानां मर्त्यापेक्षया, न स्वा-पेक्षया; शिवादीनामुदात्तानां, ब्रह्मादीनां च शान्तानामपि दर्शनात् । राजान इति क्षत्रियजातिः । बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुःस्वभावो नाटकस्य नेता, न पुनरेकस्यां व्यक्तौ; एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्कस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति । प्रधाननायकस्य चायं नियमः; गौणनेतृणां तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्वभावत्यागेन निबध्यते । ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव' प्रतिजानते, न ते मुनिसमयाव्यवगाहिनः; नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकनां दर्शनात्, कविसमयबाह्याश्च ।।७।।

अथ धीरोद्धतादीनां यथोद्देशमर्थमाह—

अकातरत्वं धीरशब्दस्यार्थः सर्वत्र समान एव । चलत्वादयः पुनरुद्धतादीनां शब्दानामर्थाः । चलोऽनवस्थितः । चण्डो रौद्रः । दर्पः शौर्यादिमदः । दम्भः कूटप्रयोगः । विकत्थनः स्वप्रशंसी । अतिगम्भीरो दुःखबोधमध्यः । सत्त्वी शोकक्रोधाद्यनभिभवनीयः । स्थिरो विमृश्यकारी । कलासक्तो गीतादितत्परः । सुखी मन्त्रिन्यस्तराज्यचिन्ताभारत्वा-न्निराधिः । मृदुरक्रूराचारः । अनहङ्कारः सर्वथाऽप्यनवलेपः । धीरोदात्तस्तु विनयच्-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

छन्नावलेप इति भेदः विनयी गुरुजनाद्यनुल्लघीति । उपलक्षणमात्रं चैतत्, तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा द्रष्टव्या इति ॥८-९॥

मुख्यं सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम् । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेतं फलं यस्य । वृत्तं चरितम् । अङ्गं मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वादवयवः । प्रसङ्गात् परकीययत्नादागतं प्रासङ्गिकम् । इह तावत् न निसर्गतः किञ्चित् चरितं मुख्यमङ्गं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्यात्यन्तमुत्कर्षमभिप्रैति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरदङ्गत्वात् प्रासङ्गिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्री-शरणागतविभीषण-रक्षण-रावणवध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्सम्पादनाय तदितरेषु प्रवृत्तेः । अत एव तान्यङ्गानि । कविरपि न स्वेच्छा फलस्योत्कर्षं निबद्धुमर्हति, किन्त्वौचित्येन । यस्य धीरोद्धतादेर्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिर्विधेया । प्रयत्नान्तरे हि तदापि मुख्यं(ख्यं) स्यात् । तापसवत्सराजे हि वत्सराजस्य मुख्याय कौशाम्बीराज्यलाभाय प्रवृत्तेनैव यौगन्धरायणव्यापारेण प्रासङ्गिकं वासवदत्ता-सङ्गम-पद्मावतीप्राप्त्यादिकर्मापि साध्यते । क्वचिदिति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते, तत्रैव प्रासङ्गिकम्, न सर्वत्र । यथा भट्टश्रीभवनुत (?) चूडाविरचितायां कौशलिकायां नाटिकायां कौशलिकाप्राप्तिमधिकृत्य प्रवृत्तस्य वत्सराजस्य न प्रासिङ्गकम् । यथा वाऽस्मदुपज्ञे सत्यहरिश्चन्द्रे नाटके प्रतिज्ञानिर्वाहं प्रति प्रवृत्तस्य हरिश्चन्द्रस्य । तच्चतुर्विधमिति तत् सामान्येन वृत्तम् ॥१०॥

नीरस(म) रञ्जकम्, अनुचितं सरसमप्यनर्हम् आलिङ्गन-चुम्बनादि, तत् सूच्यं विष्कम्भकादिभिर्ज्ञाप्यम् । तस्य नीरसानुचितस्य सूच्यस्य विपर्ययः । सरसमुचितं च प्रयुज्यते वाचिकादिभिरभिनयैः सामाजिकानां साक्षादिव क्रियते इति प्रयोज्यम् । तयोः सूच्य-प्रयोज्ययोरविनाभूतं देशान्तरप्राप्त्यादौ गमनादि उह्यते स्वयं वितर्क्यते इति ऊह्यम् । न नाम देशान्तरप्राप्तिः पादविहरणादिकं विना भवति । उपेक्ष्यते व्रीडाऽऽदिहेतुत्वादवगण्यते इत्युपेक्ष्यं योज्यम् । तयोः सूच्य-प्रयोज्ययोर्जुगुप्सनीयं भोजन-स्नान-शयन-प्रस्रवणादि । यत् पुनरुत्तररामचरिते रामोत्सङ्ग-निषण्णायाः सीतायाः, अस्मदुपज्ञे नलविलासे अरण्ये दमयन्त्याश्च शयनं प्रयुक्तं तत् प्रस्तुतोपयोगित्वात् रञ्जकत्वाच्च न दुष्टम् ॥११।

यद् वृत्तमगोप्यतया अन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति प्रकाशम् । यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृद्येव स्थितं तत् स्वगतम् । परावृत्त्य अङ्गवलनेनाश्रावयितव्येभ्यः पराङ्मुखीभू (या) न्यस्मै रहस्याख्या या तदपवार्यते बहूनां प्रच्छाद्यत इत्यपवारितम् । आख्यायत इत्याख्या कर्मसाधनः, तेन वृत्तमपवारितम् ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एवमुत्तरत्रापि। जल्प्यत इति जल्पो वृत्तमेव। ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्रान्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम्। इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्यं तज्जनान्तिकम्। तद्विपरीतमपवारितम्। प्रश्नश्च प्रत्युत्तरं चेति समाहारः। अपात्रकं रङ्गप्रविष्टद्वितीयपात्ररहितम् रङ्गप्रविष्टपात्रेण स्वयमात्मनैव यः प्रश्नो यच्चोत्तरं तदाकाशे पात्राभावात् शून्ये उक्तिः आकाशोक्तिः। उच्यत इति उक्तिः प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थः। क्वचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायया परकीयः प्रश्नः, क्वचित् स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायया परकीयमुत्तरमित्युभयमप्याकाशोक्तिरीति ॥१२-१३॥

सुष्ठु प्रसन्नार्थं प्रसिद्धशब्दमलं परिमितं पद्यं यत्र। गद्येन ह्यर्थः कथ्यमानः सुखाववोध्यो भवति। लघु हृद्यं परिमितं च गद्यं यत्र। कर्कशं बहुसमासं च गद्यं दुर्बोधत्वात् खेदमपनयति। श्लिष्टानि पारम्पर्येण प्रधानफलसम्बन्धान्यवान्तराणि प्रस्तुनान्तरालवर्तीनि वस्तूनि यत्र। नाटये हि तदेवावान्तरं वृत्तमायोज्यं यत् पारम्पर्येण प्रधानफलसाधकम्। यथा रत्नावल्यां प्लवगसम्पातः सागरिकाऽनुरागवीजस्य फलकस्य सम्प्राप्तिहेतुः। यथा वाऽस्मदुपज्ञे नलविलासे कापालिक-विदूषकनियुद्धं राज्ञोऽनुरागमूलस्य दमयन्तीप्रतिकृतिदर्शनस्य हेतुः। सिन्धुर्नदी समुद्रो वा। सूर्येन्दुभ्यां तदुदयास्तौ गृह्येते। कालो वसन्तादिः प्रभातादिश्च। आदिशब्दात् गिरि-मधुपान-जलक्रीडाऽऽदि। सिन्ध्वादिकं हि काव्यकण्डूवशान्निष्फलं न वर्णनीयम्। सफलमप्येकेन द्वाभ्यां वा वृत्ताभ्याम्, आधिक्यं तु रसमन्तरयतीति। एको नायकौचित्येयान्यतमोऽङ्गी प्रधानरसो यत्र। अन्येऽङ्गिरसादपरे रसा अङ्ग गौणा यत्र। नाटकं हि सर्वरसं, केवलमेकोऽङ्गी, तदपरे गौणाः। अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र। यतः शृङ्गार-वीर-रौद्रैः स्त्रीरत्न-पृथ्वीलाभ-शत्रुक्षय-सम्पत्तिः। करुण-भयानक-बीभत्सैस्तन्निवृत्तिरितीयता क्रमेण लोकोत्तरासम्भाव्यफलप्राप्तौ भवितव्यमन्तेऽद्भुतेनैव। अपि च नाटकस्यासाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते, तदानीं क्रियायाः फलमात्रं (न) किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनक्लेशेन ?। रसोर्मिभी रसाधिक्येनालङ्घितमविच्छिन्नम्। न नाम रसपरतया कथाशरीरमन्तरयेत्। अलङ्काराः श्लेषोपमाऽऽदयः। कथा वृत्तम्। अङ्गान्युपक्षेपादीनि, अङ्गभूता रसाश्च तैरगलन्नत्रुटन् रसो यत्र। त एव श्लेषोपमाऽऽदयो विधेयाः, ये रसनिष्पत्तिप्रयत्नेनैव निष्पद्यन्ते। वृत्तान्ते अङ्गानि उपक्षेपादीनि च तथा निबन्धनीयानि, यथा न रसमन्तरयन्ति। अङ्गभूता रसाश्च तथा नियोज्याः, यथा नाङ्गिनं रसं तिरोदधत इति ॥१४-१५॥

उक्तं पूर्वं, वक्ष्यमाणं पुरः प्रकाश्यमानं, प्रयोजनवशाद् भूयोऽपि यद् वृत्तमुच्यते तत् पुनरुक्तताभयात् पात्रस्य कर्णे कविः श्रावयेत्। तथा च दृश्यते 'कर्णे

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एवमेव'। गोपुच्छस्य च केशाः केचित् स्तोकमात्रयायिनः, केचिन्मध्यावधयः, केचिदन्तव्यापिनः, एवं प्रबन्धवस्तून्यपि। यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः, मुखोपक्षिप्तो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे, रत्नावलीप्राप्त्यादयश्च साररूपाः पदार्था अन्त इति। उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः। अनुदात्ता अपि ये रञ्जका भावास्ते सकलस्यापि प्रबन्धस्य रसारोहार्थं पुरः पुरो निवेशनीया इति ॥१६-१७॥

अथानिबन्धनीयमाह—अयुक्तमनुचितं, विरुद्धं विपरीतं परित्याज्यमुपेक्षणीयम्। धीरललितस्य ह्यनुचितं परस्त्रीसम्भोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि। शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिङ्गनचुम्बनाद्यनुचितम्, बीभत्सस्तु विरुद्धः। अन्यथेति औचित्येनाविरोधेन वा। यथा नलविलासे धीरललितस्य नायकस्य दोषं विना सधर्मचारिणीपरित्यागोऽनुचित इति कापालिकप्रयोगेण निबद्धः। एवमन्यदप्यूह्यमिति ॥१८॥

धर्म-कामार्थ-सत्फलमिति सुगमत्वादुपेक्ष्य, साङ्कोपाय-दशा-सन्धीत्यस्माङ्कप लक्ष्यति—(१९)

अवस्था वक्ष्यमाणाः प्रारम्भादिकाः पञ्च। तत्रान्यतमस्या अवस्थाया उपक्रमनिष्पत्तिभ्यां या समाप्तिः। असमाप्तायामप्यवस्थायां कार्यवशेन यो वा छेदः खण्डनं सोऽङ्कः। कार्यं दूराध्वगमनाद्येकाहाघटमानं भूयस्त्वादेकाहाशक्याभिनयं वा, तद्वशादवस्थाया अन्तराले यश्छेदः क्रियते सोऽप्यङ्क इत्यर्थः। एतावदङ्कलक्षणम्। सबिन्दुरिति सह बिन्दुना वर्तते। विच्छिन्नविस्तृतार्थस्योत्तराङ्कस्यानुसन्धानात्मा वृत्तसङ्क्षेप उत्तरत्र विस्तार्यमाणत्वादुदके तैलबिन्दुरिव बिन्दुः। पूर्वोत्तरयोरङ्कयोरसम्बद्धार्थत्वं मा भूदिति पूर्वाङ्कस्यान्ते बिन्दुर्निबन्धनीयः। यथा तापसवत्सराजे—

"आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपितां,
पश्चात्तापभरेण तानवकृता नीतां परं लाघवम्।
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमात् सम्पिण्डिताङ्गीमिमां,
सर्वाङ्गप्रणयं प्रियामिव तरुश्छायां समालम्बते ॥"

इति तृतीयाङ्कसमाप्तावुत्तराङ्ककार्यानुसन्धायको बिन्दुः।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयंवराङ्के नेपथ्ये बन्दी—

"विन्यस्याभिनवोदये श्रियमयं राज्ञि प्रतापोज्झितो,
द्यूतस्य व्यसनीव धूसरकरः सन्त्रुट्यदाशास्थितिः।
निद्रायद्दललोचनां कमलिनीं सन्त्यज्य मध्ये वनं,
क्रामत्यम्बरखण्डमात्रविभवो देशान्तरं गोपतिः।" इति।

इदं च पदमुपयोगापेक्षम्। तेन सर्वरूपकपर्यन्ताङ्केष्वेकाङ्केषु च रूपकेषु समवकाशद्यङ्केषु चोपयोगाभावाद् बिन्दोरनिबन्धः। दृश्यार्थ इति दृश्या रञ्जकत्वाद् दर्शनीया अर्था नायकचरितोपभोगा यत्र। चरितासाक्षात्कारे हि प्रेक्षकाणामव्युत्पत्तिः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्भोगासाक्षात्कारे च किमनेन महाक्लेशेनेति वैरस्यं स्यात्। शापावसान-विवाहादयोऽपि रञ्जकत्वात् साक्षात्कार्याः। यथोर्वश्याः शापोद्भवस्य लताभावस्य नाशः। दृश्याविनाभाविनौ सूच्यावूह्यावप्यर्थौ क्वचिद् भवतः। एतदङ्कस्य स्वरूपम्। चतुर्यामो मुहूर्तत इति मुहूर्तादारभ्य यामचतुष्टयं यावत् सर्वापकर्षेण घटिकाद्वयाभिनेयः। सर्वोत्कर्षेण त्रिंशद्घटिकाऽभिनेयः। मुहूर्तादप्यपकर्षे प्रयोगापरिपूर्णत्वेन, यामचतुष्टयादप्याधिक्ये आवश्यककर्मविरोधेन च प्रेक्षक-प्रयोक्तॄणां वैरस्यं स्यात्। एतदङ्कस्यापकृष्ट-मध्यमोत्कृष्टं कालमानमिति। अमुना वृद्धसम्प्रदायायातेनाङ्कलक्षणेन वक्ष्यमाणनीत्याऽङ्कसङ्ख्यापरिमाणमुपपद्यते। ये तु वृद्धसम्प्रदायमवधूयाङ्कमध्येऽप्यवस्थां समापयन्ति, तन्मतसङ्ग्रहार्थमुत्तरार्धमेव लक्षणम्। अत्र पुनरङ्कसङ्ख्यानियमकारणमपरमन्वेष्यमिति ॥१९॥

अथाङ्कस्य लक्षणशेषं सङ्ख्यापरिमाणं चाह—(२०)

एकस्मिन्नङ्के तावदवान्तराणि बहूनि कार्याणि न निबन्धनीयानि यत्रापि निबध्यन्ते तत्राप्यावश्यकस्य सन्ध्यावन्दन-भोजनादेरविरोधेन। सुष्ठु कार्योपयोगीन्यल्पानि सङ्ख्यया पात्राणि यत्र। तत्रोत्कर्षेण दश, मध्यमगत्या अष्टौ, अपकर्षेण चत्वारि पञ्च वा पात्राणि। आधिक्ये तु पात्रसम्मर्देर्नैवाभिनयचतुष्टयं प्रेक्षकाणामविभावनीयं स्यात्। प्रभूतपुरुषसाध्यं पर्वतोद्धरणादि न रङ्गे दर्शनीयमित्युक्तं भवति। समवकारादौ तु बहुपात्रत्वेऽपि विशेषोपादानान्न दोषः। सनिर्गम इति निर्गमो रङ्गप्रविष्टपात्राणां स्वकार्याणि कृत्वा निष्क्रमो जवनिकया तिरोधानम्। पञ्चसङ्ख्य। इति अत्यन्तस्तोकतायां पञ्चाङ्काः, सर्वोत्कर्षेण दश, मध्यमवृत्त्या षट् सप्त अष्टौ नवेत्यङ्कसङ्ख्या यद्भेदा यदेकैकस्यामवस्थायामेकैकोऽङ्कस्तदा पञ्चाङ्गः। यदा तु कार्यवशेन काऽप्यवस्थोपक्रमोपसंहाराभ्यां छिद्यते तदा षट्। एक उपक्रमाङ्कः। एक उपसंहाराङ्कः। अपरावस्था-चतुष्टयस्य तु चत्वारः। एवं कृत्वाऽष्टौ नव च। सर्वावस्थाभेदे तु दशेति। यदाऽपि कार्यबहुत्वात् काऽप्यवस्था त्र्यङ्का, तदाऽप्युत्कर्षतो दशैव। एकस्याः कस्याश्चिदेकाङ्ककरणात्। एकस्यां चावस्थायाम् अङ्कत्रयं दृश्यते। यथा वेणीसंहारे गर्भसन्धौ प्राप्त्याशावस्थाऽलङ्कृते तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमा अङ्काः। न्यूनत्वे त्वङ्कानामेकाङ्कताऽपि स्यात्। तथा च पञ्च सन्धयो नोपसंह्रियेरन्। आधिक्ये पुनरनियतसङ्ख्यत्वं स्यादिति मध्यमा वृत्तिराश्रीयते। नाटिका-प्रकरण्योस्तु चतुरङ्कत्वं कस्याश्चिदवस्थाया अवस्थान्तरे मिश्रणादिति ॥२०॥

अभिघातः शोणितहेतुः प्रहारः। प्रधानस्य मुख्यस्य, तेन पताका-प्रकरी-नायकादीनां ग्रथ्यत एव। कुत्रचिदिति विष्कम्भकादावपि। सामान्योक्तावप्यभिघातः परकृतः, तेन यदस्माभिः सत्यहरिश्चन्द्रे हरिश्चन्द्रेण देवतोपहारार्थं स्वयं स्वमांसोत्कर्तनं निबद्धं न तद् दोषाय। परेणापि विपक्षेण कृतो निषि(ब)ध्यते. तेन नागानन्दे

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गरुडकृताभिघातस्य जीमूतवाहनस्य साक्षात्करणं परोपकाराय सत्त्वाधिक्येन विशेषतो रसपुष्टिमावहति। योऽपि चास्माभी रघुविलासे शक्तिसक्तवक्षसो लक्ष्मणस्य प्रवेशः कृतः, सोऽपि न दोषाय; सीताऽऽनयनलक्षणफलसम्बन्धेन रामस्य मुख्यत्वात्। बन्ध इति परैर्ग्रहणम्। यथा वासवदत्तानृत्तवारे वत्सराजस्य। पलायनमपसरणम्। यदाहुः— 'अशक्ये सर्वमुत्सृज्यापगच्छेत्, दृष्टा हि जीवतः पुनरावृत्तिर्यथा सुयात्रोदयनयोः।' इति। सन्धिः सन्धानम्। यदुक्तम्—

"प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तः, राज्ञा बलवताऽबलः।
सन्धिनोपनमेत् तूर्णं, कोश-दण्डात्मभूमिभिः॥ इति।

फललिप्सयेति। बन्धनादीनि तावन्न योज्यानि, यदि च योज्यते तदा पर्यन्ते विशिष्टं फलमवेक्ष्य, न पुनरेवमेवेति ॥२१॥

अथ विष्कम्भकादीनां लक्षणकथनार्थमङ्कावर्णनीयं विष्कम्भकादिभिर्वर्णनीय-मित्याह—(२२)

दूराध्वयानमिति। मूहूर्तत्रिक-चतुष्कसाध्यं देशान्तरगमनं शक्यत्वादङ्केऽपि दर्श्यते। यत् पुनरधिककालसाध्यं तदशक्यत्वाद् विष्कम्भकादि(भि)रेव वर्ण्यम्, विश्रान्तिस्थान-शयन-पान-भोजनादीनां बहूनामरञ्जकक्रियाणां प्रसङ्गात्। समवकारादौ तु दूराध्वयानदर्शनेऽपि न दोषः, दिव्यस्य गगनक्रमणसामर्थ्यात्। नगररोधोऽप्येवमेव, सेनायाः पटकुटी-यन्त्र-सुरङ्गाऽऽदिदानव्यापाराणां च बाहुल्यात्। राज्य-देशादिभ्रंशोऽपि पतन-मरणादिसम्भवात् तथैव। रतमिति आलिङ्गन-चुम्बनादि व्रीडादायित्वादेवमेव, तेन तदनुकूलानि रहःप्रवेश-वक्रोक्त्यादीन्यङ्केऽपि दर्श्यन्ते। मृत्युः प्राणनिर्गम एव। समीकं हस्त-पादादिच्छेद एव, तेन नागानन्दे जीमूतवाहनस्य क्षणभाविनामिन्द्रियवैकल्यादीनाम्, रघुविलासे च रावणस्य विभीषणं प्रति साटोपं चन्द्रहासग्रहणस्याङ्केऽप्य-विरोधः। आदिशब्दादपरमपि प्रभूतकाल-क्लेश साध्यं व्रीडाऽऽतङ्कदायि च गृह्यते। आदिशब्देन प्रवेशकाङ्कास्य-चूलिकाऽवताराणां ग्रहणमिति ॥२२॥

अथ प्रथमं विष्कम्भकं शुद्धाशुद्धभेदं लक्षयति—(२३)

अरञ्जकं च रञ्जकमपि एकदिनाशक्याभिनयं च प्रेक्षकैः साक्षादनुपलभ्यमान-मङ्कानर्हम्। त्रिकालस्य वृत्त-वर्त्स्यद्-वर्तमानकालस्य, अनुरञ्जिनेति असमस्तेन अदीर्घ-समासेन च प्रसन्नेन। सङ्क्षिप्य विततमपि उत्तराङ्कसन्धानोपयोग्येव कृत्वा। संस्कृते-नेति शुद्धविष्कम्भकापेक्षम्। सङ्कीर्णे तु संस्कृतेनासंस्कृतेनापि च, नीचपात्रस्यापि तत्र भावात्। अङ्कादाविति प्रथमेऽङ्के आमु(मु)खादूर्ध्वमन्ये(न्ये)षु पुनरारम्भे इति तावत् सर्वे समामनन्ति। कोहलः पुनरेतं प्रथमाङ्कादावेवेच्छति। मध्यमैरित्यमात्य-सेनापति-वणिग्-विप्रादिभिर्न पुनर्देवी-कुमार-नायक-प्रतिनायिकादिभिः। मध्यमत्वं चैषां राजपेक्षया। राजपरिजनापेक्षया तु तेऽपि प्रधानम्। जनैरिति पुम्भिः स्त्रीभिः स्त्री-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुंसैश्च सामान्यवाचित्वात्। बहुवचनमतन्त्रम्, तेनैकेनापि स्वगतेनाकाशोक्त्या च निबध्यते। जनैरिति सामान्यनिर्देशादेव च शुद्धविष्कम्भके स्त्रिया अपि संस्कृतेनैव पात:(ठ:)। शुद्धो नीचाप्रवेशात्। विष्कम्नात्यनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भक:। तत्रेति विष्कम्भकादिषु पञ्चसु मध्यात् द्विभेदत्वेन विष्कम्भको निर्धार्यते। अथ सङ्कीर्णो नीचस्यापि प्रवेशात्। नीचा दास-चेटयादय:। अङ्कसन्धापक इति अङ्कस्य अङ्कार्थस्य सन्धायक: संसूचक: प्रथमाङ्कभावी। अङ्कयोरङ्कार्थयो: सन्धायक: सम्बन्धक: पुनरङ्कद्वयान्तरालभावी। शक्यं सन्धानमनुस्मरणं यस्यासौ शक्यसन्धान: स चासावतीतकालोऽतीतकालवृत्तोऽर्थस्तद्वान् विष्कम्भको भवति। इह तावत् पुरुषप्रज्ञापेक्षया विष्कम्भकार्थकालो निबध्यते। राम-युधिष्ठिरादयो हि चिरातीत-मत्यर्थमनुसन्दधतीति स तथैव निबध्यते। ये तु प्राकृता: स्तोककालमेवार्थमनुसन्दधते तदर्थस्तथैव निबन्धनीय:। कामफले तु नाटके वर्षैकवृत्तमेव निबध्यते, परत: संस्कार-विच्छेदात्, वयोऽतिवृत्तेश्चेति ॥२३-२४॥

अथ विष्कम्भकलक्षणानुवादेन प्रवेशकं लक्षयति—(२५)

एवमिति 'अङ्कानर्हस्य' इत्यादि सर्वं विष्कम्भकलक्षणमत्रातिदिश्यते। केव(ल)मसौ नीचैरेव पात्रै: परार्थैर्मुख्यनायकादिकार्यनिष्ठैर्न पुन: स्वकृत्यैकतत्परै:। यथा 'आणत मिः भट्ट(ट्ट)दारियाए' इत्यादि। नीचप्रयुक्तत्वादेव च ग्राम्यार्थप्रायेण प्राकृतेन, आदिशब्दात् शू(शौ)रसेन्यादिना प्रवेशको भवति। अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिक-हृदये (प्रवेश)यतीति प्रवेशक:। केचित् प्रवेशकं प्रथमाङ्कस्यादौ नेच्छन्ति। एताविति विष्कम्भक-प्रवेशकौ। नाटकादिचतुष्टयं नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरण्य:। नाटकादौ हि परिमितेनोपायेन बहुषु मुख्यावान्तरकार्येषु नृपादीनां तत्सहायानां चामात्यादीनां व्युत्पत्ति: क्रियते इत्यत्रैव प्रभूतावान्तरकार्यव्युत्पादकौ विष्कम्भक-प्रवेशकौ, न व्यायोगादिषु एकाङ्केषु तावदल्पवृत्तत्वेनाल्पकार्यत्वात्। बह्वङ्केष्वपि समवकारस्य परस्परासम्बद्धाङ्कत्वादन्येषां तु कतिपयदिनवृत्तत्वादिति। अङ्कास्यादीनि तु स्वल्पसूच्य-त्वेन यथासम्भवं रूपकान्तरेष्वपि भवन्ति ॥२५॥

अथ अङ्कास्य-चूलिके लक्षयति—(२६)

अन्तपात्रेणेति पूर्वस्याङ्कस्यान्ते स्त्री-पुंसाऽन्यतरेण पात्रेण छिन्नस्य असम्बद्धस्य उत्तराङ्गमुखस्य योजनमुपक्षयो यस्तत् अङ्कास्यम् अङ्कमुखम्। यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—

"प्रविश्य सुमन्त्र: भगवन्तौ वसिष्ठ-विश्वामित्रौ भवत: सभार्गवान् आह्वयेते इति।

इतरे तु—क्व भगवन्तौ ?।

सुमन्त्र:—महाराजदशरथस्यान्तिके।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतरे—तदनुराधात् तत्रैव गच्छामः।

इत्यङ्कसमाप्तौ। ततः प्रविशन्ति वसिष्ठ-विश्वामित्र-शतानन्द-जनक-परशुरामाः।"

इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्द-जनक-कथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनात् अङ्कास्यमिति।

वस्तुन इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेपः। पात्रैः स्त्री-पुंसैः नेपथ्यसंस्थितैर्यम-(व)निकाऽन्तरदेशस्थायिभिः। सा चूडेव चूलिका रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिखाकल्पत्वात्। यथा उत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ नेपथ्ये—

"स्वागतं तपोधनायाः। ततः प्रविशति तपोधना।"

अत्र नेपथ्यपात्रेण स्त्रिया वासन्तिकया आत्रेयीवस्तुनः सूचनात् चूलिका।

यथा वा नलविलासे द्वितीयाङ्कस्यादौ—

"स्वागतं सपरिच्छदाय कलहंसाय। ततः प्रविशति कलहंसो मकरिकाप्रभृतिकश्च परिवारः।"

अत्र नेपथ्यपात्रेण पुंसा शेखरेण कलहंसादिवस्तुनः सूचनात् चूलेति।

यथा वा रत्नावल्याम्—

"अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन्।
संम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं,
प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोरिवोदीक्षते।"

इति नेपथ्यपात्रेण बन्दिना काननस्थस्योदयनवस्तुनः सागरिकां प्रति सूचनात् चूलिका ॥२५॥

अथाङ्कावतारं लक्षयितुमाह—पात्रान्तराभावेन यस्यैवाङ्कस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात्। प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचनारहितमङ्कान्तरं भवति, स द्वितीयाङ्कावतारणादङ्कावतारः। यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमेऽङ्के विदूषकः—"तेण हि दुवे वि देवीए पेक्खागिहं गडूय संगीदोवकरणं गहिय तत्तभवदो दूदं विसज्जेध। अधवा मुदंगसद्दोय्येव णं उत्थावइस्सदि।"

इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयाङ्कमारभन्त इति।

अन्ये तु यत्राङ्के अन्याङ्कानां बीजलक्षणोऽर्थोऽवतार्यते, तमङ्कावतारमामनन्ति। यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्कः। तत्र हि—"ईदिसस्स कन्नगारयणस्स ईदिसे य्येव वरे अहिलासेण भोदव्वं।" इत्यादिकोऽनुरागलक्षणः सर्वाङ्कानामर्थ इति। अयं च गर्भाङ्कोऽप्युच्यते। यदाहुः—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अङ्कान्तरेव चाङ्को, निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो, गर्भाङ्को नाम विज्ञेयः ॥" इति ॥

अथ विष्कम्भकादीनां विषयव्यवस्थामाह—(२७)

तर-तमप्रत्ययौ नान्तरीयकतया सन्निधानाच्चाल्पशब्दं प्रकृतिमाकर्षतः, तेनाल्पतरे अल्पतमे इत्यर्थः । छन्दोऽनुरोधाच्च प्रत्ययानुकरणनिर्देशः । अन्येऽङ्कास्य-चूलिकाऽङ्कावताराः । क्रमादिति लक्षणक्रमेण । वह्नौ वहुकाले च सूच्ये आद्यौ विष्कम्भकप्रवेशकौ । अल्पे अल्पकाले चाङ्कास्यम्, अल्पतप(रे)[अल्प]तरकाले च चूलिकाऽल्पतमे अल्पतमकाले चाङ्कावतार इति ॥२७॥

अथाङ्कानन्तरोद्दिष्टमुपायं व्याचष्टे---उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां [स्वरूपपरिज्ञाना-]सम्भव [इति उपायस्वरूपं] व्युत्पाद्यते । यथारुचीति नैषामौद्देशिको निवन्धक्रयः सर्वेषामवश्यम्भावित्वं वा । फलस्य मुख्यसाध्यस्य हेतव उपायाः । इह हेतुर्द्विधा अचेतनश्चेतनश्च । अचेतनोऽपि मुख्यामुख्यभेदाद् द्विधा । मुख्यो बीजम्, तन्मूलत्वादितरेषाम् । अमुख्यस्तु कार्यम् । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च । मुख्यो बिन्दुः कार्यानुसन्धानरूपत्वात् । उपकरणभूतो द्विधा स्वार्थसिद्धियुतः, परार्थसिद्धिपरः । परार्थसिद्धिपरश्च पूर्वः पताका, अन्यः प्रकरीति । अत्र चाचेतनचेतनानां मध्ये बीज-बिन्द्वोर्मुख्यत्वं सर्वव्यापित्वादिति ॥ २८ ॥

अथ वीजमाह– आदौ गम्भीरत्वादल्पनिक्षिप्तो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुर्मुख्यसाध्योपायः स धान्यबीजवद् बीजम् । प्ररोहणादुत्तरत्र शाखोपशाखाऽऽदिभिर्विस्तरणात् । इदं चामुखानन्तरं निबध्यते । बीजं हि नाटकादीनामितिवृत्तार्थस्योपायः । आमुखं तु रूपकप्रस्तावनार्थं नटस्यैव वृत्तम् । याः पुनरत्र नाटकार्थस्पृशो नटोक्तयस्ताः प्रयोगपातनिकार्थमेव । अत एवामुखोक्ता अपि बीजोक्तयः प्रविष्टनाटकपात्रेण पुनरुच्यन्ते । तथा च रत्नावल्याम्—

"द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥"

इत्याद्यामुखोक्तं यौगन्धरायणः पठति ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"सत्त्वैकतानवृत्तीनां, प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।
प्रभविष्णुर्न देवोऽपि, किं पुनः प्राकृतो जनः ? ॥"

इत्यामुखोक्तं हरिश्चन्द्रः पठति ।

यथा वा अस्मदुपज्ञ एव यादवाभ्युदये—

"उदयाभिमुख्यभाजां, सम्पत्त्यर्थं विपत्तयः पुंसाम् ।
ज्वलितानले प्रपातः, कनकस्य हि तेजसो वृद्ध्यै ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इति नाटकपात्रं गुप्तमन्त्रः पठति।

तत्र वीजं क्वचिद् व्यापाररूपम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्ति-हेतुरनुकूलदैवः सागरिकाऽन्तःपुरनिक्षेपादियौगन्धरायणव्यापारः।

कचित् तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम्। यथा मायापुष्पके शापः प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

"कैकेयी क्व पतिव्रता भगवती क्वैवंविधं वाग्विषं !
धर्मात्मा क्व रघूद्वहः क्व गमितोऽरण्यं सजायानुजः !।
क्व स्वच्छो भरतः क्व वा पितृवधान्नानार्थकं ह्यते !
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथेऽवध्ये कुलस्य क्षयः !।।"

क्वचिद् व्यसनाभ्युदययोरुपक्षेपरूपम्। यथा तापसवत्सराजे माणवकः—

"अमच्छो(च्चो) वि एवं सामिणा अप्पणो पडिकूलमायरंतेण दढं आयासिदो। पत्थुदं च णेण रुमणमिस्सेहिं सह संपधारिय सामिभत्तीए मदिविहवस्स य अणुरूयं (वं)" इत्यादीति।

क्वचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम्। यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

"आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ? नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहलनीलधूमलतामद्यापि बध्यः को नेच्छति शिखां मे ?।"

इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो वीजोपन्यास इति।।

अथ पताकां निरूपयति—स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतनः परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धिप्राशस्त्यहेतुत्वात् पताकेव पताका। सुग्रीव-बिभीषणादिर्हि रामादिनोपक्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन् रामादेः प्रसिद्धिं प्राशस्त्यं च सम्पादयति। चेदिति यदि फलसाधने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निबध्यते, तदा पताका भवति न तु स्वपराक्रमबहुमानिनामिति। एवं प्रकर्यपि। आविमर्शमिति यदा मर्यादायामाङ्, तथाऽऽमुखप्रतिमुखगर्भान्, यदा पुनरभिविधौ, तदा विमर्शमभिव्याप्य विरमति। तावत्येव पताका नायकस्य स्वफलसिद्धिर्निबध्यते। निर्वहणसन्धावपि तत्फले निबध्यमाने तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् न तेन प्रधानस्योपकारः स्यात्। सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाणो भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्य इति।। २९।।

अथ पताकाप्रस्तावात् पताकास्थानकानां सामान्यलक्षणं भेदांश्चाह— अर्थः कर्म-करण-व्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च। अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाच्चान्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्तिर्यत्रेति वृत्ते उपकारिणी प्रधानफलोपकारिका तदिति वृत्तं पताकास्थानकम्। उपकारित्वमात्रसाम्यात् पताकास्थानस्य तुल्यं पताकास्थानकम्, न पुनः पताकास्थानमेव। अत एव तुशब्दः पताकास्वरूपाद् व्यतिरेकं द्योतयति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मण्डनतिति एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यस्यालङ्करणम्, किं पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा ? एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः। क्वचिदित्यन्तरान्तरा, न तु पताकावन्निरन्तरम्। अत एव दताकातो भिद्यते ॥ ३० ॥

सहसेत्याकस्मिकत्वेन सभ्यानां चमत्कारहेतुत्वमाह। यथा रत्नावल्याम्—सागरिकायां पाशावलम्बनप्रवृत्तायां वासवदत्तेति मन्यमानो राजा पाशाद् विमोचयति, तदा तदुक्त्या सागरिकां प्रत्यभिज्ञायाह—

"कथं मे प्रिया सागरिका ? अलमलमतिमात्रेण।" इत्यादि।

अत्रान्यत् प्रयोजनं चिन्तितम्, वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सम्पन्नम्।

यथा वा नलविलासे विदूषक-कापालिक-नियुद्धनिवारणायोद्यतस्य राज्ञो दमयन्तीप्रतिकृतिलाभ इति।

अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहसोपायान्तरप्राप्तिर्यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडादप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना वासोयुगलार्पणमिति ॥

श्लिष्टा प्रकृतसम्बद्धा सातिशयाऽत्यद्भुतार्था। यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य सन्देशोक्तिः—

"बहुनाऽत्र किमुक्तेन ?, पारेऽपि जलधेः स्थिताम्।
अचिरादेव देवि ! त्वाम्, आहरिष्यति राघवः॥"

अत्र पारेऽपि जलधेरित्यतिशयोक्तिरपि सीतां प्रति तथैव वृत्तत्वात् प्रकृतसम्बद्धा। अत्र चातिशयोक्तिमात्राच्चिन्तितात् प्रयोजनादपरं तथैव सीताहरणं प्रयोजनं सम्पन्नमिति सामान्यलक्षणम् ॥

वागितीहोत्तरत्र च सम्बध्यते। द्व्यर्था श्लेषादिवशात् प्रस्तुतोपयोग्यर्थान्तरोपक्षेपिणी। यथा—"प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोवि(रि)वोदीक्षते"। अत्र हि सन्ध्यावर्णन-प्रयोजनेन काव्यं प्रयुक्तं सागरिकां प्रत्युदयनाभिव्यक्तिलक्षणं प्रयोजनान्तरं सम्पादयति। तथा च "सागरिका—

अयं सो राया उदयणो, जस्स अहं तादेण दिन्ना" इति ॥

अप्रकटे प्रत्युत्तरकारकेणाविज्ञातेऽर्थे केनचिदुपक्षिप्ते सति श्लिष्टमन्याभिप्रायप्रयुक्तमपि प्रस्तुतसम्बद्धं स्पष्टं विशेषनिश्चयकारि यत् प्रत्यभिधानं प्रत्युत्तरं तद्रूपा च वागिति। यथा मुद्राराक्षसे —

"चाणक्यः—अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?।"

एवमस्फुटेऽर्थे उपक्षिप्ते "(प्रविश्य) सिद्धार्थकः—अय्य ! गहिदो।" इति प्रत्युत्तरं प्रस्तुतार्थसम्बद्धं विशेषनिश्चयकारि च। अत एव पुनः "चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) हन्त ! गृहीतो दुरात्मा राक्षसः।" इति। इदं प्रत्युत्तरं सन्देशग्रहणज्ञापन-प्रयोजनेन प्रयुक्तं चाणक्यस्य राक्षसग्रहं निश्चाययतीति सामान्यलक्षणमिति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रत्येकं चकारश्चतुर्णामपि नाटकं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थ इति ।। ३१ ।।

अथ प्रकरी-लक्षणमाह—क्वचिद् भावी वृत्तैकदेशव्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी। ऊ (औ) णादिके इप्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम्। यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः। चेदित्यनेन पताकावदनवश्यम्भावित्वमाह। क्वचिद्भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति ।।

अथ बिन्दुं लक्षयति—उपायानुष्ठानस्यावश्यकर्तव्यादिना व्यवधाने सति नायक-प्रतिनायकामात्यादीनां यदनुसंन्धानं ज्ञानमसौ ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद् बिन्दुः। सर्वव्यापित्वाद् वा जले तैलबिन्दुरिव बिन्दुः। आफलादिति बीजवत् समस्तेतिवृत्तव्यापकत्वमाह। केवलं बीजं मुखसन्धेरेव प्रभृति निबध्यतेः बिन्दुस्तु तदनन्तरमिति। इह तावन्नायक-सहायोभयेभ्यस्त्रिधा फलसिद्धिः। तत्र सर्वेषामपि स्वस्वव्यापारविच्छित्तावनुसन्धानात्मा बिन्दुर्निबध्यते। यथा च नायकेन प्रतिपक्षेतिवृत्तमनुसन्धीयते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्येतिवृत्तमनुसन्धीयते। अत एव बहूनामित्युपात्तम्। नायकस्य बिन्दुर्यथा अस्मदुपज्ञे राघवाभ्युदये पञ्चमेऽङ्के सुग्रीवचरितश्रवणेनातपि (पति) ते सीतापहारदुःखे सीतां स्मृत्वा रामः—

"कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वय-
प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह ! जातलज्जाज्वर ।
प्रकाशयितुमक्षमः क्षणमपि स्वमास्यं जने,
प्रयाति चरमोदधौ पतितुमेष देवो रविः ।।"

इत्यनेन पुनः सीतापहारदुःखमनुसंहितमिति।

यथा वा तापसवत्सराजे मृगयाऽऽदिभिरन्यैश्चामात्यव्यापारैर्वत्सराजस्य विच्छिन्नेऽपि प्रियासमागमौत्सुक्यरूपे प्रयोजने द्वितीयेऽङ्के राजा वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्याह—"रुमण्वा(व)न् ! मुञ्च मुञ्च।

क्षुद्राग्नेरमुतोऽपि धूमकलुषात् क्षिप्रस्थितेः सर्वतो,
ज्वालाताण्डवकारिणः किमपरं भीतोऽसि भाग्यैर्मम ।
अन्तर्बद्धपदं न पश्यसि सखे ! शोकानलं तेन माम्,
एवं वारयसि प्रियाऽनुसरणात् पापः करोम्यत्र किम् ? ।।"

इति वासवदत्तायामाग्रहविशेषात् तदेवानुसंहितम्। एवमत्रोत्तरेष्वप्यङ्केषु नायकस्य बिन्दुर्निबद्धोऽस्ति। एवं सहायोभयविपक्षाणामपि स्वव्यापारानुसन्धानात्मा बिन्दुर्द्रष्टव्यः ।।३२।।

अथ कार्यं विवृणोति—प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोत्क्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्ण-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दायी सैन्य-कोश-दुर्गन्सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रिया-प्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम् । अयमत्रोपायानां निबन्धसङ्क्षेपः सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-विन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः, सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यामन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति ॥

अथामीषां मुख्यत्वव्यवस्थायां हेतुमाह—

कार्यैः फलं प्रत्युपकारविशेषैः पुनर्बीजादीनां मुख्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निबन्धनीयम् । तत्र बीज-बिन्द्वोस्तावन्मुख्यत्वमेव सर्वव्यापित्वात् । पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा मुख्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम् । तत्र पताकाया मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रकविरचितायां मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्यार्यकस्य । प्रकर्या यथा वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायां सीतायास्तदपत्ययोश्च पालन-संयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य वाल्मीकेः । उभयोर्यथा रामप्रबन्धेषु सुग्रीव-बिभीषणयोर्जटायुहनूमदङ्गदादीनां च । पताका-प्रकर्योरल्पत्वेऽभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वमिति ॥

अथ पताकायाः प्रधानत्वे समर्थिते सन्धिप्रसङ्गं निरस्यति—

पताकावृत्तस्य प्राधान्यनिबन्धेऽपि अनुसन्धिर्मुख्यवृत्तसन्ध्यनुगतः सन्धिर्भवति गौणः सन्धिरित्यर्थः । यद्यपि पताकायाः प्रधानत्वे मुख्येतिवृत्तवत् सन्धयः स्युस्तथापि तेऽनुसन्धयो मुख्यसन्ध्युपयोगित्वेन गौणत्वात् । अपरथा पताकावृत्तस्य प्रासङ्गिकत्वं न स्यात्, सन्धिसङ्ख्यावृद्धिश्च स्यात् । अत एव ते सूचनाऽऽदिभिर्भवन्ति । आदिशब्दात् क्वचिदूह्यन्ते, लेशतो निबध्यन्ते च, न च मुख्यसन्धिभ्यः पृथग् गण्यन्ते । अनुसन्धिरिति एकवचनमविवक्षितम्, मुख-निर्वाहयोरवश्यम्भावित्वात्; तेन द्विप्रभृतयोऽनुसन्धयो भवन्ति । यथा मायापुष्पके —

"दुर्गं भूमिरमात्य-भृत्य-सुहृदो दाराः शरीरं धनं,
मानो वैरिविमर्द-सौख्यममरप्रख्येण सख्योन्नतिः ।
यस्मात् सर्वमिदं प्रियाविरहिणस्तस्याद्य शक्ता वयं,
न स्वेच्छासुलभैः पयोऽपि घटने शैलाम(लैर)खण्डैरपि ॥"

अत्र मुखादिसन्धिनिबन्धनीयं रामेण सह मैत्र्यादिकमभ्यूह्यमुपकल्प्य सुग्रीव-वचनाद् रामशक्तिसम्पन्नाभ्युदयं निर्वहणस्यैव वृत्तमुपनिबद्धमिति ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

"मित्रं दर्शनमात्रतोऽपि गणितः किष्किन्धमागत्य च,
क्षुण्णः क्षुद्रमतिः स साहसगतिर्दत्ता सतारा मही ।
इत्थं तेन वितन्वता न विहितं देवेन रामेण किं ?,
तत् सत्यं मम तस्य कर्तुमुचितं प्राणैरपि प्रीणनम् ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्र मित्रमित्यादिना मुखम्, किष्किन्धेत्यादिना प्रतिमुखम् क्षुण्णेत्यादिना विमर्शः, दत्ता सतारा महीति निर्वहणं सुग्रीववचनात् प्रकाशितम् । उत्तरार्धेन तु मुख्यनायकानुयायित्वर्शनादनुसन्धित्वं ख्यापितमिति । प्रकर्यास्तु प्राधान्येऽपि स्वल्पवृत्तत्वात् सन्ध्यनुसन्धिचिन्तैव नास्तीति ॥ ३३ ॥

अथ उपायानन्तरमुपदिष्टां दशां लक्षयितुं तद्भेदानुद्दिशति—(३४)

नेतुर्मुख्यफलं प्रति वीजाद्युपायान् प्रयोक्तुरवस्थाः प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः। ध्रुवमिति प्रधाने वृत्ते पञ्चानामवश्यम्भावमाह, तेन प्रासङ्गिके द्व्यादयोऽनुसन्धिवद् गौणाश्च भवन्ति । नाटकलक्षणप्रस्तावान्नाटके नाटकलक्षणानुसारिषु प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु चायं नियमः । तेन व्यायोगादौ यथालक्षणं न्यूनावस्थत्वमपि न दोषाय । क्रमादिति उद्देशोक्तक्रमेणैव निवध्यन्ते, नोपायवत् क्रमाक्रमाभ्याम् । प्रेक्षापूर्वकारिणां हि प्रथममारम्भस्ततः प्रयत्नस्ततः सम्भावना ततो निश्चयस्ततः फलप्राप्तिरित्ययमेव क्रम इति ॥ ३४ ॥

अथारम्भं व्युत्पादयति—फलं मुख्यं साध्यं तदर्थमौत्सुक्यमुपायविषयमनेनोपायेनैतत् सिध्यतीति स्मरणोत्कण्ठाऽऽदिकर्म तदनुगुणो व्यापारश्चोभयमारम्भः । उपायविषयमौत्सुक्यामौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः ।

यथा वेणीसंहारे प्रथमेऽङ्के सहदेवं प्रति—

"भीमः—अथ भगवान् कृष्णः केन पणेन सुयोधनं प्रति सन्धिं कर्तुं प्रहितः ?

सहदेवः आर्य ! ननु पञ्चभिर्ग्रामैः ।" इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे प्रथमेऽङ्के—"नेपथ्ये तूर्यध्वनिः ।

कलहंसः—देव ! युगादिदेवदेवताय[त]नसन्ध्यावलि-पटहध्वनिरयम् ।

राजा—(स्वगतम्) अहो ! परमं शकुनम् । (पुनर्विमृश्य) प्रेषयाम्येतं कलहंसं दमयन्त्याः पार्श्वे । एषा च मकरिका विदर्भभाषा-वेषाचारकुशला सहैव यातु ।" इत्यादीति ।

एतासु चावस्थासु नायक-सहाय प्रतिपक्ष-दैवव्यापाराणामन्यतमस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां चैकस्यां द्वयोस्तिसृषु चतसृषु पञ्चस्वपि च यथायथमुन्मीलने वृत्तिः । फलयोगस्तु मुख्यनायकस्यैव । न च दैवात् कर्मणः प्रारम्भाद्युन्मीलने मानुषकर्माभावान्नाटकस्याव्युत्पत्तिहेतुत्वम् । दैव-मानुषव्यापारयोः परस्परापेक्षयैव शुभाशुभफलसाधकत्वात् । दैवादप्यर्थं पश्यन्तः पुण्यमुपचेतुं मानुषे कर्मणि प्रवर्तेरन् । उपभोगाच्च क्षीयमाणमननुकूलं दैवं प्रति विहितप्राणात्ययाः प्रतीक्षेरन्निति सर्वत्र दैवस्य मानुषव्यापारापेक्षित्वाद् दैवायत्तफलान्यपि रूपकाणि सामाजिकानां बुद्धिसंस्काराय निबन्धनीयानि । यथा पुष्पदूषितकं मृच्छकटिका चेति ।

अथ प्रयत्नमाह—मुख्यफलोपायव्यापारणे त्वराऽनेनोपायेन विना फलं न

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः । औत्सुक्यमात्रमारम्भः, परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः । यथा रत्नावल्याम्—

"तहा वि नत्थि अन्नो दंसणोवाउ त्ति जहा तहा आलिहिय जधासमीहिदं करइस्सं ।" इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

"राजा—(सत्वरम्) मकरिके ! प्रभवसि राजपुत्रीमिह समानेतुम् ?

मकरिका—अहं दाव पयतिस्सं । आगमणं उण दिव्वस्स आयत्तं ।

राजा—तर्हि यतस्व ।" इत्यादीति ॥

अथ प्राप्त्याशां विपञ्चयति—मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च [व्य] वच्छिद्यते । फलान्तरासम्बन्धादनिश्चितबाधकाभावाच्चोपायादीषत् प्रधानफलस्य या सम्भावना, न तु निश्चयः; सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्याशा प्राप्त्याशा ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयेऽङ्के "भीमः—

कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा,
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः ।
यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,
सोऽयं मद्भुजपञ्जरान्तरगतः संरक्ष्यतां कौरवाः ! ॥'

इत्यत्र दुःशासनवधादशेषकौरववधसम्भावनेन युधिष्ठिरस्य राज्यप्राप्तिसम्भवः ।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयंवराङ्के—

"नलः—कलहंस ! मकरिके ! फलितः स एष वां प्रयासः ।

कलहंसः—देव ! नावयोः प्रयासः, किन्तु देवस्य स्वप्नः ।

नलः—समभूदिदानीं स्वप्नार्थप्रत्याशा ।" इति ॥ ३५ ॥

अथ नियताप्तिं स्पष्टयति—

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो नियता फलाव्यभिचारिण्याप्तिर्नियताप्तिः ।

यथा वेणीसंहारे—

"कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥"

इत्यादिना भीमार्जुनाभ्यामेकशेषदुर्योधनान्वेषणान्नियताप्तिर्दर्शिता ।

यथा वा राघवाभ्युदये षष्ठेऽङ्के—

"सुग्रीवः—(जाम्बवन्तं प्रति) अमात्य ! भवतु यादृशस्तादृशो वा स

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पारदारिको राक्षसस्तथापि देवपादानां वध्यः ।

रामः—(सीताऽपहारं स्मृत्वा सगर्वं विषादम्) कपिराज ! प्रतिराजविक्रम-यामिनीतपनोदये भवति सहाये सति ।

निहत्य दशकन्धरं सह विपक्षरक्षःकथा-
प्रथाभिरधिसङ्गरं जनकजां ग्रहीष्ये ध्रुवम् ।
शशाक न स रक्षितुं रघुपतिः परेभ्यः प्रिया-
मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिकोलाहलः ॥'। इति ॥

अथ फलागमं निरूपयति —साक्षात् समनन्तरं, न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी इष्टस्याभिप्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरुत्पत्तिः। फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम् । इह फलस्योत्पत्त्यावेशः पञ्चम्यवस्था। उत्पतनस्य तु नायकेन यः सम्भोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्यं साध्यम् । अत एव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्थाः सङ्गच्छन्ते । नायकस्येत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका-विपक्ष-दैवादि-व्यापारैरपि निबध्यन्ते इत्युक्तं भवति। तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति । अत एव रत्नावल्याम्—"प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ" इत्यादि स्वामिगतत्वेनैव यौगन्धरायणेनोक्तम् । फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबध्यते ।

यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक् चन्दनाभं मया(सा)ङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयः सीमया साधुमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुबलमनुजा दग्धमेतद् रणाग्नौ,
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्त्तराष्ट्रस्य शेषम् ।"

इत्यनेन दुर्योधनं हत्वा भीमसेनेन युधिष्ठिरराज्यसमर्पणफलयोगो दर्शितः ।

यथा वा राघवाभ्युदये रामः—

"वैदेहीं हृतवांस्तदेष महतः सङ्ख्ये विषह्य क्लमान्,
चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः ।
प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवांस्तेन त्रपाऽसुन्दरं,
वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्षः क्षमः ॥" इति ।

इह च तावत् पुरुषकारमात्राभिनिवेशिनां दैवमपाकुर्वतां नास्तिकानां दैवबहुमानव्युत्पत्तये पुरुषकारोऽप्यफलस्तदभावोऽपि सफल इति दर्शनीयम् । ततो दैवायत्तफले दरिद्रचारुदत्तादिरूपके पुरुषव्यापारस्य गौणत्वात् कथं प्रारम्भादयः स्युः ? न, तत्रापि नायकस्य फलार्थित्वात्, फलस्य च प्रारम्भादिनान्तरीयकत्वात् । अनुप्तान्यपि हि सस्यानि वृष्टिसेकाप्यायितायां भुवि उच्छूनताऽङ्करोद्भेद-स्तम्भवन-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुष्पोद्गमक्रमेणैव फलन्ति । यद्यपि हि सेवाऽऽद्यशेषव्यापारविमुखः पुरुषो न व्याप्रियते, तथापि दैवप्रेरितो राजादिर्व्याप्रियत एव । स च राजादिगतो व्यापारः पुरुषगत एव, तद्व्यापारसाध्यफलार्थित्वात् । अपरथा परतः प्राप्तमपि फलं नाङ्गी-कुर्यादिति ।। ३६ ।।

अथ दशाऽनन्तरमुद्दिष्टान् व्याख्यातुं सन्धीनुत्क्षिपति—मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धयः, अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः । अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु पञ्चा-वश्यम्भाविनः । समवकारादौ तु विशेषोपादानादूनत्वेऽपि न दोषः । क्रमादिति मुखाद्युद्देशक्रमेणावस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते । इह तावत् प्रबन्धनिबन्धनीयोऽर्थोऽवस्था-भेदेन पञ्चभिर्भागैः परिकल्प्यते । एकैकश्च भागो द्वादश त्रयोदशेत्यादिरूपयाऽङ्गसङ्-ख्यया विभज्यते । प्रासङ्गिकवृत्तसन्धयस्तु मुख्यसन्ध्यनुयायित्वादनुसन्धय एवेत्युक्तमेवेति ।। ३७ ।।

अथ मुखं लक्षयितुमाह—प्रारम्भावस्थाभावित्वात् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम् । बीजोत्पत्तेर्मुख्योपायोपक्षेपस्य, रसानां, च शृङ्गारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र । प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखसन्धि-रित्यर्थः । यथा रत्नावल्यां प्रथमोऽङ्कः । अत्र हि सागरिका-राजदर्शनरूपे अमात्यप्रारम्भ-विषयीकृतेऽर्थराशौ अमात्ययौगन्धरायणस्य पृथ्वीसाम्राज्यविजिगीषोर्वीरः, वत्सराजस्य वसन्तविभावः शृङ्गारः, पौरप्रमोदावलोकनादद्भुतः, तत उद्यानगमनादारभ्य पुनः शृङ्गार इति । यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे प्रथमोऽङ्कः । तत्र हि कुलपतिप्रारम्भविषयीकृते पृथिवीसुवर्णदानाभ्युपगमरूपेऽर्थराशौ राज्ञः प्रथमं महावराहदर्शनेऽद्भुतः, प्रहतहरिणी-दर्शने करुणः, पुनराश्रमदर्शनेऽद्भुतः, हरिणीवधश्रवणक्रुद्धस्य कुलपते रौद्रः, ततः पृथिवी-सुवर्णदानाभ्युपगमे राज्ञो दानवीर इति रसप्राणो नाट्यविधिरिति रसाश्रयत्वमुत्तर-सन्धिष्वपि द्रष्टव्यमिति ।

अथ प्रतिमुखं व्याचष्टे – प्रधानवृत्तांश इहोत्तरेषु च स्मर्यते । कियल्लक्ष्यस्य मुखसन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीषत्प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्योद्घाटेन प्रबल-प्रकाशनेन सम्यगनुगतः प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्नो यः प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम् । 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादिना ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं वसन्तोत्सव-कामदेवपूजाऽऽदिना तिरोहितत्वादीषल्लक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गतारचित-राज-सागरिका-समागमेन द्वितीयाङ्क उद्घाट इति ।। ३४ ।।

अथ गर्भं व्याख्यातुमाह—उत्पत्त्युद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य बीजस्यौन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लाभालाभगवेषणैः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुन पुनर्भवद्भिर्युक्तः प्रधानवृत्तांशो गर्भसन्धिः। यथा वेणीसंहारे तृतीय-चतुर्थ-पञ्च-मेष्वङ्केषु। नेपथ्ये फलसाधकानां पाण्डवानां वृत्ते भीमसेनेन 'कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना' इत्यादिना प्रतिज्ञा-निर्वहणोपक्रमात् विजयानुगुण्यलाभेन बीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम्। तथा 'भगदत्तलुहिलकुम्भके' इत्यादिना राक्षसीमुखसूचितेन प्रधानयोधवधेन 'एशे षु(खु) धिट्टज्जुण्णेणं केशेषु गिण्हिय दोणे वावायीइदि' इत्यादिना राक्षसमुख-सूचितेन च सेनापतिवधेन स्वबलक्षोभकारिणा कर्णाश्वत्थाम्नोः कलहेन च दुर्योधनस्य विजयालाभलक्षणं, पाण्डववृत्ते फलानुगुणं बीजस्यौन्मुखं (ख्यम्)। तथा—'आः! शक्तिरस्ति वृकोदरस्य मयि जीवति वत्सस्य छायामप्याक्रमितुम्' इति योद्धुं निष्क्रान्तेन दुर्योधनेन विजयान्वेषणरूपम् औन्मुख्यम्। तथा—

"राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः,
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषतः कर्णस्य शल्यस्य च।
पीतं तस्य मयाऽद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः,
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग् वक्षसः॥"

इत्यादिना भीमसेनेन दुःशासनवधात् विजयलाभरूपमौन्मुख्यम्। एवमत्र पुनः पुनर्लाभालाभगवेषणैर्बीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम्। अत एव फलप्राप्ति-सम्भावनारूपो गर्भ-सन्धिरुच्यते। एवं शृङ्गारादिप्रधानेष्वपि रूपकेषु लाभालाभगवेषणानि दर्शनीयानि। इह गर्भसन्धावप्राप्त्यंशः प्रधानं(न) फलसम्भावनाऽऽत्मकत्वात्, अन्यथा फलनिश्चयात्मक एव स्यात्। अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानं(न)फलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः। इति॥

अथाव(थ वि)मर्शमाह—बीजस्योत्पत्त्युद्घाट-फलौन्मुख्यैरुद्भिन्नं भवना-भिमुखं यत् साध्यं प्रधानफलं तद्-विघ्नात्मा त(प्र)त्यूहहेतुसम्पातात्मा नियताप्ति-चतुर्थ्यवस्थापरिच्छिन्नः प्रधानवृत्तांशः। विमृशति बलवदन्तरायहेतुसम्पाल(त)प्रत्या-सन्नमपि साध्यं प्रति सन्देग्धि नेताऽस्मिन्निति विमर्शः। नियतफलाप्त्यवस्थया व्याप्त-त्वेऽप्यस्य सन्धेः सम्भावनानन्तरं सन्देहस्याप्राप्तावपि च फलं प्रति जनक-विघातकयो-स्तुल्यबलत्वात् सन्देहात्मकत्वम् 'विघ्नैरपि हन्यमानाश्च महात्मानो विशेषतो यतन्ते' इति तत्त्वतो नियतफलाप्तिरूपत्वम्। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति' इति विघ्नहेतुस-म्पातेऽपि प्रत्यासन्नवर्त्तिनि फले न निवर्तनीयमिति च व्युत्पादयितुमवश्यमत्र सन्धौ विघ्नहेतवो निबन्धनीयाः। व्यसनादिभिरिति आदिशब्दात् शापादिपरिग्रहः। तत्र व्यसनाद् विघ्नो यथा रामाभ्युदये पञ्चमेऽङ्के रामः—

"प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा,
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये ! नोचितम् ।।"

अत्र रावणेन यन्मायारूपसीताव्यापादनं तद्रूपेण व्यसनेन सीताप्राप्ति-विघ्नजो विमर्शः ।

यथा वा रघुविलासे षष्ठेऽङ्के लक्ष्मणः—

"नाकीर्णा दशकन्धरी पलभुजां पत्युः शितैः पत्रिभिः,
दत्ता नापि बिभीषणाय सुहृदे लङ्काधिपत्यस्थितिः ।
वैदेही विरहाग्निमग्नमनसो नार्यस्य सन्दर्शिता,
जातं जन्म वृथा हहा ! रणधुराधौरेयदोष्णो मम ।।"

अत्र लक्ष्मणस्य शक्तिभेदव्यसनेन फलप्राप्तिविघ्नजन्मा विमर्शः ।

शापाद् यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पञ्चमेऽङ्के दुर्वासःशापविमोहितत्वेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हितायां च, षष्ठेऽङ्के अङ्गुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वासः-शापविघ्नजो विमर्शः ।

दैवतो यथा विधिविलसिते पञ्चमेऽङ्के —

"कञ्चुकी—हा ! धिक् कष्टम्, नैवोल्लङ्घचः प्राक्तनः कर्मविपाकः ।
वार्ताऽपि नैव यदिहास्ति स राजचन्द्रः,
तेनोज्झिता विधिविमोहितचेतनेन ।
देवा वने त्रिदशनाथविलासिनीभिः,
कर्तुं गता जगति सख्यमिति प्रवादः ।।"

अत्र सूदावा(चा)रविलम्बिनि नले दैवत्यक्त-दमयन्ती-राज्यप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः ।

क्रोधाद् यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के सिद्धकल्पेऽपि कार्ये क्रोधातिशयादपर्युषितां प्रतिज्ञामास्थितवति भीमसेने, दुर्योधने चान्तर्जलं निमग्ने यत्नान्वेषणैरप्यनुपलभ्यमाने युधिष्ठिरो निर्वेदाद् विमृशन्नाह—

"तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते,
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसात् स्वल्पावशेषे जये,
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ।।"

एष भीमक्रोधात् कार्यविनिपाते सति जात इति क्रोधजप्रतिज्ञाविघ्नात्मा विमर्शः । एवमनेकहेतुजो विमर्शसन्धिः ।।३९।।

अथ निर्वहणसन्धिं निरूपयति—बीजस्य विकृतं विकारि उत्पत्त्युद्घाट-फलोन्मुख्यादिकः सह बीजविकृतैरवस्थाभिश्च प्रारम्भादिभिर्वर्तन्ते । नाना विचित्रा भावाः स्थायि-व्यभिचारि-सात्त्विका अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावा उपाया

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि यत्र । सुखप्राप्तौ च फले रति-हासोत्साह-विस्मय-स्थायिभावबाहुल्यं धृति-गर्वौत्सुक्य-मदादि-व्यभिचारि-बाहुल्यं च मुखादीनाम् । दुःखहानौ तु फले क्रोध-शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावबाहुल्यमालस्यौग्र्यादि-व्यभिचारि-बाहुल्यं च द्रष्टव्यम् । मुखादयो मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शाः । फलेन मुखसाध्येन नायक-प्रतिनायक-नायिका-ऽमात्यादिव्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सम्बध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छन्नो निर्वहणसन्धिः । ध्रुवमिति प्रारम्भस्य निर्वाहाविनाभावित्वात् सर्वरूपकेष्वस्यावश्यम्भावमाह । यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकप्रवेशात् प्रभृत्यासमाप्तेरिति ।

केचित् तु मुखादयः सन्धयोऽवस्थाश्च यत्र पृथक्-पृथक् सङ्क्षेपतः पुनरुल्लिङ्ग्यन्ते, तं निर्वहणसन्धिमाहुः । यथा सत्यहरिश्चन्द्रे षष्ठेऽङ्के देवः—

"आखेटो मुनिकन्यका कुलपतिः कीरः शृगालोऽध्वगाः,
विप्रो म्लेच्छपतिर्मनुष्यमरणं लम्बस्तनी मान्त्रिकः ।
उद्बद्धः पुरुषो वियच्चरवधूर्गोमायुनादः फणी,
सर्वं सत्त्वपरीक्षणोत्सुकरसैरस्माभिरेतत् कृतम् ॥"

आखेट इत्यादिना मुखसन्धिनिबद्धाः, कीर इत्यादिना प्रतिमुखसन्धिभाविनः, अध्वगेत्यादिना गर्भसन्धिग्रथिताः, मनुष्येत्यादिना च विमर्शसन्धिसूत्रिता यथासङ्ख्यं प्रारम्भाद्यवस्थाऽनुगताः फलवन्तोऽर्था निर्वहणसन्धावेकवाक्यताऽऽपादनार्थं सङ्क्षेपतः पुनरुपात्ता इति ॥४०॥

अथ दिव्याङ्गमित्यत्राङ्गशब्दोपात्तानि उपक्षेपादीनि अङ्गानि विपञ्चयितुं प्रथमं मुखसन्धिगतान्युद्दिशति—

अत्रैवेति उपक्षेपादीनि करणान्तानि मुखसन्धावेव भवन्ति । तत्रापि उपक्षेप-परिकर-परिन्यासानां यथोद्देशक्रममादादेव, समाधानस्य तु रचनावशान्मध्यैकदेश एव; उद्भेद-करणयोस्तु उपान्त्ये निबन्धः । उपक्षेपादीनि करण-रहितानि युक्त-सहितानि षट् अत्रावश्यं भवन्ति । विलोभनादीनि तु सर्वसन्धिष्वपि भवन्ति, संविधानकवशात् तदर्थस्यान्यथापि सम्भवात् । बाहुल्यनिबन्धापेक्षया त्वत्रोपादानम् । एवमन्यसन्धिष्वपि ज्ञेयम् । भेदस्तु सर्वसन्धिष्वङ्कान्ते प्रवेशक-विष्कम्भकान्ते च अवश्यं निबन्धनीयः, पात्रभेदरूपत्वात् तस्य । उपक्षेप-परिकर-परिन्यासेभ्योऽपराण्यङ्गानि वृत्तानुगुण्यादुद्देश-क्रमातिक्रमेणापि निबध्यन्ते । आमुखस्य च नटवृत्तत्वेनेतिवृत्तानङ्गत्वात् तदनन्तरमङ्गानां निबन्धः । द्वादशाङ्गमिति सन्धिः । संविधानखण्डान्यङ्गीनि सन्धिरूपस्याङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात् । अङ्गसङ्ख्यानियमश्च सन्धिषूपात्ताङ्गापेक्षया । सन्ध्यन्तरङ्गानुप्रवेशे तु न सङ्ख्यानियमः सङ्ख्यासङ्क्षेपश्चाङ्गानां परस्परान्तर्भावे प्रतिसन्धिसुकरोऽपि प्राचीनैरकृतत्वात् भणितिभङ्गिबाहुल्यस्य च चमत्कारकारित्वादस्माभिर्न कृतः । ध्रुवमिति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुखसन्धिः सर्वरूपकेष्ववश्यं भवति । निर्वहणमप्येवम् । आरम्भ-निर्वाहयोरवश्यम्भावित्वात् । प्रतिमुखादयस्तु व्यायोगादिषु यथालक्षणं भवन्ति, न भवन्ति च । अङ्गानि च वृत्तविस्तरकारित्वादवश्यं निबन्धनीयानि । अपरथा रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य, सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य, समुद्रसेतुबन्धमाधाय, निहत्य च रावणं प्रत्यानीतेत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैर्निबद्धे रूपके वृत्तसङ्क्षेपः स्यात्, तथा च न चमत्कारः। किञ्च अरञ्जकमपि वृत्तमङ्गवैचित्र्येण निबध्यमानं परां रक्तिमावहति, कार्यवशाच्च पुनरुच्यमानमपि वृत्तमङ्गभङ्गया निबद्धमपुनरुक्तमिवाभाति । अयःशलाकाकल्पता चाङ्गसम्बद्धस्य वृत्तस्य न भवति । प्रत्येकशश्चाङ्गानां प्रयोजनं यथाऽवसरं लक्षणे दर्शयिष्यामः ॥४१-४२॥

अथ सकलकाव्यार्थः(र्थ)-प्रधानरसलक्षणं प्रयोजनं च सङ्क्षेपेणोपक्षिप्यत इति प्रथममुपक्षेपं लक्षयति—

विस्तारिणः काव्यार्थस्य मूलभूतो भागो बीजमिव बीजं तस्योप्तिरावापमात्रमुपक्षेपः । यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये—

"द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥"

इत्यादिना यौगन्धरायणेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुः स्वव्यापारानुकूलदैवो बीजमुप्तम् ॥

अथ परिकरः—उपक्षिप्तार्थस्य सुष्ठु विशेषवचनैरल्पं विस्तारणं परिकरः । यथा वेणीसंहारे भीमसेनः सहदेवमाहः—

"प्रवृद्धं यद् वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिः,
न तत्रार्यो हेतुर्भवति न किरीटी न च युवाम् ।
जरासन्धस्योरस्थलमिव निरूढं पुनरपि,
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥" इति ।

अथ परिन्यासः—उपक्षिप्य विस्तारितस्यार्थस्य विशेषेण निश्चयः सिद्धतया हृदयेऽवस्थापनं परितो न्यसनं परिन्यासः । यथा राघवाभ्युदये—

"मतिसागरः—देव ! मा शङ्किष्ठाः, प्रलयेऽपि किं विपरियन्ति मुनिभाषितानि ?।

जनकः - तत् किं भुजख(द)ण्डविक्रमाक्रान्तभारतखण्डत्रयस्य तस्यापि पराजयः सम्भाव्यते ?।

मतिसागरः—(स्वगतम्) अहो ! दुरात्मनो राक्षसस्याज्ञैश्वर्यम्, यदयं रहोऽपि देवस्तदभिधानमुच्चारन् बिभेति। (प्रकाशम्) देव ! सम्भाव्यत इति किमुच्यते ? सिद्ध

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एव किं नाभिधीयते देवेन ?।" इति ।

यथा (वा) वेणीसंहारे—

"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाऽभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंभ(स)यिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः ।।" इति ।

यथा वाऽस्मदुपज्ञे रोहिणीमृगाङ्काभिधाने प्रकरणे प्रथमेऽङ्के—"मृगाङ्कं प्रति वसन्तः—कुमार ! मा शङ्किष्ठाः ।

उन्मत्तप्रेमसंरम्भाद्, आरभन्ते यदङ्गनाः ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं, ब्रह्माऽपि खलु कातरः ।।"

अनुपक्षिप्तश्चार्थो न विस्तार्यते, अविस्तारितश्च न निश्चीयत इति त्रयाणामप्येषामुद्देशक्रमेणैव निबन्धः ।।

अथ समाहितिः—सङ्क्षिप्योपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पष्टताप्रतिपादनार्थं पुनर्न्यासो भणितिवैचित्र्यं सम्यगासमन्ताद् धानं पोषणं समाहितिः। यथा वेणीसंहारे— "(नेपथ्ये) भो भोः ! द्रुपद-विराठ-वृष्ण्यन्धक-सहदेव-प्रभृतयोऽस्मदक्षौहिणीपतयः ! कौरवचमूप्रधानाश्च योधा ! श्रूयताम् ।

यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं,
यद् विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्ति कुलस्येच्छता ।
तद् द्यूतारणिसम्भृतं नृपशुना केशाम्बराकर्षणैः,
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ।" इति ।

'स्वस्था भवन्ति' इति यद् बीजं तदिदानीं प्रधाननायकगतत्वेन सम्यक् पोषं नीतमिति ।।४३।।

अथोद्भेदः—आमुखानन्तरमुप्तस्य बीजस्य स्वल्पप्ररोहः किञ्चित्फलानुष्ठानानुकूल्यप्रदर्शनं धान्यस्योच्छूनतेवोद्भेदः। बीजस्योद्घाटनमङ्कुरकल्पम्, उद्भेदः पुनरङ्कुरकल्पादुद्घाटनाद् भूमिन्यस्तधान्योच्छूनतेव प्राचीनावस्था इत्ययं मुखसन्धेरेवाङ्गम्, न पुनरुद्घाटरूपत्वात् प्रतिमुखसन्धेः। यथा वेणीसंहारे—

"नाध ! पुणो वि तए आगच्छिय अहं समासासइदव्वा ।"

इति द्रौपद्याऽभिहितो भीमः प्रत्याह—

"अयि ! किमद्याप्यलीकाश्वासनाभिः ?
भूयः परिभवक्षान्ति-लज्जाबन्धुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं, न पश्यसि वृकोदरम् ।।"

इति कुरुनिधनारम्भरूपस्य बीजार्थस्यायमुद्भेद इति ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्ये तु गूढभेदनमुद्भेदमामनन्ति। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशनिगूढस्य "अस्तापास्त—' इत्यादिना वैतालिकवचसा सागरिकां प्रत्युद्भेदः।

यथा वा राघवाभ्युदये—

"सीता—(समन्तादवलोक्य रामं च सविशेषं निर्वर्ण्य स्वगतम्) कथमयमनङ्गोऽप्यङ्गमास्थाय चापारोपणं द्रष्टुमायातः! प्रसीद भगवन्ननङ्ग! प्रसीद, तथा कुर्या यथा राम एव चापारोपणाय प्रभवति।

लवङ्गिका—(अङ्गुल्या रामं दर्शयन्ती) जं भट्टिदारिया इत्तियं कालं मणोरहगोयरं कयवदी, तं संपयं दिट्ठिगोयरं करेदु।

सीता—(ससम्भ्रमं स्वगतम्) कथमहं राममेव अनङ्गमज्ञासिषम्?"

इत्यनङ्गभ्रान्त्या निगूढस्य रामस्य लवङ्गिकावचसा उद्भेदः॥

अथ करणम्—

अवसरानुगुणस्यार्थस्य प्रारम्भः करणम्। यथा वेणीसंहारे—

"सहदेव,—आर्य! गच्छामो वयं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।

भीमः—एते च वयमुद्यता एवार्यस्याज्ञामनुष्ठातुम्।"

इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमान-सङ्ग्रामारम्भणात् करणम्—

यथा वा यादवाभ्युदये द्वितीयाङ्कोपान्त्ये—

"कंसः—(सप्रसादम्) साधु अमात्य! साधु, अयमेव सङ्ग्रहोपायो नान्यः। तत् तर्हि व्रज त्वं सामग्रीकरणाय।"

इत्यनेना(न)न्तराङ्कप्रस्तूयमान-मल्लरङ्गभूमिप्रारम्भात् करणमिति।

अन्ये तु विपदां शमनं करणमाहुः शमनं चाशीर्वादवशेनान्यथा वा। यथा वेणीसंहारे भीमं प्रति द्रौपदी—

"जं असुरसमराभिमुहस्स हरिणो मङ्गलं, तं तुम्हाणं भोदु।" इति।

अथ विलोभनम्—

स्तुतेर्गुणवदेतदिति श्लाघातः—प्रस्तुते कृत्ये गार्ध्यमभिलाषस्थिरीकरणं विलोभनम्। यथा वेणीसंहारे—"चञ्चद्भुज—" इत्यादिश्लोकानन्तरं द्रौपदी—

"नाध! किं दुक्करं तए परिकुविएण? ता अणुगिण्हंतु एदं ववसिदं देवदाउ।"

इत्यनेन सुयोधनवधस्य गुणवत्त्वख्यापनाद् भीमस्य गार्ध्यपदं विलोभनम्। इदं च परिन्यासानन्तरमेव निबध्यते तन्त्रान्तरसाधारण्याय चोक्तक्रमेणोद्देशः।

अथ भेदनम्—रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रङ्गान्निःसरणं येन तद् भेदनम्। पात्राणां यथास्वं प्रयोजनवशादितश्च इतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रङ्गान्निर्गममापादयन् भेदनमुच्यते। यथा वेणीसंहारे भीमो द्रौपद्या सङ्ग्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेक्षे पराक्रमे निषिद्धः प्रत्याह—"अयि सुक्षत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्न-द्विपरुधिरवसा-सान्द्रमस्तिष्कपङ्के,
मग्नानां स्यन्दनानाम् उपरिकृतपद-न्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठी-रसदशिवशिवा-तूर्यनृत्यत्कबन्धे,
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः-पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥" इति।

एतेन हि सङ्ग्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन सङ्ग्रामावतरणाभिप्रायः सहदेवस्य चात्मनश्च सङ्घातभेदनार्थ एवोपदर्शित इति भेदोऽङ्गम्।

अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः। यथा वेणीसंहारे—

"(द्रौपदी—) नाध ! मा खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध, यदो अपमत्तसंचरणीयाइं रिउवलाई सुणीयंति।

भीमः—अयि सुक्षत्रिये ! अन्योन्यास्फालभिन्न—"

इत्यादिना विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साह-बीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनात् भेद इति।

अन्ये तु संहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकानां विश्लेषकं भेदरूपमुपायं भेदनं मन्वते इति॥ ४४॥

अथ प्रापणम्—सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेषणादाप्तिः प्रापणम्। यथा वेणीसंहारे—

"(प्रविश्य) कञ्चुकी—कुमार ! एष (खलु) भगवान् (वासुदे)वः पाण्डवपक्षपातामर्षितेन कुरुराजेन संयमयितुमारब्धः। ततः स महात्मा दर्शितविश्वचरूपतेजःसम्पातमूर्छितमवधूय कुरुबलमस्मत्सेनासन्निवेशमनुप्राप्तः। यतो देवः कुमारमबिलम्बितं द्रष्टुमिच्छति।"

अयं ह्यर्थो भीमसेनस्य कुरुभिः सह सन्धिभेदमापादयंश्चान्तः सुखयतीति। तथा भणितिवैचित्र्यार्थमङ्गानि कवय एकस्मिन्नपि सन्धावावर्तयन्ति। यथा वेणीसंहारे इदमेवाङ्ग पुनर्निबद्धम्। तथाहि—

"चेटी—(द्रौपदीमुद्दिश्य सानन्दम्) भट्टिणि ! परिकविदो विअ कुमारो लक्खीयदि।

द्रौपदी—एवं ता अवधीरणा वि मं एसा समासासेदि। ता इध य्येव उववि(वि)सिअ सुणामो दाव नाधस्स ववसिदं।

भीमः—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्;
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।

द्रौपदी—(सहर्षम्) असुदपुरवं ईदिसं वयणं, ता पुणो वि भण ।।"

इति द्रौपद्या अभिप्रेतार्थप्राप्तिरिति ।।

अथ युक्तिः—विचारणा गुण-दोष-विवेकतः कार्य-पर्यालोचनम् । यथोदात्त-राघवे—"लक्ष्मणः—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं,
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ! ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरुः,
माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ।।'

इयं च युक्तिः स्थानान्तरभाविन्यपि तापसवत्सराजे उपक्षेप-परिकर·नन्तरं निबद्धा दृष्टेति । राघवाभ्युदये तथैवास्माभिर्ग्रथिता । तत्र हि—

"मतिसागरः—यत् पुरा भट्टारकेण सागरबुद्धिना बिभीषणाय कथितं यथा—'सीतानैमित्तिको दाशरथितो रावणवधः' इति । तस्यार्थस्य तदेतच्चापारोपणं बीजमुपस्थितं [कथितं] च मे करइकनाम्ना लङ्काचारिणा चरेण यथा-"भामण्डलस्येव रावणस्यापि सीतायां प्रेमास्त्येव, किन्तु दोर्दर्प्पाच्चापारोपणे नायातः । (विमृश्य) तन्नूनमसौ पश्चादपि सीतामपहरिष्यति ।" इति ।

अथ विधानम्—

द्वयोः सुख-दुःखयोरेकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्यैव वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्विधानम् । एकत्र पात्रे सुख-दुःखयोः प्राप्तिर्यथा मालतीमाधवे—"माधवः—

यद् विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्,
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयम्,
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ।।"

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुख-दुःखाप्तिः ।

अनेकत्र, यथा तापसवत्सराजे काञ्चनमालया ज्ञातिगृहवार्ताविशेषापदेशात् वासवदत्ताया वियोगदुःखेऽपह्नुते राजा स्मित्वाऽऽह—

"दृष्टिं प्रेमभरालसां मयि मुहुर्विन्यस्य लज्जावती,
कालस्याहमिहासहेत्यविरतं प्रत्यर्पयन्ती मनः ।
जाता देवि ! तदा ममापनयने हेतुस्त्वमेवाधुना,
किं सन्देशनवीभवत्कुलगृहोत्कण्ठाधिकं ताम्यसि ? ।।"

अत्र च वासवदत्तायाः प्रवासाभ्युपगमाद् दुःखम्, वत्सराजस्य चाविदितविप्रवा-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सवृत्तान्तस्य सुखम् ।

एकस्य सुखस्य प्राप्तिर्यथा रत्नावल्याम्—

"कंचणमाले ! पइट्ठावेहि असोयमूले भयवंतं पज्जुन्नं । (इत्युपक्रमे)

राजा—कुसुमसुकुमारमूर्त्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।
आभासि मकरकेतोः, पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ।।

इत्यारभ्य वासवदत्ता राजानं पूजयति" इति यावत् ।

एकस्य दुःखस्य यथा अस्मदुपज्ञे निर्भयभीमनाम्नि व्यायोगे—

भीमः—

"अन्यायैकजुषः शठव्रतपुषो येऽस्माकमत्र द्विषः,
ते नन्दन्ति मदं वहन्ति महतीं गच्छन्ति च श्लाघ्यताम् ।
ये तु न्यायपराः परार्जवधरास्ते पश्यतामी वयं,
नीचैःकर्मकृतः पराभवमृतस्तप्ताश्च वर्तामहे ।।"

सुखस्य सुखहेतोश्च अन्वेषणरूपा प्राप्तिः । सन्निहितसुखात्मकं च एकपात्रगतसुखा[त्मकं च वि]धानमिति भेदः ।।

अथ परिभावना—

जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकानुबन्धो विस्मयः परि[भावना] । यथा नागानन्दे—"(मलयवतीं दृष्ट्वा) नायकः—

"स्वर्गस्त्री यदि तत् कृतार्थमभवच्चक्षुःसहस्रं हरेः,
नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः सति ।
जातिर्नः सकलाऽन्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ।।"

यथा वा रोहिणीमृगाङ्काभिधाने प्रकरणे प्रथमेऽङ्के—

"मृगाङ्कः—(सोत्कण्ठम्)

सा स्वर्गलोकललनाजनवर्णिका वा,
दिव्या पयोधिदुहितुः प्रतियातना वा ।
शिल्पश्रियामथ विधेः पदमन्तिमं वा,
विश्वत्रयीनयनसङ्घटनाफलं वा ।। इति ।

एतानि मुखसन्धेर्द्वादशाङ्गानीति ।।४५।।

अथ प्रतिमुखसन्ध्यंङ्गानु(न्यु)द्दिशति—

यथारुचीति वृत्तवैचित्र्यानुरोधेनात्र भवन्ति, न भवन्ति च । पुष्पादीनि पुनः पञ्चावश्यं प्रतिमुखसन्धौ भवन्त्येव । त्रयोदशाप्येतानि प्रतिमुख एव सुतरां निबन्धमर्हन्ति ; उद्देशक्रमश्च निबन्धेषु नापेक्षणीय इति ।। ४६-४७ ।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ विलासः—नृ-स्त्रियोः परस्परमीहा रत्यभिलाषः। यथा अभिज्ञानशाकुन्तले मुखसन्धावुपलब्धायां नायिकायां प्रतिमुखे तद्विषयो राज्ञो विलासः। तत्र हि "राजा आह—

कामं प्रिया न सुलभा, मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे, रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विप्रलभ्यते कुतः ?

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत् प्रेषयन्त्याऽनया,
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तत् सासूयमुक्ता सखी,
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो ! कामः(मी) स्वतां पश्यति॥"

इत्यादिना राज्ञो रतिसमीहा।

यथा वा नलविलासे तृतीयाङ्के—

"दमयन्ती—(राजानमवलोक्य स्वगतम्) कहमेस सयं भयवं पंचबाणो। अहवा वरायस्स अणंगस्स कुदो ईदिसो अंगसोहग्गप्पब्भारो ? ता कदत्थो दमयन्तीयाए अंगचंगिमा।" इति।

यथा वाऽस्मदुपज्ञे कौमुदीमित्राणन्दनाम्नि प्रकरणे तृतीयेऽङ्के—"मित्राणन्दः—प्रिये !

वि(व)क्त्रं शीतरुचिर्वचांसि च सुधा दृष्टिश्च कादम्बरी,
बिम्बोष्ठः पुनरेष कौस्तुभमणिर्मूर्तिश्च लक्ष्मीस्तव।
श्रद्धालुर्युगपद् विलोकितुमयं स्वापत्यजातं चिराद्,
एकस्थं विरचय्य कुन्दरदने ! त्वामर्णवः सूतवान्॥"

प्रतिमुखस्य चादावेवेदमङ्गं निबन्धनीयम्। य एव मुखे रस उपक्षिप्यते, तस्यैव स्थायी विभावानुभाव-व्यभिचारिभिः पोषणीयः। कामफले च रूपके मुखसन्धावुपक्रान्तः शृङ्गारः प्रतिमुखे विलासेन स एव विस्तार्यते। विलासप्रकाशकान्येव चेतराण्यङ्गानि निबन्धनीयानि। वीरादिरसप्रधानेष्वर्थफलेषु रूपेषु पुनरुत्साहादिमस्पद्विषया(यो) नृस्त्रियोरीहाव्यापारो विलासः। यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दर्शितो रत्यभिलाषरूपो विलासः, स नायकस्य तादृशेऽवसरेऽनुचितः। यदाह—

"सन्धि-सन्ध्यङ्गघटनं, रसबन्धव्यपेक्षया।
न तु केवलशास्त्रार्थ-स्थितिसम्पादनेच्छया॥" इति॥

अथ धूननम्—रम्यनुनये अनादरो मनागनादृतिः 'नञोऽल्पार्थत्वात्'। यथा पार्थविजये चित्रसेनेन संयते दुर्योधने सति "युधिष्ठिरः—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वत्स भीमसेन !

अयं स कालः शूराणां, खिन्नानां यत्र बन्धुषु ।
आपद्गतपरित्राणम्, अपूर्वोऽनुनयक्रमः ॥"

भीमसेनोऽपि दुर्योधनं प्रति युधिष्ठिरस्यानुनयमगृह्णन्नाह—
"कोऽयमनेकविधापकारकारिणः कौरवानुद्दिश्यार्यस्यार्द्रभावः !" इति ॥

केचिद् धूननमरतिमाहुः, तच्च रोधेनैव सङ्गृहीतमिति ॥

अथ रोधः—

अर्त्तिः खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः । यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

"राजा—(चन्द्रगुप्तमाह)

त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा, शतांशेनापि न क्षमा ।"

ध्रुवदेवी—(सूत्रधारीमाह)

हंजे ! इयं सा ईदिसी अज्जउत्तस्स करुणापराहीणदा ।

सूत्रधारी—देवि ! पडंति चंदमंडलाउ वि चुडुलीउ किं एत्थ करिम्ह ?

राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा, त्वदर्थे यशसा सह ।

परित्यक्ता मया देवी, जनोऽयं जन एव मे ॥

ध्रुवदेवी—अहं पि जीविदं परिच्चयंती पढमयरं य्येव तुमं परिचइस्सं ।"

अत्र स्त्रीवेशनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययात् ध्रुवदेव्या गुरुमन्युसन्तापरूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्तिः ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—देवि ! अवलम्बस्व मद्वचनम् । अत्रैव तिष्ठ । अशिक्षितपादचारा न शक्ष्यति भवती क्रमितुं दर्भाङ्कुरविधुरासु वनवसुन्धरासु ।

सुतारा—जं भोदि, तं भोदु । अहं गमिस्सं ।

राजा—(कुलपतिं प्रति) भगवन् !

त्यजन् हेम्नो लक्षं चतुरुदधिकाञ्चीं च वसुधां,
सुधाम्भोभिः स्नानादपि समधिकां प्रीतिमभजम् ।
सवत्सामेतां तु प्रवसनपरां वीक्ष्य दयिताम्,
इदानीं मन्येऽहं ज्वलदनललीढं वपुरदः ॥" इति ॥

अथ सान्त्वनम्—क्रुद्धस्यानुकूलनम् । यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

"मारीचः—नायमनुवृत्तिवचसामवसरः । परिस्फुटं विज्ञप्यते ।

दाराणां व्रतिनां च रक्षणविधौ वीरोऽनु योज्यानुजं,
वीराणां खर-दूषण-त्रिशिरसामेको वधं यो व्यधात् ।
तस्याखण्डिततेजसः कुलजने न्यत्कारमाविष्कृतः,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कुण्ठः सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्याच्चन्द्रहासोऽप्यसिः ॥

रावणः—आः प्रतिपक्षपक्षपातिन् ! क्षुद्र ! राक्षसापसद ! किं बहुना ?

तवैव रुधिराम्बुभिः क्षतकठोरकण्ठस्नुतैः,
रिपुस्तुतिभवो मम प्रशममेतु कोपानलः ।
सुरद्विपशिरःस्थलीदलनदष्टमुक्ताफलः,
स्वसुः परिभवोचितं पुनरसौ विधास्यत्यसिः ।:"

(इति खड्गमाकर्षति)

प्रहस्तः—(पादयोर्निपत्य) प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । नेदमनुरूपं स्वामिनः ।

देव !

लोकत्रयक्षयोद्धूत-प्रकोपाग्रेसरस्य ते ।
ईदृशश्चन्द्रहासस्य, भृत्येष्वनुचितः क्रमः ॥

(पुनः क्रमादाह) देव ! प्रसीद । प्रणयादतिक्रमोऽस्य, न वामतया ।"

इति मारीचं प्रति क्रुद्धस्य रावणस्य प्रहस्तविहितोऽयमनुनयः सान्त्वनम् । वज्रमप्यत्र प्रसङ्गात् प्रयुक्तम् 'कुण्ठः सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्याच्चन्द्रहासोऽप्यसि' इत्यस्य प्रत्यक्षनिष्ठुरत्वात् ॥

अथ वर्णसंहृतिः—

पृथक् स्थितानां पात्राणामोघः कार्यार्थं मीलनं वर्ण्यन्त इति वर्णा[: तेषां वर्णा]नां नायक-प्रतिनायक-नायिका-सहायादिपात्राणां संहृतिरेकत्र करणम् । यथा रत्नावल्याम् —

' राजा—सुसङ्गते ! क्वासौ क्वासौ (इत्यत आरभ्य)

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः, पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येषः, स्वेदच्छद्मामृतद्रवम् ॥" इति यावत् ।

अत्र राज-सागरिका-विदूषक-सुसङ्गतानामेकत्र मीलनम् ।

अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां यथासम्भवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वैकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते । यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

"परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्,
सह नृपतिभिरन्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः,
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥" इति ।

एके तु वर्णितार्थतिरस्कारं वर्णसंहारमामनन्ति । उदाहरन्ति च यथा वेणीसंहारे कञ्चुकिना रथकेतनपतने निवेदिते भानुमती—

"अंतरीयदु ताव एदं समत्थबंभणाणं वेयज्झणि-मंगलग्घोसेण ।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इति ॥ ४८ ॥

अथ नर्म—यथा रत्नावल्याम्—

"विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा ससम्भ्रमं राजानं हस्ते गृहीत्वा) भो वयस्स ! पलायम्ह । एदस्सिं लकुच(बउल)पायवे किं पि महाभूदं परिवसदि । यदि मे(मं) न पत्तियसि, ता अग्गदो भविय सयं य्येव आयन्नेहि ।

राजा—(आकर्ण्य) वयस्य ! सारिकेयम् ।" इति ।

तथा—

[विदूषकः—] भो ! मा पंडिच्चगव्वमुव्वहह । इदं देअह वक्खाणइस्सं जा एसा आलिहिदा, सा कण्णगा दंसणीया य ।

राजा—वयस्य ! यद्येवम्, अवहितैः श्रोतव्यमस्त्यवकाशो नः कुतूहलस्य ।"

तथा—

"सुसङ्गता—सहि ! जस्स कए तुवं आगदा, सो अयं पुरदो चिट्ठदि ।

सागरिका—(सासूयम्) सुसंगदे ! कस्स कए अहं आगदा ?

सुसङ्गता—अयि अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलहयस्स, ता गिण्ह एदं ।" इति ।

एता विदूषक-सुसङ्गतयो राज-सागरिका-क्रीडार्थं हासोक्तयः । अनेकशोऽप्येकमेवाङ्गं निबध्यत इति त्रिधोदाहृतम् ।

यथा वा नलविलासे—

"विदूषकः—(लम्बस्तनीं विलोक्य सभयकम्पम्) भो राय ! अहं एदाउ ट्ठाणा उट्ठिस्सं ।

राजा—किमिति ?

विदूषकः—जइ एसा थूलमहिसी कडिअडं नच्चावेंती ममोवरि पडेदि, ता ध्रुवं मं मारेदि ।"

तथा—

"राजा—लम्बस्तनि ! इदमासनमास्यताम् ।

विदूषकः—भोदी ! लंबत्थणीए दुव्वलं खु एदं आसणं, ता तुमए सानहाणाए उववसिदव्वं ।"

तथा—

"विदूषकः—भोदी ! किं अइदुब्बला सि ?

लम्बस्तनी—भग्गपरिस्समेण ।

विदूषकः—भो कलहंसा ! कित्तिएहिं गोणेहि मुदेहिं एसा इध संपत्ता ?

(कलहंसो विहस्याधोमुखस्तिष्ठति)" इति ॥

अथ नर्मद्युतिः—

दोषावृत्यै दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसनं हास्यहेतुर्वाक्यं सा तस्य नर्मणो द्योतनं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नर्मद्युतिः । यथा रत्नावल्याम् —

"विदूषकः—भो ! अज्ज वि एसा चउव्वेई विय बभणो रियाउ पढिउं पयत्ता ।

राजा—वयस्य ! किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितम्, तत् किमनयोक्तम् ?

विदूषकः—भो ! एदं एदाए पढिदं—

दुल्लहजणाणुराओ, लज्जा गरूई परव्वसो अप्पा ।
पियसहि ! विसमं पिम्मं, मरणं सरणं नवरमेक्कं ।।

राजा—भो महाब्राह्मण ! कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञाः ? ।" इति ।

अत्र मौर्ख्यदोषं छादयितुं यद् विदूषकेणोच्यते, तद् राज्ञो हास्यहेतुत्वान्नर्मद्युतिः ।

अन्ये तु नर्मजां धृतिं नर्मद्युतिमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

"सुसङ्गता—सहि ! अदक्खिन्ना दाणि स तुवं, जा एवं भट्टिणो हत्थावलंबिया वि कोवं न मुंचसि ।

सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद् विहस्य) सुसंगदे ! इयाणिं पि न विरमसि !" इति ।

एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्ग कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हतः, कैशिकीप्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वादिति ।।

अथ तापः—यथा पार्थविजये—

कञ्चुकी – भो भो लोकपालाः ! परित्रायध्वम् परित्रायध्वम्।

एषा बधूर्भरतराजकुलस्य साध्वी,
दुर्योधनस्य महिषी प्रियसङ्गरस्य ।
विस्मृत्य पाण्डु-धृतराष्ट्र-पितामहादीन्,
गन्धर्ववीरपशुभिः परिभूयते स्म ।।

युधिष्ठिरः—(श्रुत्वा दुर्योधनान्तः पुर(रे) महतीमपायशङ्कामाविष्कुर्वन्नाह-) अयि वत्स ! स्वगोत्रपरिभावविष्कारनिष्ठुरः शब्दः । अद्याप्यभ्रान्त एवासि । कः कोऽत्र ? चापं चापम् (इति चापारोपणमभिनयन् सम्भ्रमादुत्तिष्ठति)" इति ।

केचित् तु स्थानेऽस्यानुनयारत्योर्ग्रह-निग्रहरूपं शमनं पठन्ति । यथा पार्थविजये—

"भीमः—आः क एष मयि स्थिते भरतकुलं परिभवति ?, अतः परं न मर्षयामि ।" इति ।

अत्र 'अयि वत्स ! स्वगोत्र—' इत्यादिपूर्वदर्शितेन युधिष्ठिरसंरम्भेण भीमस्यानुनयग्रहणम् ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अरतिनिग्रहो यथा वेणीसंहारे—

"सखी—जइ एवं ता कहेहि, जेण म्हे पडिद्ठावयंतीउ पसंसाए देवदाणं संकित्तणेण दुव्वादिपरिग्गहेण पडिहणिस्सामो ।"

पुनः स्वावसरे—

"भानुमती—(आर्धपात्रं गृहीत्वा सूर्याभिमुखं स्थित्वा) भयवं ! अंवर-महा-सरेक्क-सहस्सवत्त ! दिंसावहू-मुखमंडण-कुंकुमविसेसय ! सयलभुवण-रयणप्पईव ! अज्ज इह सिविणयदंसणे जं किंचि अच्चाहिदं, तं भयवदो पणामेण सभादुणो अय्यउत्तस्स कुसलपरिणामं भोदु त्ति ।"

अत्र दुःस्वप्नदर्शनोद्भूताया अस्तेर्निग्रह इति ॥

अथ पुष्पम्—पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते तेनान्येन वा तत् पूर्वस्माद् विशेषवत्, तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम्; केशरचनायाः पुष्पमिव पूर्ववाक्यस्यालङ्कारकारित्वात् । यथा विलक्षदुर्योधने—

"भीमः—

एतत् ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,
सम्प्रत्येव तु गोग्रहे यदभवत् तत् तावदाकर्ण्यताम् ।
एकः पूर्वमुदायुधैः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं,
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनस्तावन्त एवार्जुनाः ॥"

अत्रोत्तरार्धं विशेषवद् वाक्यम् ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"वसुभूतिः—(सरोषं राजानं [प्र]ति)

न नाम स्युः स्वर्ण-क्षिति-सुत-कलत्राणि यतिनां,
तदस्मै यद् दत्तं तदिह निखिलं भस्मनि हुतम् ।
विहाय व्यामोहं विमृश विमृशाद्यापि नृपते !,
तपोव्याजच्छन्नं किमपि नियतं दैवतमिदम् ॥

कुलपतिः—(सोपहासम्) अरे मुखर ! सचिवापसद ! चिराद् यथार्थमभिहित-वानसि । दुस्तपतपः-करकलितस्वर्गापवर्गशर्मणो मर्त्यापदेशेन दैवतान्येव मुनयः ।"

अत्र वसुभूतिवाक्यादुत्तरवाक्यं समर्थकत्वेन विशेषवदिति ॥४६॥

अथ प्रगमनम्—प्रश्नप्रतिपन्थिनी वाक् प्रतिवाक् तस्याः श्रेणिः । अपकर्षतो द्वे प्रतिवचने, उत्कर्षतो बहून्यपि । यथा वेणीसंहारे—

"भानुमती—अय्यउत्त ! अदिमित्तं मे संका बाधदि, ता अणुमन्नेदु मं अज्जउत्तो ।"

"राजा—अयि देवि !.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं ?,
किं द्रोणेन किमङ्गराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यसि ।
भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखापाश्रिता,
त्वं दुर्योधनकेश(म)रीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव ? ।।
भानुमती—अय्यउत्त ! न हु मे किंचि संका तुम्हेसु सन्निहिदेसु ।" इति ।

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

"दमयन्ती—(भजमवलम्बिते राजनि क्रमादाह) जइ एवं मुंच मे पाणिं ।

राजा—कथमपराधकारी मुच्यते ?

दमयन्ती—किं एदिणा अवरद्धं ?

राजा—एतेन त्व(म)त्प्रतिकृतिमालिख्याहमियति विरहानले पातितः ।

दमयन्ती - (स्मित्वा) जइ एवं, ता अहं पि [ते] पाणिं गहिस्सं । तव पाणि लिहिदेण पडेण अहं पि एदावत्थसरीरा जादा ।" इति ।।

अथ वज्रम्—यन्निष्ठुरत्वात् प्रत्यक्षरूक्षवाक्यं यत्र पूर्वप्रयुक्तस्यान्यवाक्यस्या-नुष्ठानस्य वाप्रध्वंसकं तद् वज्रमिव वज्रम् । यथा वेणीसंहारे—

"अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य)रे रे राधागर्भभारभूत ! सूतापसद !
कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ।।"

तथा कृत्यारावणे द्वितीयेऽङ्के—

"रावणः—विदेहराजपुत्रि !
विक्रमेण मया लोकास्त्वया रूपेण निर्जिताः ।
सब्रह्मचारिणमतो, भजमानं भजस्व माम् ।।
सीता—हदास ! अप्पा दाव तए न निज्जिदो, का गणणा लोएसु ?"

अनेन प्रत्यक्षकर्कशेन वाक्येन रावणवचनं प्रध्वस्तम् ।

यथा [वा] रघुविलासे—

"रामः—(विराधवेषं रावणं प्रति सापेक्षम्)
युद्धश्राद्धभयं सकुट्टिमतटीशाणानिशाताश्रयो (? या),
देवीमप्यनलम्भविष्णव इमे त्रातुं पृषत्का यदि ।
मथ्नन्तः पृथुपुङ्खपत्ररवनैर्धम्मिल्लमाल्यश्रियं,
निर्भिद्युः कथमिद्धकीकशघनां पौलस्त्यकण्ठाटवीम् ? ।।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यथा वाऽत्रैव—

"वैनतेयः—(रामं प्रति) अजितेन्द्रियः खलु दुरात्मा रावणो न क्षाम्यति कलितसौभाग्यसराणां परदाराणाम्, तदियमार्या वैदेही क्वचिदपि गोपायितुमुचिता ।

लक्ष्मणः—अजितेन्द्रियः खलु दुरात्मा सूर्यहासो न क्षाम्यति पापीयसां पुंसाम् तदियमार्या वैदेही न क्वचिदपि गोपायितुमुचिता ।" इति ।

अनेन वैनतेयवचनं प्रध्वस्तमिति ।।

अथोपन्यासः—

कञ्चिदर्थं विधातुं योपपत्तिर्युक्तिः स उपन्यासः । यथा कृत्यारावणे—

"रावणः—सीते ! आरुह्यतां पुष्पकम् ।

सीता—हतास ! अवि मरिस्स, न पुण आरुहिस्सं ।

रावणः—आः ! किं बहुना ? यावत् करेण दृढपीडितमुष्टियन्त्रमुत्खाय चन्द्रकिरणद्युतिचन्द्रहासेन त्वत्पुरो बटुशिरःकमलोपहार आरभ्यते, समधिरोह शिवाय तावत् ।

सीता—वरं अत्तणो सरीरस्स अच्चाहिदं, न उण तवोधणाणं । इयं अधिरुहामि मंदभाइणी । हा अज्जउत्त ! (इति रूदती आरोहं नाटयति)" इति ।

यथा वा रघुविलासे—

"विरोधवेषो रावणः—(रामं प्रति) आगन्तवो यूयम, अहं पुनराकलितविपिनकुहरो वनेचरदेशीयः प्रभूतान्तरायं सम्परायं च रावणप्रमुखेभ्यो रक्षोभ्यः सम्भावयामि भवताम् । वधू-वागुरा-नियन्त्रितमनसश्च कुत एव योद्धुमलम्भविष्णवः । तदियमार्या वैदेही किमपि वनकुहरमलङ्कुरुताम् ।

इयमपहारार्थिना रावणेन सीतामेकाकिनीं कर्तुं युक्तिर्दर्शिता । इति ।।

अथानुसर्पणम्—पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्येतिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनुसर्पणम् । यथा पार्थविजये द्वितीयेऽङ्के द्रौपदी युधिष्ठिरमुद्दिश्याह—

"महाराय ! इमाहिं य्येव दिवस-परिवत्तण-गणणाहिं किणीभूद-परिभवुव्वेय-दुक्खस्स मे हिययस्स पम्हुट्ठो वि(चि)य अणज्जदुस्सासणेण अत्तणो केसग्गहावमाणवुत्तंतो ।"

अत्र प्रागनुभवाद् दृष्टं निष्प्रतीकार-कालहरणात् प्रस्मृतं नष्टमिति ब्रुवती पुनस्तमनुस्मरतीति ।।५०।।

एतानि प्रतिमुखसन्धेरङ्गानि त्रयोदशेति ।

अथ गर्भसन्धेरङ्गानि व्याख्यातुमुद्दिशति—गुणत इति गुणभावेन गुणमुपकारमपेक्ष्य वा । तेन फलोद्भेददर्शनार्थं सङ्ग्रहोऽवश्यं निबन्धनीयः । आक्षेपादीनि तु मुख्यानीति ।।५१-५२।।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ सङ्ग्रहः—साम-दाने भेद-दण्डयोरुपलक्षणम् । आदिशब्देन मायेन्द्रजालादिः सङ्ग्रहः । यथा रत्नावल्याम्—

"राज्ञा—वयस्क ! न खलु किञ्चित् त्वयि न सम्भाव्यते ।" इति साम ।

सङ्केतादिवार्तां श्रुत्वा कटकवितरणं तु दानम् । तथा रघुविलासे पञ्चमेऽङ्के क्रमात् पवनवेषो राक्षसः प्राह "प्रसीदतु देवः ।

रावणः—गृहाण प्रसादम् । (पुनः प्रतीहारं प्रति) वराहतुण्ड ! समादिश कुमारं कुम्भकर्णं यथा—पवनं किष्किन्धाराज्ये त्वरितभिषिञ्च ।"

एष दू(दौ)त्यार्थमागतवतो वालितनयस्य क्षोभार्थं कृतको हनूमत्पितुः सुग्रीवाद् भेदः प्रयुक्तः ।

यथा वाऽत्रैव चतुर्थे(ऽङ्के) —"रावणः—

यायावरेण किमनेन वनेचरेण ?, मां स्थावरं वरमुपास्स्व कुरङ्गकाक्षि ! ।
किं वा स्तुवे तव पुरश्चतुरस्थितीनां, वैदग्ध्यसौरभवती भवती प्रकाण्डम् ।।

सीता—को वि(वा) जाजावरो ?, को वि(वा) थावरु त्ति विवेगं लक्खणनारायपद्धई वावि(करि)स्सइ ।

रावणः—(सरोषं चन्द्रहासं परामृश्य)

प्रेमावनद्धहृदयः, सर्वं लङ्केश्वर. सुदति ! सोढा ।
सोढा न चन्द्रहासः, पुनरयमुल्लुण्ठवृत्तानाम् ।"

एष सीतामोक्षार्थं रावणेन दण्डः प्रयुक्तः । मायाप्रयोगश्चात्रैव कृतकलक्ष्मण-सुग्रीवानयन-रावण-सीताघटनादिको निबद्ध इति ।।

नानारूपाणामर्थानां संशयोऽनवधारणं रूपमिव रूपम् । अनियतो ह्याकारौ रूपमुच्यते । मुखसन्ध्यङ्गाद् युक्तेः कृत्यविचाररूपत्वेन नियताकाराया अस्य भेदः । यथा कृत्यारावणो रामो जटायुषमप्रत्यभिजानन्नाह—

"गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य निर्लूनपक्षः,
कृतरिपुरसुरेशैः शातितो वैनतेयः ।
अपरमिह मनो मे यः पितुः प्राणभूतः,
किमुत बत स एष व्यते(पे ? ती)तायुर्जटायु ।।" इति ।

अन्ये त्वधीयते—रूपं वितर्कवद् वाक्यम्' इति । यथा रत्नावल्यां राजा क्रमादाह—

"प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता,
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताऽप्यहो !,
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ।।

कथं चिरयति वसन्तकः ? किं न खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ?"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्यानुगुण्येनैव देवीशङ्कया वितर्काद् रूपमिति।

अन्ये तु 'चित्रार्थं रूपकं वचः' इति पठन्ति। यथा वेणीसंहारे सुन्दरकेण चित्रसङ्ग्रामवर्णनमिति ॥

अथानुमानम् —लिङ्गाद्धेतोर्नान्तरीयकस्य लिङ्गिनो निश्चयोऽनुमानम्। निश्चयरूपत्वादेव चोहरूपाया युक्तेर्भिद्यते। यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकामण्डपशिलातलानवलोक्य वत्सराजः—

"पादाक्रान्तानि पुष्पाणि, सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना, मां दृष्ट्वा सहसा गता।"

पूर्वार्द्धं लिङ्गम्, उत्तरार्धमनुमानम्।

यथा वा यादवाभ्युदये षष्ठे गर्भाङ्के रुक्मिणीमवलोक्य कृष्णः—

"अस्यां मृगीदृशि दृशोरमृतच्छटायां,
देव स्मरोऽपि नियतं विततामिलाषः।
एतत्समागममहोत्सवबद्धतृष्णम्,
आहन्ति मामपरथा विशिखैः कथं सः? ॥" इति ॥

अथ प्रार्थना—भावानां साध्यफलोचितानां रति-हर्षोत्सवादीनां याचनं प्रार्थना। यथा देवीचन्द्रगुप्ते चतुर्थेऽङ्के चन्द्रगुप्तः—

"प्रिये माधवसेने! त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय।
कण्ठे किन्नरकण्ठि! बाहुलतिका-पाशः समासज्यतां,
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम्।
पादौ त्वज्जघनस्थलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेखला,
पूर्वं त्वद्गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति ॥"

अत्र रते प्रार्थना।

तथा कृत्यारावणे चतुर्थेऽङ्के "सीताहरणभ्रातृदुःखाच्च दुःखितो विफलान्वेषणो लक्ष्मणः—

तदपि नामायमस्मद्वृत्तान्तस्य प्रतिक्षणमुपचीयमाननायकव्यसनभाजोऽभ्युदयावसानः संहारो नाटकस्येव भवेत्।"

अत्राभ्युदयात्मक उत्सवो लक्ष्मणेनार्थितः

केचिदभ्यर्थनामात्रं प्रार्थनामाहुः। यथा रघुविलासे—"कृतकहनूमत्पितृवेषो राक्षसः—(रावणं प्रति)

यद् भग्नं विपिनं धनुर्धरकलादक्षो यदक्षो हतः,
शिक्षां लङ्घयतः क्षपाचरपतेर्यन्मूर्ध्नि दत्तं पदम्।
यद् वेश्मानि परःशतानि शिशुना क्षुण्णानि कापेयतः,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तत् क्षन्तव्यमशेषमेष पुरतस्ते देव ! बद्धोऽञ्जलिः ।।" इति ।

केचित् तु प्राक्तनमिदं चाङ्गं न मन्यन्ते ।। ४३ ।।

अथोदाहृतिः—लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यः समुत्कर्षः समुत्कृष्टोऽर्थः, स उत्कर्षाहरणादुदाहृतिः । यथा रत्नावल्याम्—"राजा—अहो ! महदाश्चर्यम् !

मनः प्रकृत्यैव चलं, दुर्लक्षं च तथापि मे ।
कामेनेदं कथं विद्धं ?, समं सर्वैः शिलीमुखैः ।। "

अत्रेतरधन्विभ्यो मन्मथस्य युगपत् सर्वैः शरैः स्वभावचपल-दुर्लक्ष-मनोवेधेन समुत्कर्षः ।।

अथ क्रमः—भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भाव्यमानस्यार्थस्योह-प्रतिभाऽऽदिवशान्निर्णयो वस्थितरूपनिश्चयः क्रमः । बुद्धिस्तत्र क्रमते, न प्रतिहन्यत इत्यर्थः । यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

"चन्द्रगुप्तः—(ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह) इयमपि देवी तिष्ठति, यैषा
रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां,
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला ।
पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः,
लज्जा-कोप-विषाद-भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति ।।"

अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः ।

तथा रत्नावल्याम्—

"ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदिताऽस्मीति वदनं,
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं,
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरम् (रा) ।।"

अत्र राज्ञा भाव्यमानायाः सागरिकायाः स्वरूपावस्थानिर्णयः कृतः ।

अन्ये तु 'क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः' इत्याहुः । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य सागरिका-समागममभिलषतो विदूषकेणोपवने योजनम् ।

अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धि क्रममिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे—

"कृपः—राजन् दुर्योधन ! महान् खलु द्रोणपुत्रेण वोढुमध्यवसितः समरभारः । भवता च कृतपरिकरोऽप्यमुच्छेत्तुं लोकत्रयमपि समर्थः, किं पुनरेतद् युधिष्ठिरबलम् ?" इति ।

अथोद्वेगः—चौर-नृपारि-नायिकादिभ्यो भयमुद्वेगः । यथा अमात्यशङ्कुकविरचिते चित्रोत्पलावलम्बितके प्रकरणे पञ्चमेऽङ्के नेपथ्ये सचीत्कारम्—

"गिण्हेध ले ! गिण्हेध, वेढेध ले ! वेढेध । (सर्वे सभयमवलोकयन्ति)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्थविरः—हा । धिक् कष्टं दस्यवः सम्पतन्ति । किमत्र शरणं प्रपद्येमहि ?"

अत्र नायिका-सखी-स्थविरादीनां राजगृह-भङ्गेन विद्रुतानां दस्युभ्यो भयम् ।

तथा मृच्छकट्यां सार्थवाहचारुदत्तस्य चौर्याभिशापजं नृपाद् भयम् ।

तथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के नेपथ्ये कलकलानन्तरम्—

"भो भोः ! दुर्योधनानुजीविनः कौरवभटाः ! किमिदमस्मद्भयादयथायथं सञ्चरन्ति भवन्तः ?

धृतराष्ट्रः—(साशङ्कम्) सञ्जय ! ज्ञायतां किमेतदिति ।

सञ्जयः—(उत्थाय नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) तात महाराज ।

प्राप्तावेकरथारूढौ, पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।

सर्वे—(साशङ्कम्) कश्च कश्च ?

सञ्जयः—स कर्णारिः स च क्रूरो, वृककर्मा वृकोदरः ॥

गान्धारी—जाद ? किं संपदं अवलंवणं ?" इति ।

एतदरिभयम् ।

तथा रत्नावल्याम्—

"सागरिका—वरं दाणि अहं सयं य्येव अत्ताणयं उब्बंधेय उवम(र)दा । न उण जाणिदसंकेतवुत्तंताए देवीए सुसंगदा विय परिभूद म्हि । ता जाव इध असोए गदुअ जहासमीहिदं करिस्सं ।"

अत्र नायिकातो भयम् ।

अथ विद्रवः—भय-त्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्वसम्भावना, सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनयेति द्रवः । उपनतं भयमुद्वेगः, तत्सम्भावना तु विद्रवः । यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के शान्तिगृहस्थे रावणे नेपथ्ये—

"हा अज्जउत्त ! परित्तायाहि परित्तायाहि ।

प्रतीहारी—(श्रुत्वा ससम्भ्रममात्मगतम्) अम्मो ! भट्टिणी वि (च) अक्कंददि । (प्रकाशम्) भट्टा ! अंतेउरे महंतो कलयलो सुणीयदि ।

रावणः—ज्ञायतां किमेतद् ?" इति ।

अत्र रावणस्य शङ्का ।

ये त्वत्र शङ्कां त्रासरूपं ससम्भ्रममङ्गमाहुः, तद् विद्रवोद्वेगाभ्यां गतार्थमिति ।

अथाक्षेपः—प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेपः । यथा वेणीसंहारे "सूतः—

दत्त्वा द्रोणेन पार्थादभयमपि न संरक्षितः सिन्धुराजः,
क्रूरं दुःशासनेऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।
दुःसाधामप्यरीणां लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञां,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाहं मन्ये सकामं कुरुकुलविमुखं दैवमेतावताऽपि ॥"

अत्र पाण्डवानां राज्यप्राप्तिरूपकार्योपायस्यौन्मुख्याविष्करणं कृतम् ।

अथवा बीजस्य हृदयभूमिनिगूढत्वादभिप्रायस्य बहिष्कर्षणमाक्षेपः । यथा रत्नावल्यां वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां तदुक्तिषु—
"प्रिये सागरिके !

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ,
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि ! रभसा निःशङ्कमालिङ्ग्य माम्,
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ।"

इत्यादिषु राज्ञा स्वाभिप्राय-बहिष्प्रकाशनम् । केचिदेतदङ्गं न मन्यन्त इति ॥५४॥

अथाधिछलम्—परस्परवञ्चनप्रवृत्तयोर्यस्य बुद्धिसहायादिबलाधिक्येन यत्कर्मेतरमभिसन्धातुंसमर्थं, तत् कर्म छलविषये अधिक छलयोगादधिछलम् । यथा रत्नावल्याम्—

"किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा ?,
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ? ।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतः,
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥"

इति पाठानन्तरं राज्ञा वासवदत्ताया मुखोद्घाटने प्रत्यभिज्ञानम् । अत्र सागरिकावेषं धारयन्ती विदूषकबुद्धिदौर्बल्याद् वासवदत्ता राजानमभिसन्धत्ते ।

कपटस्यान्यथाभावमन्ये अधिछलमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

"राजा—एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किञ्चिद् विज्ञापयामि ।

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एषः,
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि ! मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे,
हर्तुं क्षमा यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥" इति ।

अत्र वासवदत्तां प्रति राज्ञो वञ्चनं विफलं जातम् ।

एके तु सोपालम्भं वाक्यमधिछलमिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के "धृतराष्ट्रमुद्दिश्य भीमसेनः—'अलमिदानीं मन्युना ।

क्रुष्टा केशेषु कृष्णा नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः,
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः ।
नातस्त्वां श्रावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नापि दर्पात्,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी भव त्वम् ॥ इति ॥

अथ मार्गः—परमार्थस्य वचनं सामान्येनोच्यमानं प्रकृतार्थेन यत् सम्बध्यते तन्मार्गः। यथा मुद्राराक्षसे—"राजा—(प्रविश्य स्वगतमाह)

राज्य हि नाम राजधर्मानुवृत्तिदुःखितस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम् । कुतः ?

परार्थानुष्ठाने जडयति नृपं स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त ! परवान्,
परायतः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ? ॥

अपि च दुराराधा लक्ष्मीरात्मवद्भी राजभिः । कुतः ?

तिक्तादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते,
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्सु च ।
शूरेभ्योऽभ्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरू रहो !,
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥" इति ।

यथा वा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के—"रावणः—(सविषादम्)

लङ्केश्वरे त्रिदशदर्पहरे विरागः,
रागस्तु काननचरे जनकात्मजायाः ।
सौन्दर्य-विक्रम-कला-विभवानपेक्षः,
प्रेम्णो विचारविमुखः खलु कोऽपि पन्थाः ॥"

एतत् तत्त्वार्थकथनं सामान्येनोक्तमपि प्रकृतेन सम्बध्यत इति ॥

अथासत्याहरणम्—यथा मालति(वि)काग्निमित्रे यज्ञोपवीतबद्धाङ्गुष्ठो विदूषकः—

(प्रविश्य ससम्भ्रममाह) परित्तायदु परित्तायदु भवं;

राजा—किमेतत् ?

विदषकः—भो ! सप्पेण म्हि दट्ठो ।

(सर्वे विदूषकं दृष्ट्वा विषण्णाः)

राजा कष्टं ! क्व भवान् परिभ्रान्तः ?

विदूषकः—देवं पेक्खिस्सं ति आचारपुप्फस्स कारणा पमदवणं गदु म्हि । तहिं च असोय-त्थवगस्स पसारिदे अग्गहत्थे कोडर-विणिग्गदेण सप्परूपेण कालेण म्हि लंभिदो। इमाणि दुवे दाढा-वणाणि ।"

अत्र राजप्रसादपरीक्षार्थं विदूषकेण केतकीकण्टकक्षतस्यासत्या सर्पदंशता प्रकाशितेति ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ तोटकम्—क्रोध-हर्षादि-सम्भूतावेग-गर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्। यथा रामाभ्युदये चतुर्थेऽङ्के—

"इन्द्रजित्—तात! किमिदमनुचितमारब्धं तातेन? यदयमकाण्ड एव कुम्भकर्णः प्रतिबोध्यते। किमत्र न कश्चित् क्षुद्रतापसोपमर्दाय सम्भावितस्तातेन?। अपि च—

रक्षोवीरा दृढोरःप्रतिफलनदलत्कालदण्डप्रचण्डाः,
दोर्दण्डाकाण्डकण्डूविषमनिकषणत्रासितक्ष्माधरेन्द्राः।
याताः कामं न नाम स्मृतिपथमपथप्रस्थितेन्द्रानुसारी,
स्वर्वासिक्लिष्टदृष्टः कथमहमपि ते विस्मृतो मेघनादः!॥"

एतत् क्रोधादावेगवचनम्।

यथा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के—

"रावणः— वक्त्राणि हे! हसत गायत तारतारं,
नेत्राणि! चुम्बत विहस्य च कर्णपालीः।
दोर्वल्लयः! कुरुत ताण्डवडम्बरं च,
श्रीरावणं ननु विदेहसुता रिरंसुः॥

इदं हर्षादावेगगर्भं वचः॥ ५५॥

एतानि गर्भसन्धेस्त्रयोदशाङ्गानि।

अथ आमर्शसन्धेरङ्गानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

द्रवादीनि नव प्रयोजनमपेक्ष्य गौणतया बध्यन्ते, शक्त्यादीनि चत्वारि पुनः प्राधान्येन।

अथ द्रवः—व्यतिक्रमो मार्गाच्चलनम्। यथा रत्नावल्यां सन्निहितं भर्तारमवगणय्य विदूषकस्य सागरिकायाश्च वासवदत्तया बन्धनमिति॥ ५७॥

अथ प्रसङ्गः—कीर्तिः संशब्दनम्। यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"युधिष्ठिरः—(मुखं प्रक्षाल्योपस्पृश्य च) एष तावज्जलाञ्जलिर्गाङ्गेयाय गुरवे प्रपितामहाय शान्तनवे। अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय। (सास्रम्) तातस्याधुनाऽवसरः। अयमपि तत्रभवते स्वर्गस्थिताय गुरवे सुगृहीतनाम्ने पित्रे देवाय पाण्डवे।" इत्यादि।

केचिद् अप्रस्तुतार्थवचनं प्रसङ्गमिच्छन्ति। यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"युधिष्ठिरः—(द्रौपदीं प्रति)

स कीचकनिषूदनो बक-हिडिम्ब-किर्मीरहा,
मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिरम्भाशनिः।
गदापरिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः,
प्रियस्तव ममानुजोऽर्जुनगुरुर्गतोऽस्तं किल!॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्र मायातपस्विना राक्षसेन व्यलीकभीमवधकथनात् युधिष्ठिरस्याप्रस्तुतः शोकः ॥

अथ सम्फेटः—परस्परं क्रोधजन्मोत्तर-प्रत्युत्तररूपः संलापः सम्फेटः। यथा वेणीसंहारे—

"भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना। मैवं विषादं कृथाः, पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाहमसहाय इति।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं, यं सुयोधं सुयोधन !।
दंशि(दर्शि)तस्यात्तशस्त्रं [स्य], तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥"

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारे दृष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः—

कर्ण-दुःशासन-वधात्, तुल्यावेव युवां मम।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धु्ं, त्वमेव प्रियसाहसः।"

इत्येतद् भीम-दुर्योधनयोरन्योन्यं रोषभाषणम्।

यथा वा यादवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

"बलभद्रः—(स्वगतम्) कथमुपहसति नारदः ? भवतु। (प्रकाशम्)

वृद्धोक्षस्य नृपस्य तस्य नियतं को नाम मल्लो युधि ?,
व्याधत्ते किल यस्य विक्रमचणः पक्षं मुनिर्नारदः।
कंसध्वंसकृतश्रमौ मधुरिपोर्बाहू तथाऽप्याहवे,
क्षामस्थामलवानुरूपमचिरादाधास्यतः किञ्चन ॥

नारदः—(सरोषमिव)

कंसांसभित्तिमदमर्दनकेलिचञ्चोः चक्रस्फुलिङ्गगणसङ्गपिशङ्गबाहुः।
सम्पूरयिष्यति हरेरपि गाढरूढ-सङ्ग्रामदोहदमसौ मगधाधिनाथः ॥" इति।

अथापवादः—

परीवादः स्व-पर-दोषोद्घट्टनम्। यथा पुष्पदूषितके पञ्चमेऽङ्के—

"ब्राह्मणः—मार्जिता हि ब्राह्मणस्य मुखमधुरः कालपाशः। तथाहि—

हतः पुत्रो हतो भ्राता; हतो मार्जितया पिता।
तथाप्येतां स्वगोत्रघ्नीं, निन्दामिव पिबामि च ॥" इति।

अत्र स्वदोषोद्घट्टनम्।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के "रावणं प्रति मारीचः—

खण्डय न्यायतेजोभिः, शूर ! कौलीनदुर्दिनम्।
अनीति-धूमरी हन्ति, यशश्चूताग्रमञ्जरीः ॥"

अत्र परदोषोद्घ[ट्ट]नमिति ॥

अथ छादनम्—मन्युरपमानो येन मार्ज्यते, तत् छादनम्। यथा रत्नावल्याम्—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"सागरिका—दिट्ठिया पज्जलिदो भयवं हु[या]सणो अज्ज करिस्सदि मे सयलदुक्खावसाणं ति ।"

अन्ये तु कार्यार्थमसह्यस्याप्यर्थस्य सहनं छादनमामनन्ति । यथा श्रीशुक्तिवासकुमारविरचितेऽनङ्गसेना-हरिनन्दिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के राजपुत्रचन्द्रकेतुना दत्तं कर्णालङ्कारयुगलं नायिकया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् । नायकेन हरिनन्दिना पुष्पलकनामानं ब्राह्मणं राजबन्धनान्मोचयितुं तन्मात्रेऽतिसृष्टम् । तत् प्रत्यभिज्ञाय च स ब्राह्मणः पौरेषु प्रकाशितचौर्यो राज[ा]ज्ञया वध्यस्थानं नेतुमारब्धः । तन्मात्रा चागत्य हरिनन्दिने निवेदितम् । हरिनन्दिना च ब्राह्मणरक्षार्थं चौर्यमात्मनोऽङ्गीकृत्यायशो विसोढमिति ।

अन्ये त्वस्य स्थाने छलनमवमाननरूपमाहुः । यथा रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनावमाननं छलनम् ।

अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—"युधिष्ठिरः—(अश्रूणि मुञ्चन् चार्वाकमाह)

सर्वथा कथय ब्रह्मन् !, सङ्क्षेपाद् विस्तरेण वा ।
वत्सस्य किमपि श्रोतुम्, एतद् दत्तसुरो मया ॥

राक्षसः—श्रूयताम् ।

तस्मिन् कौरव-पार्थयोर्गुरुगदाघोरध्वनौ संयुगे,

द्रौपदी—(लब्धसंज्ञा) अयि ! तदो किम् ?

राक्षसः—(आत्मगतम्) कथं पुनरप्यनया लब्धा संज्ञा ? अयमपहराम्यस्याः प्राणान् । (प्रकाशम्)

सीरी तत्क्षणमागतश्चिरमभूत् तस्याग्रतः सङ्गरः ।
कञ्चुकी-नूनं तत्कृतोऽत्र कश्चिदपचारो भविष्यति ।

राक्षसः—

आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना संज्ञा रहः सा कृता,
यामासाद्य कुरूत्तमः प्रतिकृतं दुःशासनारौ गतः ॥" इति ।

अत्र तापसेन व्यामोह[ः] कृतः ॥ ५८ ॥

अथ द्युतिः— यथा कृत्यारावणे "मन्दोदरीं प्रति अङ्गदः—

मा गास्तिष्ठ पुनर्व्रज क्षणमितो गत्वा पुनः स्थीयतां,
यत्रास्ते भुजवीर्यदर्पितमदो विद्रावणो रावणः ।
मद्बाहुद्वयपञ्जरान्तरगता मूढे ! किमाक्रन्दसि ?,
सिंहस्याङ्कमुपागतामिव मृगीं कस्त्वां परित्रास्यते ? ॥"

तर्जनोद्वेजने द्युतिं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु तर्जनाधर्षणे द्युतिं मन्यन्ते । तदेतन्मतद्वयमप्यर्थाभेदात् सङ्गृहीतम् । एवमन्यदपि साक्षात् पारम्पर्येण वा न्यक्कारपरं वाक्यं द्युतिरेव ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ खेदः— यथा विक्रमोर्वश्यां पुरूरवाः—

"अहो ! श्रान्तोऽस्मि । भवतु । अस्यास्तावद् गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातं सेविष्ये" इत्यादि । अत्र कायिकः ।

तथा रघुविलासे स तमेऽङ्के "रावणः—(सखेदम्)

हुं शक्रः स जितो जितो धृतधृतः कैलासशैलोऽप्यरे !
क्रान्तं क्रान्तमिदं जगत् प्रतिभवा(ट)[? ग्रस्ता]सिकैर्बाहुभिः ।
याऽऽरम्भं(?) प्रति बन्धुबन्धनकथा लङ्कापतेर्जीवतः,
कर्णेषु प्रथते किमेकमनया नीतं न विस्फूर्जित [म्] ! ॥"

अत्र मानसः ।

तथा कृत्यारावणे "लक्ष्मणः—

मार्गाः कण्टकिनः प्रतप्तसिकतापांशूत्करा लङ्घिताः,
क्रान्ताः शृङ्गवतां निकामपरुषाः स्थूलोपला भूमय ।
भ्रान्तं दृप्तमृगेन्द्रनादजनितत्रासैः समं दन्तिभिः,
पीतं च द्विपदानराजिकलुषव्यासङ्गतिक्तं पयः ॥"

अत्रोभयज ।

यद्यपि श्रमोद्वेग-वितर्कादयो व्यभिचारिमध्ये लक्षयिष्यन्ते, तथापि रसविशेष-पुष्ट्यर्थं सन्ध्यङ्गावसरेऽपि लक्ष्यन्त इति ॥

अथ विरोधः—प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिरत्ययो विरोध इव विरोधः । यथा कृत्यारावणे सप्तमेऽङ्के -

"कञ्चुकी— (लक्ष्मण-बिभी[ष]णौ प्रति) कुमार ! एतत्

उभौ—किम् ?

कञ्चुकी—आः ! इदम् ।

उभौ—आर्य ! कथय कथय ।

कञ्चुकी— का गतिः ! श्रूयताम् । आर्या खलु सीता रावणाज्ञया किङ्करोपनीतं भर्तुर्मायाशिरोऽवलोक्य सखीभिराश्वास्यमानाऽपि निवृत्तप्रयोजना 'नाहमात्मानं क्लेशयामि' इत्युक्त्वा,

सर्वे—किं कृतवती ?

कञ्चुकी—यन्न शक्यते वक्तुम् ।

शशिन इव कला दिनावसाने, कमलवनोदरमुत्सुकेव हंसी ।
पतिमरणरसेन राजपुत्री, स्फुरितरालशिखं विवेश वह्निम् ॥"

अत्र सीताप्रत्यानयनस्य प्रस्तुतस्य विरोधः ।

अन्ये तु खेद-विरोधौ न मन्यन्ते, विद्रव-विचलने तु पठन्ति । तत्र विद्रवो

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बन्ध-वधाध्यवसा[या]दिः । यथा छलितरामे—

"येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं,
बाल्याद् येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितां(स)स्थलः,
मूर्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥" इति ।

वधाध्यवसायस्तु मृच्छकटिकायां चारुदत्तविषयः ।

तथा रत्नावल्याम्—"पुनर्वासवदत्ता—अज्जउत्त ! णं खु अत्तणो कारणा भणामि एसा मए निग्घिण-हिअयाए संपदा सागरिया विवज्यादि ।" इति ।

अत्र सागरिकाया बन्ध-वधाग्निभिर्विद्रवः ।

तथा वेणीसंहारे—"युधिष्ठिरः—कः कोऽत्र ! सनिषङ्गं धनुरुपनीयताम् । कथं न कश्चित् परिजनः ! भवतु वा । बाहुयुद्धसम्भावनाविहस्तमेनं दुरात्मानं गाढमालिङ्ग्य ज्वलितं ज्वलनभिपतामि ।" इति ।

अत्र सम्भ्रमात्मको विद्रव इति ।

शौर्य-कुल-विद्या-रूप-सौभाग्यादि-सम्भवमात्मविकत्थनं तु विचलनम् । यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के—"तात् ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते,
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य,
प्रणमति चरणौ वां मध्यमः पाण्डवेयः ॥

अपि च । तात् !

चूर्णिताशेषकौरव्यः, क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्त्वा सुयोधनस्योरू, भीमोऽयं शिरसाऽर्चति ॥" इति ।

अत्र स्वगुणाविष्करणाद् विचलनमिति ॥

अथ संरम्भः—

संरब्धानामुत्तर-प्रत्युत्तरेणात्मशक्तिभाषणं संरम्भः । यथा वेणीसंहारे दुर्योधनं प्रति क्रमाद् "भीमः—अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि,
भ्रातुर्वक्षःस्थलविघटने यच्च साक्षी कृतोऽसि ।
आसीदेतत् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य,
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनी-कुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा—दुरात्मन् ! भरतकुलापसद ! पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं, बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थि-वेणीकाभीमभूषणम्।।" इत्यादीति।

असंरब्धस्यापि दृश्यते। यथा वेणीसंहारे—"युधिष्ठिरः—
नूनं तेनाद्य वीरेण, प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
बध्यतां केशपाशस्ते, स चास्याकर्षणक्षमः।। इति।

सम्फेटे क्रोधेन भाषणमात्रम्, संरम्भे तु बलकीर्तनमित्यनयोर्भेद इति ।।५६।।

अथ शक्तिः—

[क्रुद्धस्य] प्रसादनमनुकूलनं बुद्धि-विभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः। यदि वा क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः। यथा रत्नावल्याम्—"राजा—
सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्या भृशं,
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यासत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या यथा,
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम्।।" इति।

तथा कृत्यारावणो सप्तमाङ्कस्य पूर्वार्द्धे—कष्टं भोः! कष्टम्।
रामेण प्रलयेनेव, महासत्त्वेन लीलया।
पातितोऽयं दशशिराः, शृङ्गवानिव पर्वतः।।" इति।

अत्र विरोधिनो रावणस्य विनाशनमिति।

एके तु विरोधप्रशमनं शक्तिमामनन्ति। यथा—उत्तरचरिते—"लवः—
विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन—
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।
झगित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा,
महार्घस्तीर्थानामिह हि ममतां कोऽप्यतिशयः!।।" इति।

एतदप्यत्रैवान्तर्भूतम्, प्रसादने प्रसत्तेरपि भावात्। अस्ति चात्र लवस्य क्रुद्धस्य मनःप्रसत्तिरिति।

प्रकृताभिप्रायविरुद्धाचरणहेतुरभिप्रायो भावान्तरमङ्गमत्रान्ये मन्यन्ते। यथा तापसवत्सराजे षष्ठेऽङ्के यौगन्धरायणस्य वासवदत्तां मरणाध्यवसायान्निवर्तयितुं भावः। तद्विरुद्धा चिताविरचनक्रियाऽभिप्रायान्तरात् कृतेति भावान्तरम्। तत्र हि—"यौगन्धरायणः - भद्र विनीतक! रचय चिताम्।" इति।

अन्ये तु शक्तेः स्थाने आज्ञां पठन्ति। युक्तायुक्तमविचार्य क्रोधाद् यदाज्ञापनं साऽऽज्ञा। यथा कृत्यारावणे त्रिजटया दारुणिकाऽभिधाना राक्षसी पृष्टा—"दारुणिए! किं तुमं भणासि?

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दारुणिका—अय्ये तियडे ! अवि नाम अप्पडिहदा आणा मम सरीरे निवडिस्सइ, न उण ईदिसं अकज्जं करइस्सं।

त्रिजटा—तहा वि तुमं दारुणिअ त्ति वुच्चसि !"

(पुनः क्रमान्नेपथ्ये —)

"हा तियडे ! एसा दे पियसही सीदा भत्तुणो मायासिरदसणुप्पत्तीमरणनिच्छया अग्गिं पविसिउकामा ।

त्रिजटा—हा हदम्हि मंदभाइणी, मा दाणि दिव्वेण भत्तुणो आणा संवा(पा)-दीयदि।"

एतस्मादवसीयते सीताव्यापादनाय क्रोधाद् रावणेन दारुणिकाया आज्ञा दत्तेति।

सर्वसन्धिष्वपि मतान्तराणि वृद्धोक्तत्वाद् भणिति भेदाद् वैचित्र्यस्य रञ्जकत्वाच्च प्रमाणान्येव । अत एव सर्वसन्धिष्वप्यङ्गसङ्ख्याकरणमुदाहरणपरं द्रष्टव्यमिति ।

अथ प्ररोचना— निर्वहणसन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धिः सिद्धत्वेनोपक्रमणं प्रकर्षेण दीव्यतेऽनया रूपकार्थ इति प्ररोचना । यथा वेणीसंहारे—"पाञ्चालकः—'अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य, कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलश राज्याभिषेकाय ते,
क्रृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि,
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ? ।।"

अत्र युधिष्ठिरराज्याभिषेकस्य द्रौपदीकेशसंयमनस्य च भाविनोऽपि सिद्धत्वेन कल्पनम् ।

यथा वा राघवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

"सीताया वदनं विकाशमयतां रामस्य शोकानलः,
शान्तिं यातु सगीतयश्चलभुजैर्नृत्यन्तु शाखामृगाः ।
सन्धानाय बिभीषणः प्रयततां लङ्काधिपत्यश्रियः,
सौमित्रेर्दशकण्ठकण्ठविपिनं कालः कियांश्छिन्दतः ?" ।। इति ।

अन्ये तु सत्कारादेशनं प्ररोचनामाहुः । यथा वेणीसंहारे—"युधिष्ठिरः—(पुरुषमवलोक्य) भद्र ! उच्यतां सहदेवः क्रुद्धस्य वृकोदरस्यापर्युषितां दारुणां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्रनष्टस्य मानिनः कौरवनाथस्य पदवीमवेक्षितुमतिनिपुणमतयस्तेषु तेषु स्थानेषु परात्मवेदिनश्चारा मन्त्रिणः सचिवाश्च भक्तिमन्तः पटुपटहव्यक्तघोषणाः सुयोधनसञ्चारवेदिनः प्रतिश्रुत-धन-पूजा-प्रत्युप्रक्रियाः सञ्चरन्तु समन्तपञ्चकमिति । धनपूजा-प्रतिश्रवणप्रचोदिताः प्रत्युपकारे वर्तिष्यन्ते दुर्योधनप्रतिलम्भवार्तायै ।" इति ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्ये त्वस्य स्थाने युक्ति पठन्ति। युक्तिश्च सविच्छेदोक्तिः। यथा पुष्पदूषितके—"समुद्रदत्तः—

भर्ता तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं, पुत्ररतवैष कुत इत्यनुदारतैषा।
शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि हन्त !, व्यक्तं विरौमि यदि साऽभ्युपपत्स्यते माम्।" इति।

अथादानम्—मुख्यफलस्य दर्शनमादानम्। यथा नागानन्दे—"नायकमुद्दिश्य गरुडः—

नागानां रक्षिता भीति, गुरुरेष यथा मम।
तथा सर्पाशनकाङ्क्षा, व्यक्तमद्यापनेष्यति।" इति।

अत्र नाग-रक्षा-लक्षणस्य मुख्यफलस्य सामीप्यनिबन्ध इति॥

अथ व्यवसायः 'युगिति' योजनं युक्। अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः। यथा रत्नावल्याम—"ऐन्द्रजालिकप्रवेशादारभ्य 'एको उण खेडओ तए अवस्सं पेखि-(क्खि)दव्वो' इति यावत्। अत्र हि यौगन्धरायणेन यदङ्गीकृतं तन्निष्पादकहेतुसमागमः। अन्ये तु—'व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः' इति पठन्ति। यथा वेणीसंहारे—

"नूनं तेनाद्य वीरेण, प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
बध्यते केशपाशस्ते, स चास्याकर्षणक्षमः॥" इति।

एतच्च 'संरम्भः शक्तिकीर्तनम्' इत्यनेनैव सङ्गृहीतमिति।

केचिदन्यतमाङ्गानङ्गीकारेण द्वादशाङ्गमेवैतं सन्धिमिच्छन्ति, एवं गर्भसन्धिमपीति। एतान्यवमर्शसन्धेस्त्रयोदशाङ्गानि ॥६०॥

अथ निर्वहणसन्धेरङ्गानि लक्षयितुमुद्दिशति—

विशेषानुपादानात् सर्वाण्येवेतानि प्रधानानि॥

अथ सन्धिः—

मुखसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्योद्घाटौन्मुख्याद्यैर्विकारैः फले फलागमावस्थायामागमनं ढौ।नं सन्धिः। यथा रत्नावल्याम्—

'वसुभूतिः (अग्निविद्रुवानन्तरं सागरिकां निर्वर्ण्य) बाभ्रव्य! सुसदृशीयं राजपुत्र्याः।

बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव मनसि।" इति।

अत्र मुखे यदुक्तं बीजं, तन्निकटीभूतमिति। इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयम् ॥६२॥

अथ निरोधः—

नष्टस्य कार्यस्य युक्तये यदन्वेषणं, तन्निरुद्धवस्तुविषयत्वात् निरोधः। यथा चलितरामे "लक्ष्मणेन बद्ध्वाऽऽनीतो लवो यज्ञार्थं सीताप्रतिकृतिमुपकल्पितां रामसदसि दृष्ट्वा स्वगतमाह—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अये ! कथमियमम्बा राजद्वारमागता ? (उत्थाय सहसोपगत्याञ्जलिं बद्ध्वा) अम्ब ! अभिवादये (निरूप्य) कथमियं काञ्चनमयी ? (अपसृत्योपविशति, सर्वे परस्पर-मवलोकयन्ति)

रामः—(दृष्ट्वा) वत्स ! किमियं तव माता ?

लवः—राजन् ! ज्ञायते सैवेयमस्मज्जननी, किन्त्वेषा देवी भूषणोज्ज्वला।

(रामः सबाष्पं हस्ते गृहीत्वा समीपे उपवेशयति)

लक्ष्मणः—(सास्रम्) आयुष्मन् ! किंनामधेया सा देवानाम्प्रियस्य जननी ?

लवः—तां खलु मातामहोऽस्माकमभिधत्ते सीतेति।

लक्ष्मणः—(सबाष्पं रामस्य पादयोर्निपत्य) आर्य ! दिष्ट्या वर्धसे। सपुत्रा जीवत्यार्या।

अत्र नष्टस्य सीताजीवनकार्यस्य युक्त्या मीमांसेति ॥

अथ ग्रथनम्—

कार्यं मुख्यफलम्। ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति ग्रथनम्। यथा वेणीसंहारे—

"भीमसेनः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि।" इति।

अत्र द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्य व्यापारेण ग्रथनमिति ॥

अथ निर्णयः—

ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं त[त्] ज्ञेयार्थनिर्णयात् निर्णयः। यथा यादवाभ्युदये "समुद्रविजयं प्रति वासुदेवः—(सप्रमोदम्) देव ! मया कंसप्रतिभयेन कृष्णं गोकुले गोपयता यो महान् क्लेशोऽनुभूत-स्तस्य फलमिदानीमभूत्। किन्तु लोकपरिज्ञानभयेन यन्मया देवपादानामपि न विज्ञप्तं, तत्र देवेन क्षन्तव्यम्।"

अत्र वसुदेवेन स्वानुभूतं कृष्णगोपनक्लेशं समुद्रविजयो बोधितः।

यथा वा पुष्पदूषितके प्रकरणे—'किन्नामनक्षत्रोऽयं बालकः ?' इति समुद्रदत्तेन पृष्टः सेनापतिः—'विशाखानक्षत्रोऽयं बालकः' इत्याह।

समुद्रदत्तः श्रुत्वा पूर्वानुभूतं नन्दयन्तीसमागमं स्मरन्नाह—"तदा किल नन्दयन्त्या पृष्टेन मया कथितं यथा—

एतो तौ प्रतिदृश्येते, चारुचन्द्रसमप्रभौ।
ख्यातौ कल्याणनामानावुभौ तिष्य-पुनर्वसू ॥" इति।

तदाधानाद् दशमं जन्मनक्षत्रमिति ज्योतिःशास्त्रसमयविदो यद् ब्रुवते, तदुपपन्न-मेव इति ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ परिभाषा—

स्वापराधोद्घटनं परिभाषा। यथा तापसवत्सराजे "वासवदत्तां प्रति राजा—(सास्रम्) देवि ! किं ब्रवीषि ?

यथा तथा धृतप्राणं, निःस्नेहं निरपत्रपम्।
आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्ट्याऽप्यनुगृहाण माम्॥"

यथा वा नलविलासे "दमयन्तीं प्रति नलः—

न प्रेम निहितं चित्ते, न चाचारः सतां स्मृतः।
त्यजता त्वां वने देवि !, मया दारुणमाहितम्॥"

यथा वा राघवाभ्युदये "रामः—(स्वगतम्)

वैदेहीं हृतवांस्तदेष महतः सङ्ख्ये विषह्य क्लमान्,
चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः।
प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवांस्तेन त्रपापांसुरं,
वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्षः क्षमः॥"

एषु वत्सराज-नल रामभद्राणां स्वापराधोद्घट्टनमिति।

एतदङ्गं रञ्जकत्वादत्रावश्यं निबन्धनीयम्।

एके तु 'परिभाषा मिथो जल्पः।' इति पठन्ति। अत्रापीदमेवोदाहरणमिति ॥६३॥

अथोपास्तिः—

सेवा परप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः। यथा वेणीसंहारे—

"भीमः—(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि ! पञ्चालतनये ! दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण।"

अनेन भीमेन द्रौपद्याः प्रसादितत्वात् पर्युपास्तिः।

यथा वा रघुविलासे "रामः—(सविनयं सीतां प्रति)

प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवान् देवि ! प्रियप्राणितः,
तत् क्षन्तव्यमशेषमेष समयः स्मेराक्षि ! नैव क्रुधाम्।
सौमित्रेः कपिभर्तुरस्य च मनःप्रीत्यै तदेहि प्रिये !,
हस्तिस्कन्धमलङ्कुरुष्व ननु ते पूर्णः प्रतिज्ञाऽवधिः॥"

अत्र रामस्य सीताप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः।

अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनितां प्रसत्तिं प्रसादमङ्गं मन्यन्ते। यथा तापसवत्सराजे "गृहीतपञ्चालाधिपतिं रुमण्वन्तं यौगन्धरायणं च प्रति राजा साधु सचिवाग्रेसर ! साधु।

श्लाघ्या धीर्धिषणस्य रावणवशं यातः सुराणां पतिः,
सर्वं वेत्त्युशना रसातलमहाकालान्धकारे बलिः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इत्यस्माननपेक्ष्य वैरिविजयप्राप्तौजसोः के वयं ?

स्तोतारः स्वयमेव वेत्तु युवयोर्लोकस्तयोश्चान्तरम् ।।"

अत्र वत्सराजस्यामात्याभ्यां प्रियहिताचरणजनिता प्रसत्तिरिति ।।

अथ कृतिः—

लब्धस्य परिपालनं क्षेमः । यथा रत्नावल्याम्—

"वासवदत्ता—अय्यउत्त ! दूरे से णादिउलं । ता तधा करेसि, जधा बंधुअणं न सुमरेदि ।"

अनेन लब्धाया रत्नावल्याः स्थिरीकरणम् ।

अन्ये पुनरस्य स्थाने प्राप्तस्य प्रातिकूल्यशमनं द्युतिमाहुः । यथा मुद्राराक्षसे —

"चाणक्यः—अमात्य राक्ष ः ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः ?

चाणक्यः—अगृहीतशस्त्रेण भवता नानुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः ।

तद् यदि सत्वमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते, गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षसः—विष्णुगुप्त! मा मैवमयोग्या वयमस्य, विशेषतस्त्वया गृहीतस्य ग्रहणे ।

पुनर्बाहु प्रशस्य राक्षसं चाणक्य आह—किमनेन ? भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण न चन्दनदासस्य जीवितमस्ति ।

राक्षसः—नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय । का गतिरेष गृह्णामि ।"

एतत् लब्धस्य राक्षसस्य साचिव्यग्रहणवामताप्रशमनाद् द्युतिः ।

अपरे तु क्रोधादेः प्राप्तस्य शमनं द्युतिमामनन्ति । यथा वेणीसंहारे—

"भीमसेनः—राजपुत्रि ! अलं मामेवमवलोक्य त्रासेन ।

कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन,

स्त्यानान्येतानि तस्य स्पृश मम करयोः पीतशेषाण्यसृञ्जि ।

कान्ते ! राज्ञः कुरूणामतिसरसमिदं मद्गदाचूर्णितोरो-

रङ्गेऽङ्गेऽसृग् निषिक्तं तव परिभवजस्यानलस्यास्तु शान्त्यै ।।"

अत्र भीम-द्रौपद्याः क्रोधोपशमः ।

तथा रत्नावल्याम्—

"देव ! श्रूयताम् । इयं हि सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा । योऽस्याः पाणि ग्रहीष्यति, स सार्वभौमो राजा भविष्यति ।" इत्यादेरारभ्य "परिज्ञातायाः स्वभागिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।" इति यावत् ।

अनेन स्वाजन्यावगमात् वासवदत्तायाः सागरिकां प्रतीर्ष्या-कोपस्य शमनमिति ।।

अथानन्दः—प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्या आगमः प्राप्तिरानन्दहेतुत्वादानन्दः । यथा रत्नावल्याम्—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"वासवदत्ता—(राजानमुपेत्य) अज्जउत्त ! पडिच्छ एदं ।

राजा—(हस्तौ प्रसार्य) को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ?

विदूषकः—ही ही ! भो ! जयदु भवं । णं पुहवी इदाणिं हत्थे भूद य्येव पियवयस्सस्स ।" इति ।

अथ समयः—

दुःखनिर्गमयुक्तः कालः समयः । यथा मृच्छकटयां चारुदत्तं पालकस्य राज्ञ आज्ञया वध्यत्वेन चाण्डालगोचरगतं तत्क्षणप्राप्तराज्यस्यार्यकस्याज्ञया शार्वलिक आह—"अपयात अपयात जाल्माः ! (दृष्ट्वा सहर्षम्) ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया । सम्पूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो ! व्यसनमहार्णवादगाधाद्,
उत्तीर्णं गुणवृतया सुशीलवत्या ।
त्वामेव प्रियतमया युतं समीक्षे,
ज्योत्स्नाऽऽढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ।"

अत्र चारुदत्तस्य दुःखापगम इति ।।

अथ परिगूहनम्—

विस्मय-स्थायिभावात्मकस्याद्भुतरसस्य प्राप्तिरुपगूहनम् । यथा रामाभ्युदये रामेण प्रत्याख्याता सीता ज्वलनं प्रविष्टा । तदनन्तरं नेपथ्ये कलकलः—

"धूमव्रातं वितानीकृतमुपरि शिखादोर्भिरभ्रंलिहाग्रैः,
विभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामूरत्नं च ।
भूयस्तेजः प्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजः,
देव्याः सप्तार्चिराविर्भवति विफलयन् वाञ्छितान्यन्तकस्य ।।

ततः प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय वह्निः । सर्वे दृष्ट्वा ससम्भ्रममुत्थाय—'आश्चर्यमाश्चर्यं ! नमो भगवते हुताशनाय' इति प्रणमन्ति ।"

अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनाद् अद्भुतप्राप्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

"मध्येऽम्भोधि बभूव विंशतिभुजं रक्षो दशास्यं पुनः,
तत् पाताल-मही-त्रिविष्टप-भटांश्चक्राम दोर्विक्रमैः ।
मर्त्यस्तस्य पुनर्मृणालतुलया चिच्छेद कण्ठाटवीं,
वैराग्यस्य च विस्मयस्य च पदं रामायणं वर्तते ।"

पुष्पदूषितके तु निर्णयवर्जितानि सन्ध्यादीन्यङ्गानि परिगूहनान्तान्येव स्मिन्नेव श्लोके दृश्यन्ते । तथाहि—

"समुद्रदत्तः—स्वप्नोऽयम् ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सेनापतिः—न हि

समुद्रदत्तः—विभ्रमो न मनसः। सन्धिः १।

सेनापतिः—शान्तम्।

समुद्रदत्तः—तदेषा त्रपा। निरोधः २।

सेनापतिः—जाया ते ग्रथनम् ३।

समुद्रदत्तः—कथमङ्ग-बालतनया? परिभाषणम् ४।

सेनापतिः—पुत्रस्तवायम्।

समृद्रदत्तः—मृषा। द्युतिः ५।

सेनापतिः—आलम्बाय न एष वेत्ति नियतं सम्बन्धमेतद्गतम्। प्रसादः ६।

समुद्रदत्तः—केनैतद् घटिततं विसन्धि?। आनन्दः ७।

सेनापतिः—विधिना। समयः ८।

समुद्रदत्तः—(सुतरूपं दृष्ट्वा) सर्वं समायुज्यते।" परिगूहनमिति ९॥६४॥

अथ भाषणम्—

साम्नो वचनं, ददतश्च वचनम्। आभ्यामुपलक्षणपरत्वात् प्रियं हितं च गृह्यते। यथा मृच्छकट्याम्—"आर्यकराजाज्ञया शार्वलिकश्चारुदत्तमाह—

"त्वद्यानं समारुह्य, गतस्ते शरणं पुरा।
पशुवद् वितते यज्ञे, हतस्तेनाद्य प[ा]लकः॥

चारुदत्तः—शार्वलिक! किं योऽसौ राज्ञा पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बन्धने बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः?

शार्वलिकः—सत्यम्। सिंहासनाधिरोहे अनुष्ठितमात्रे च तेन तव सुहृदा राज्ञा आर्यकेणोज्जयिन्यां च वेन्नातटे तुभ्यं राज्यमतिसृष्टम्। तत् प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः। (पुनर्वसन्तसेनामाह—) आर्ये वसन्तसेने! राजा तवोपरि तुष्टो भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

वसन्तसेना—अज्ज सव्वलिय! कयत्थ म्हि।

(पुनश्चारुदत्तमाह—) आर्य! किमस्य भिक्षोः क्रियताम्?

चारुदत्तः—भिक्षो! किं तव बहु मतम्?

भिक्षुः—अणिच्चत्तणं पेक्खिय पव्वज्जा—बहुमाणे संवुत्ते।

चारुदत्तः—सखे! दृढोऽस्य निश्चयः, तत् पृथिव्यांसर्वविहारेषु कुलपतिः क्रियताम्।

शार्वलिकः—एवमेतत्।

चारुदत्तः—प्रियं नः।

वसन्तसेना—संपदं जीविद म्हि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शार्वलिकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारुदत्तः—सुभृत्योऽयमदासोऽस्तु ।

शार्वलिकः—एवं यथाऽऽहार्यः ।"

अत्र साम्ना दानेनान्यैश्च प्रियहितैरुक्तिः । अनयोः पृथगप्युक्तिर्निबध्यत एव । इदमप्यङ्गमवश्यं निबन्धनीयमेवेति ॥

अथ पूर्वभावः —

यथा रत्नावल्याम्—

यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।

वासवदत्ता—फुडं य्येव किन्न भणासि पडिवाहेदि (एहि) से रयणमालं ति ।"

अत्र 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये—

"युधिष्ठिरः - देव ! कृष्णोऽयं भरतार्धचक्रवर्ती नवमो वासुदेव इति मुनयः

समुद्रविजयः—जाने भरतार्धराजे कृष्णमभिषेक्तुं मामुत्साहयति महाराजः ।

युधिष्ठिरः—एतदेव देवस्य जरासन्धवधप्रयासफलम् ।" इति ।

अत्र युधिष्ठिराभिमतं कृष्णराज्याभिषेककार्यं समुद्रविजयेन दर्शितम् ।

मुखसन्ध्याद्युक्तवाक्यसदृशवाक्यदर्शनं पूर्ववाक्यमङ्गमस्य स्थाने केचिदामनन्ति । यथा मुद्राराक्षसे—

"चाणक्य—(पुरुषं प्रति) इदं च वक्तव्यो विजयो दुर्गपालः । अमात्यराक्षसदर्शनप्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति—'विना हस्तिभ्यः क्रियतां सर्वबन्धनमोक्षः' इति, अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्तिभिः प्रयोजनम् ?

विना वाहन-पोताभ्यां, मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
पूर्णप्रतिज्ञेन मया, केवलं बध्यते शिखा ॥"

अत्र मुखे यदुपक्षिप्तम्—'वध्यः को नेच्छति शिखां मे ?' इति तदेव भङ्ग्यऽन्तरेणोपन्यस्तमिति । उद्देशोक्तसंज्ञातः संज्ञान्तरेण यल्लक्षणविधानं सर्वत्र तत् छन्दोऽनुरोधादिति ॥

अथ काव्यसंहारः—ईप्सितं दातुमभिलाषो वरेच्छा, तज्जनितो 'भूयः किं ते प्रियमुपकरोमि ?' इति प्रश्नः इत्यर्थः । स च ग्रहीतर्यप्रतीच्छति प्रतीच्छति च सम्पादयितुर्भूयसीमिच्छां दर्शयितुं निबध्यते । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रस्तुतं काव्यमेव संह्रियत इति काव्यसंहारः ।

यथा कृत्यारावणे "सीतारक्षणे रामस्य प्रिये हिते च महति कर्मणि कृतेऽप्यसन्तुष्यन्नग्निराह—'वत्स ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमनुकरोमि ?" इति ।

रामः—भगवन्नतः परममपि प्रियमस्ति ?" इति ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यथा वा यादवाभ्युदये—

"युधिष्ठिरः—देव ! किमतः परं प्रार्थ्यते यदूनाम् ?

समुद्रविजयः (साश्चर्यम् किमतः परमपि प्रार्थनीयमस्ति ?

त्रातो घोषभुवां विधृत्य मधुजित्, कंसः क्षयं लम्भितः,
सम्प्रत्येव विनिर्मितं मगधभूभर्तुः कबन्धं वपुः ।
पादाक्रान्तमजायतार्द्धभरतं तद् ब्रूहि नः किं परं ?
श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुन[र]प्याशास्महे यद् वयम् ।"

अनयोरप्रतिगृहीते वरे काव्यसंहारः ।

तथा इन्दुलेखायां नाटिकायां "राज्ञी नायिकामिन्दुलेखामाह—"ईदिसीए तुह इमाए कुलाणुसरिसीए सीलसंपत्तीए संमुहीकदस्स मे हिदयस्स उववन्नो य्येव समुचिदाए पडिवत्तीए अयं अवसरो, ता मम य्येव पियं करिंती वरेसु जं ते समीहिदं ।

नायिका—ईदिसस्स देवीपसायस्स न दाव अधियं सरिसं किं पि भविस्सदि, जं वरइस्सं । तधा वि को देवीए पसादाणं पज्जत्तकामो ? ता पियदंसणं मे पसादीकरेदु देवी ।

राज्ञी—बाढं पडिवादिदा ।

नायिका—महंतो पसादो । (स्वगतम्) संपदं पमज्जिए भुजिस्सभावं पियदंसणाए इच्छा-गुरूव-नेहस्स अणुसरिसं ववहरिस्सं ।

अत्र वरस्य प्रतिग्रह इति ।

इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयं प्रशस्तिनान्तरी[य]कत्वादिति ॥

अथ प्रशस्तिः—

जगतः कल्याणाशंसिता प्रशस्तिः । तच्च नायकस्तदन्यो वा पठति । यथा कृत्यारावणे "रामः—तथापीदमस्तु—

यथाऽयं मम सम्पूर्णः, चिन्तितार्थो मनोरथः ।
एवमभ्यागतो रङ्गः, सर्वपापैः प्रमुच्यताम् ॥

अपि च—

निरीतयः प्रजाः सन्तु, सन्तः सन्तु चिरायुषः ।
प्रथन्तां कवयः काव्यैः, सम्यग् नन्दन्तु मातरः ॥"

यथा वा यादवाभ्युदये "युधिष्टिरः—तथापि किमपि ब्रूमो वयम्—

कल्याणं भूर्भुवः स्व[:]प्रसरतु, विपदः प्रक्षयं यान्तु सर्वाः,
सन्तः श्लाघां भजन्तामपचयमयतां दुर्मतिर्दुर्जनानाम् ।
धर्मः पुष्णातु वृद्धिं सकलयदुमनःकैरवारामचन्द्रः,
प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मुदमथ वहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इयं चावश्यं निबन्धनीया। तथेतिवृत्तान्तर्भूता चेयम्, तेनास्याः पृथग्गणने चतुःषष्टिरप्यङ्गसङ्ख्या भवति। सन्धि-निरोध-ग्रथन-पूर्वभाव-काव्यसंहार-प्रशस्तिभ्योऽन्याङ्गानां शेषसन्धिष्वपि कार्यवशतो निबन्धः। अत्रापि च स्वेच्छया नियोगः। एतानि निर्वहणसन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि। सर्वसन्धीनां चाङ्गानीतिवृत्ताविच्छेदार्दमुपादीयन्ते इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः विच्छेदे हि स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् कुतस्यो रसास्वादः? ततो रसविधानैकतानचेतः कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदङ्गमुज्जृम्भते, तदेवोपनिबद्धं सहृदयानां हृदयमानन्दयति। अङ्गानि च स्थायि-विभावानुभाव-व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि। अमीषां च स्वसन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्धः। योग्यतां च रसनिवेशैकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुनः शब्दार्थग्रथनवैचित्र्यमात्रोन्मदष्णवो मुक्तकवयः। तेनैकमप्यङ्गं रसपोषकत्वादेकस्मिन्नपि सन्धौ द्विस्त्रिर्वा निबध्यते। यथा वेणीसंहारे सम्फेट-विद्रवो पुनः पुनर्दर्शितौ वीर-रौद्ररसावुद्दीपयतः। रत्नावल्यां च विलासः पुनः पुनरुक्तः शृङ्गारमुल्लासयति। अतः परमपि निबन्धस्तु वैरस्यमावहतीति। तथाऽङ्गद्वयेन साध्यं यदेकेनैव सिध्यति, तदेकमेव निबध्यते। यथा श्रीभीमदेवसूनोर्वसुनागस्य कृतौ प्रतिमाऽनिरुद्धे परिकारार्थस्योपक्षेपेणैव गतत्वान्न तन्निबाधः। एवमङ्गत्रयेणापि। यथा भेज्जलविरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाङ्के परिकर-परिन्यासयोरुपक्षेपेणैव गतत्वान्न तन्निबन्धः। एवं परस्परान्तर्भावे चतुरङ्गोऽपि क्वापि सन्धिर्भवति।

अत्रान्तरे च केचिदेकविंशति सन्ध्यन्तराणि स्मरन्ति—

"साम भेदस्तथा दण्डो, दानं च वध एव च।
प्रत्युत्पन्नमतित्वं च, गोत्रस्खलितमेव च॥
साहसं च भयं चैव भीर्माया क्रोध एव च।
ओजः संवरणं भ्रान्तिः, तथा हेत्ववधारणम्॥
दूतो लेखस्तथा स्वप्नाः, चित्रं मद इति स्मृतः।" इति।

एषु च केषांचित् सामादीनां स्वयमङ्गरूपत्वात्, केषांचिन्मत्यादीनां व्यभिचारिरूपत्वात्, दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपत्वाद्, अन्येषामुपक्षेपाद्यन्तर्भावाच्च न पृथक् लक्षणप्रयासः। तथाहि गर्भसन्धौ साम-दानादिरूपसङ्ग्रहोऽङ्गम्। मत्यादयो व्यभिचारिषु लक्षयिष्यन्ते। दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपता दृश्यते। तथा उदात्तराघवे हेत्ववधारणात्मा उपक्षेपः। प्रतिमाऽनिरुद्धे स्वप्नरूपः। रामाभ्युदये भयात्मा। वेणीसंहारे क्रोधात्मा। एवमन्येष्वप्यङ्गेष्वन्तर्भावः कीर्तनीय इति॥६५॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ नाटकनिर्णयः प्रथमो विवेकः॥१॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

[२]

अथ प्रकरणाद्यकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेकः ।

अथ 'नाटकं प्रकरणं च' इत्यतो नाटकं लक्षयित्वा, प्रकरणं लक्ष्यते—

प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा व्यस्त-समस्ततयाऽत्रेति प्रकरणं प्रसिद्धत्वात् लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयते। वणिजः क्रय-विक्रयकृतः। विप्राः षट्कर्माणः। सचिवो राज्यचिन्तकः। अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यगात्यपि धीरोदात्त-धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवतः (इति प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः।) यस्त्वमात्यं नेतारमभ्युपगम्य धीर-प्रशान्तनायकमिति प्रकरणं विशेषयति, स वृद्धसम्प्रदाय-वन्ध्यः। यदाहुः—'सेनापति-रमात्यश्च, धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ' इति। असङ्करादिति व्यक्तिभेदेन वणिगादयो नेतारः, न पुनरेकस्यामेव प्रकरणव्यक्तौ समवकारादिवत् त्रयोऽपि। मन्दगोत्रा मन्द-कुलाऽङ्गना नायिका यत्र। यद्वा मन्दा मन्दवृत्ता गोत्राङ्गना यत्र। अत एवात्र नायिकौ-चित्येन नायकोऽपि मन्दगोत्र एव। एवं च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्र-दत्तस्य नन्दयन्त्यां या व्यलीकशङ्कोपनिबद्धा, सा न दोषाय। परपुरुषसम्भावनाया निर्वहणं यावदत्रोपयोगित्वात्। अपरथोत्तमप्रकृतीनां श्वशुरेण वध्वा (:) पुत्रे दूरस्थिते निर्वासनं, निर्वासितायाश्च शबरसेनापतिगृहेऽवस्थानमनुचितमेव। उत्तमप्रकृतीनां राज्ञां तु कुलस्त्रियां व्यलीकसम्भावना दुर्योधनस्येव भानुमत्यामनुचितैव। वणिगमात्य-विप्राश्च स्ववर्गापेक्षयैवोत्तमाः, न राजापेक्षया। एतदर्थमेव च मन्दशब्देन गोत्रं विशेषितम्। प्रकरणे हि नायको व्युत्पाद्यश्च मध्यमप्रकृतिरेव। दिव्यानाश्रितम्' इति दिव्यैरना-श्रितम्। नाटके ह्यङ्गत्वेन दिव्यो भवति, प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नेष्टः। तस्य सुखबा-हुल्येनाल्पदुःखत्वाद्, अपरथा दिव्यत्वमेव हीयते। मध्यं सर्वोत्तम-हीनप्रकृत्ययोग्यं चेष्टितं विहार-व्याहार-वेष-सम्भोगादिको व्यापारो यत्र। तेन कल्पितवृत्तत्वेऽप्यस्य न राजो-चितोऽन्तःपुरादिसम्भोगः, कञ्चुकिप्रभृतिभृत्यवर्गो वा, न चाधमपात्रसम्भोगादिर्वा निबन्धनीयः। तथा च वेश्यायां नायिकायां विनयरहितमपि चेष्टितं निबध्यते। यथा विशाखदेवकृते देवीचन्द्रगुप्ते माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्तिः—

"आनन्दाश्रुजलं सितोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः,
प्रत्येङ्गेषु वरानने ! पुलकिषु स्वेदं समातन्वता।
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ,
केनाप्यस्पृशताऽप्यधोनिवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासितः।।" इति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्युत्पाद्योऽपि च प्रकरणे मध्यमप्रकृतिरेव, नेतृचरितस्यापि तथाभूतत्वादिति। 'दास श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्' इति। दासो जीवितावधि वेतनक्रीतो, बाल्यात् प्रभृति पोषितो वा। श्रेष्ठी वणिक्प्रधानम्। विटो धूर्तः। तत्र कञ्चुकिस्थाने दासः। अमात्यस्थाने श्रेष्ठी। विदूषकस्थाने विटः। उपलक्षणं चैतत्, तेनापरमपि चाटुकार-सहायादिकं वणिगाद्यौचित्येन निबन्धनीयम्। 'क्लेशाढ्यम्' इति दुःखदीप्तम्, अपाय-शतान्तरितफलत्वादिति एताव(ल्ल)क्षणम्। तच्चेति उक्तलक्षणं प्रकरणं सप्तभेदम्। इनो नायकः। फलं मुख्यसाध्यम्। वस्तुफलसाधका उपायाः। एतेषामेक-द्वि-त्रिविधानेन सप्तभेदं प्रकरणम्। तत्र नेतुः प्रकल्पन तदितरयोश्चाकल्पने एको भङ्गः। एवं फल-वस्तुनोरपि। एवमककल्पाविधाने त्रयो भङ्गाः। तथा नायक-फलयोर्नायकवस्तुनोः फल वस्तुनोर्वा कल्पने शेषस्यैकस्य चाकल्पने त्रयो द्विकभङ्गकाः। नायक-फल-वस्तूनां त्रयाणां समुदितानामपि कल्पने एको भङ्गः। एवं सर्वमीलनेन सप्तधा प्रकरणमिति ॥ १-२ ॥

अथ नायिकायोगद्वारेण भेदसंख्यानमप्याह—गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीनां निबन्धनीया, यथा पुष्पदूषितके। विपर्यये तु गार्हस्थ्यधर्मोचितपुरुषार्थवर्णने वेश्यैव नायिकात्वेन निबन्धनीया, यथा तरङ्गदत्ते। उभययोगस्य विट एव विधानादनयोरप्यवधारणम्। विटे गीत-नृत्य-वाद्य विचक्षणे द्यूत-पान-वेश्याऽऽदिषु प्रसक्ते कलाकुशले मूलदेवादौ पत्यौ नायकत्वेन विवक्षिते। कुलस्त्री चेति द्वयं तदुचितगार्हस्थ्यपुरुषार्थापेक्षया निबन्धनीयम्। अस्य तु विटत्वादेव पण्यस्त्री प्रधानम्। कुलस्त्री तु पितृ-पितामहाद्यनुरोधाद् गुणः (गौणम्)। विटस्य पतित्वानुवादाद् वणिगाद्यनन्तर्भूतोऽपि प्रकरणे विटो नेता लभ्यते। वेश्या कुलजाभ्यां सङ्कीर्णत्वादयं भेदोऽशुद्धः। पूर्वौ तु शुद्धौ स्त्रीसङ्कराभावात्। शुद्ध-भेदयोरपि विटः ससहाय एकः। सङ्कीर्णे तु बहवः। केचित् तु वणिग्नेतृकमपि धूर्तसङ्कुलत्वान्मृच्छकटिकाऽऽदिकं सङ्कीर्णं मन्यन्ते। एषु च भेदेषु नायकवृत्तानुरूप एव व्युत्पाद्यः। अत्र हि वणिगमात्य-विप्राद्युचिता त्रिवर्गप्राप्तिस्तदर्जने स्थैर्य-धैर्यादि, व्यापदि मूढता, कुलस्त्रीवृत्तं, वेश्यासुसम्भोगचातुर्यं, विट-दूतयोः स्वरूप, नायिकाया रागापरागलिङ्गानि, हृदयग्रहणप्रयोगश्च नायकयोरपरागकारणानि चतुरोत्तम-मध्यम-प्रकृतेर्नायकस्योत्तम-मध्यमाधम-प्रकृतेर्नायिकायाश्च स्वरूपं सामाद्युपायप्रयोगश्च व्युत्पाद्यानामुपदिश्यते। 'तस्मादिति' यतः शुद्धसङ्कीर्णभेदत्रयरूपं सप्तभेदं प्रकरणम्, तस्मादेकविंशतिधाऽप्यद एतत् प्रकरणम्। चतुर्दश शुद्धाः, सप्त सङ्कीर्णाः प्रकरणभेदाः। नायिकायाः कल्पिताकल्पितत्वेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति, परमदृष्टत्वादुपेक्षिताः ॥ ३ ॥

अथाकल्प्य स्वरूपं निरूपयति—अत्र प्रकरणेऽकल्पमनुत्पाद्यं यत् तत् पूर्वकवि-कृतकाव्यादौ क्लृप्तं सत् समुद्रदत्ततच्चेष्टितादिवद् ग्राह्यम्। अथवा यदत्राकल्प्यं तत् पूर्वर्षिप्रणीतशास्त्रव्यतिरिक्तबृहत्कथाऽऽद्युपनिबद्धं मूलदेवतच्चरितादिवदुपादेयम्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

'असद्गुणम्' इति । यदत्राकल्प्यं पूर्वकविकल्पितं बृहत्कथाऽऽद्यु पनिबद्धं वा चरितमपि तदसद्गुणम् । पूर्वकविकाव्ये बृहत्कथाऽऽदौ चासन्तो गुणा रसपुष्टिहेतवो भणितिविशेषादयो यत्र । यदप्यत्र प्राक्तनं निबध्यते, तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेय इत्यर्थः । अत एवार्षस्य वर्जनम् । तत्र ह्यभूतगुणावापे श्राद्धलोकस्य जुगुप्सा स्यादिति ॥

अपवादभूतं कृत्यमुक्त्वोत्सर्गमतिदिशति—उक्ताद् वणिग्-विप्र-सचिव-स्वाम्यादिकाल्लक्षणाच्छेषमपरमभिनेयप्रबन्धोचितं फलाङ्कोपाय-दशा-सन्धि-सन्ध्यङ्ग-प्रवेश-विष्कम्भकाङ्कावताराङ्कमुख-चूलिका-वृत्तिभेद-रसादिकं यथा नाटके लक्षितं, तथाऽत्रापि सर्वमौचित्यानतिक्रमेणायोज्यम् । वृत्तिचतुष्टयस्यातिदेशेऽपि कैशिकीबाहुल्यं न निबन्धनीयम् । क्लेशप्राचुर्येण श्रृङ्गार-हास्ययोरल्पत्वात् । यथा मृच्छकटीपुष्पदूषितक-तरङ्गदत्तादिषु । यत्पुनर्भवभूतिना मालतीमाधवे कैशिकीबाहुल्यमुपनिबद्धम्, तन्न वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धीति । तदयं सङ्क्षेपो यस्य पूर्वप्रसिद्ध एवार्थे कुतूहलमसौ मुनिप्रणीतशास्त्रप्रसिद्धचरितेन नाटकेन राजादिरुत्तमप्रकृतिह्यु त्पाद्यते, यस्य पुनरुत्पाद्येऽर्थे कुतूहलमसौ वणिगादिरमध्यमप्रकृतिः प्रकरणेन । दुर्मेधसां हि न्याय्ये वर्त्मनि वृत्त्यर्थं कवयोऽभिनेयप्रबन्धान् ग्रथ्नन्तीति ॥ ४ ॥

अथ प्रकरणानन्तरोद्दिष्टां नाटिकां लक्षयितुमाह—'चतुरङ्केति' अवस्थात्रयसमाप्तिपरिच्छिन्नास्त्रयोऽङ्काः कस्याश्चिदवस्थायाः प्रभूतरसेऽवस्थान्तरे समावेशेन युगपदवस्थाद्वयसमाप्त्याऽङ्कविच्छेदे चत्वारोऽङ्काः । अल्पं हि वृत्तं नाटिकायामतो वृत्तसङ्क्षेपार्थमवस्थायाः समावेशः । बहुस्त्रीकता च कैशिकीमुख्यत्वेन शृङ्गाररसबाहुल्यात् । अत एव ललिताभिनयात्मिकाः स्त्रियश्च देवी-दूती-सखी-चेटी-कन्यकाऽऽदय. । नृपः कैशिकीप्रधानत्वा [द्] धीरललितो राजा ईशो नेता यस्याम् । अत एवात्र प्रकरणोद्भवत्वेऽपि सर्वो राजोचितो व्यवहारः, नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहारस्य । 'स्त्री-मही-फला' इति स्त्रीलाभपुरःसर-राज्यप्राप्तिफला । 'कल्प्यार्था' इति कर्म-करण-व्युत्पत्तिभ्यामर्थ(:) फलमुपायाश्च । तेन द्वावप्यत्रोत्पाद्यौ । कैशिकी वक्ष्यमाणलक्षणा सा मुख्या प्रधानं यस्याम्, मुख्यत्वं च शेषवृत्त्यपेक्षया बाहुल्यम् । तत एव गीत-नृत्त-वाद्य-हास्यादीनां शृङ्गाराङ्गानां प्राचुर्यम् । पूर्वरूपद्वयं नाटकं प्रकरणं च तस्मादुत्थितमुत्थानं यस्याम् । कैशिकीप्राधान्याच्च यत् स्त्रीप्रायं कामफलं नाटकं प्रकरणं च किञ्चत् तदिह ग्राह्यम्, अन्येषामनुरूपत्वाभावात् । एतद्द्वयोत्थितत्वेन चावस्था-सन्धि-सन्ध्यङ्ग-बीज-बिन्दु-पताका प्रकरी-पताकास्थानकाङ्कप्रवेशक-विष्कम्भकेतिवृत्तभेदादीन्युभयभेदसाधारणानि लभ्यन्ते । तत्र 'नृपेशा' इति नाटकधर्मस्तत एव नायकोऽकल्पितः । 'कल्प्यार्था' इति प्रकरणधर्मः । एतावल्लक्षणम् ॥ ५ ॥ 'अख्याति-ख्यातितिः' इति इह नाटिकायां नायिकाया द्वयं कन्या देवी च युगपत् । अपरिणीता कन्या । अन्तःपुरसङ्गीतकभेदभिन्ना परिणीता तु

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवी। तयोः प्रत्येकं प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां चतुर्भेदत्वान्नाटिकाऽपि चतुर्विधा। तत्र देव्यप्रसिद्धा, कन्या प्रसिद्धेत्येकः। देव्यप्रसिद्धा, कन्याऽप्य प्रसिद्धेति द्वितीयः। देवी प्रसिद्धा, कन्या त्वप्रसिद्धेति तृतीयः। देवी प्रसिद्धा, कन्याऽपिप्रसिद्धेति चतुर्थः। उभयोः प्रसिद्धत्वेऽपि च कल्पितार्थत्वं नाटिकायाः, अन्यथा संविधानकरचनात्। नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्यमनांसीत्यचि गौरादेराकृतिगणत्वाच्च ङ्यां नाटी। अल्पवृत्तत्वादल्पार्थे कपि नाटिकेत्यपीति। स्त्रीप्रधानत्वात् सुकुमारातिश(भिन)यत्वाच्च स्त्रीलिङ्गसंज्ञा-निर्देशः। एवं प्रकरण्यामपीति॥

अथ नाटिकागतं कर्तव्यमुपदिशति—अत्र नाटिकाया मुख्या नृपवंशजत्व-गम्भीरत्व-परिणीतत्वादिभिः प्रधानं नायिका तद्वशादन्तःपुरसङ्गीतकसम्वन्धेन श्रुति-दर्शनाभ्यामासन्नयाऽन्यया कन्यया योगः सम्वन्धो नायकस्य पर्यन्ते निर्वहणसन्धौ दर्शयितव्यः॥ ६॥ नेता च तल्लाभादर्वाक् प्रवर्धमानानुरागो मुख्यातश्चकितहृदयः कन्यायामुपवनादिषु सङ्केतस्थानेषु सङ्घटते॥

कृत्यान्तरमपि दर्शयति—देवी दक्षा चतुरा निबन्धनीया। अपरा तु कन्या मुग्धा चातुर्यवर्जिता। कन्ययोर्निबन्धनीयाः॥ ७॥ तथा कन्याऽनुरागपरिज्ञाने देव्या राजनि क्रोधः। राज्ञा च तस्याः प्रसादनम्। देव्या च राज्ञः कन्यासमागमे विघ्नः। राज-कन्ययोः परस्परं रतिः। सर्वेषामन्योन्यं वञ्चनम्। आदिशब्दादन्यदपि शृङ्गाराङ्गं भूयो भूयो निवन्धनीयमिति॥

अथ नाटिकालक्षणातिदेशेन प्रकरणीं लक्षयति—एवं नाटिकोक्तचतुरङ्कत्वादि-लक्षणानुसारेण प्रकरणी ग्रन्थनीया; किन्तु नेता प्रकरणोक्तो वणिगादिः। तेन वणिगा-द्युचित एव वेष-सम्भोगादिः सर्वोऽप्यत्र व्यवहारः। स्त्र्यपि तज्जात्यनुरूपैव। फलमपि महीलाभस्य वणिगादेरनुचितत्वात्, स्त्रीप्राप्ति-पुरःसरं द्रव्यला[भा]दिकं द्रष्टव्यम्। कैशिकीब्रहुलत्वं च नाटकधर्मः, प्रकरणस्याल्पकैशिकीत्वात्। कल्प्यार्थत्वं वणिगादिनाय-कत्वं च प्रकरणधर्मः। तया नाटक-प्रकरणोत्थितत्वेऽपि नाटिकाप्रकरणिकयोर्नाटिकोक्त-नायि(य)कानुसारेण नाय(यि)काव्यपदेशः। नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहाराणाम्। प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते अस्यामर्थ इति प्रकरणी। अल्पार्थे कपि प्रकरणिका। एते च द्वे अपि मुख्यरूपकद्वय सङ्करनिष्पन्नत्वा[त्[सङ्कीर्णभेदरूपे। एवमन्येऽपि सङ्करभेदा रूपकद्वय-त्रयादि-साङ्कर्येण सम्भवन्नि, परमदृष्टत्वादरञ्जकत्वाच्च न ते लक्ष्यन्त इति। नाटिकायां च राज्ञां, प्रकरणिकायां तु वणिगादीनां विलासप्रधानं धर्मार्थाविरोधि वृत्तं नाटक-प्रकरणयोरिव व्युत्पाद्यम्॥ ८॥

अथ पूर्ण-दशा-सन्धीनि रूपकाणि लक्षयित्वा, न्यून-दशा-सन्धीनि निरूप्यन्ते। तत्रापि मनुष्यनायकप्रत्यासत्त्या प्रथमं व्यायोगं लक्षयति—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एकदिवसनिवर्तनीयकार्य एक एवाङ्को यत्र। एकाहचरितत्वाच्चैकाङ्कत्वमस्य। दीप्तरस-नायकयुक्तत्वाद् गर्भावमर्शविवर्जनम्। दीप्तरसो हि कालक्षेपासहिष्णुतया विनिपातानां शङ्कया च प्रारम्भ-प्रयत्नानन्तरं फलागम एव यतते। एवमीहामृग-नायका अपि। डिम-समवकार-नायकास्तु बहुतरफलार्थित्वेन प्राप्त्याशायुक्ता दीप्तरसत्वेन च विनिपातानाशङ्किनो निर्विमर्शकाः। भाण-प्रहसनयोर्नायकस्याधमत्वाद्, उत्सृष्टिकाङ्के शोकार्थत्वाद्, वीथ्यां चासहायत्वात्, सर्वेषामल्पवृत्तत्वाच्च प्रारम्भानन्तरं फलागम-निबन्धः। नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनातिसहत्वाद् हितबहुफलकर्तव्यारम्भि-त्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थासम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव। अत्र च गर्भावमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिसिद्धे एव। एवमपरेष्वपि रूपकेषु तत्तत्सन्धिनिषेधे तत्तत्सन्धिपरिच्छेदिका-ऽवस्थाऽपि निषिद्धैव द्रष्टव्येति। अस्त्रीति अस्त्रप्रर्थसङ्ग्राम संयुक्तश्च, यथा जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्रार्जुनवधः कृतः। नियुद्धं बाहुयुद्धम्, स्पर्धनं शौर्य-विद्या-कुल-धन-रूपादि-कृतः संहर्षः, ताभ्यामुद्धतो दीप्तः। स्वल्पस्त्रीपात्रत्वं च कैशिकीरहितत्वात्। एतेन पुरुषपात्रबाहुल्यं लभ्यते। ख्यातं प्रसिद्धं वस्तु नायकोपायलक्षणं यस्य। दीप्तानां वीर-रौद्रादीनां रसानामाश्रयः। अत एवात्र गद्यं गद्यं चौजोगुणयुक्तम्। तथा दिव्य-भूपतिवर्जितं सेनापत्यमात्यादि-दीप्तरस-नायक-सम्पन्नः। केचिदस्य द्वादशनेतृकत्व-माम्नासिषुः। विशेषेण आ समन्ताद् युज्यन्ते कार्यार्थं संरभन्तेऽत्रेति व्यायोगः। नायिकां विनेत्यनेन नायिकायास्तदुचितस्य च दूत्यादे परिजनस्य निषेधः। तेन नायकपरिच्छद-भूताश्चेट्यादयो भवन्त्येव। अत्र च मन्त्रि-सेनापत्यादीनां युद्धादिबहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यमिति ॥ ९-१० ॥

अथ क्रमप्राप्तं समवकारं लक्षयति—सङ्गतैरवकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति समवकारः। 'ख्यातार्थः' इति बृहत्कथाऽऽदि-प्रसिद्धनायकोपाय-त्रिवर्गफलो विमर्शसन्धिविवर्जितश्च। 'उदात्त' इति उदात्तत्वं महत्त्व गाम्भीर्यादि। देव-दैत्यानां हि धीरोद्धतत्वं मर्त्यापेक्षयैव, स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि। अत्र च तत्तद्देव-दैत्य-भक्तानामिष्टदेवताऽऽदि-कर्मप्रभावादिकीर्तनात् महती प्रीतिर्यात्रा-जागरादि-प्रेक्षाकरण-तदनुष्ठितोपायादिषु प्रवृत्तिश्च भवतीति देव-दैत्यौ नेतारौ। एवमन्येष्वप्यमनुष्यनेतृकेषु वाच्यम्। वीथ्यङ्गानि व्याहारादीनि वक्ष्य-माणानि तद्वान् वीर-रौद्रवान् इत्यातिशायने मतुः। तेनात्र शृङ्गारत्वेऽपि वीरो (र-)रौद्रा-(द्रौ) प्रधानम्। देव-दैत्यानामुद्धतत्वेन शृङ्गारस्य छायामात्रत्वेन निबन्धादिति ।।११।।

अथ कृत्यान्तरमुपदिशति—अत्र समवकारे नायिका द्वादश। तत्र प्रत्यङ्कं द्वादश, यदि वा प्रत्यङ्कं नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वारश्चत्वारस्ततः सर्वसङ्ख्यया द्वादश द्वादशेति मध्यमा वृत्तिः, तेन क्वचित् न्यूनाधिकत्वेऽपि न दोषः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

'तेषाम्' इति द्वादशानां नायकानां पृथग्-भूतानि फलानि वध्यन्ते। यथा पयोधिमथने हरि-बलि-प्रभृतीनां लक्ष्म्यादिलाभाः। अत एव सहाया अपि सुग्रीवादिवत् नायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते। त्रय इति त्रयोऽङ्का भवन्ति शृङ्गारत्रयादिविशिष्टा न त्वेकैक एकस्मिन्नङ्के शृङ्गारादीहामेकैकभावादिति। मुहूर्तो घटिकाद्वयम्। तत्र षण्मुहूर्तः प्रथमः। द्वितीयो द्विमुहूर्तः। तृतीय एकमुहूर्तः। एतन्मानकालनिष्पाद्यार्थास्त्रयोऽङ्का इत्यर्थः। एके तु प्रत्यङ्कं यथोदितद्विगुणं कालमानमाहुः। निष्ठितार्था अङ्कार्थसाध्यफलस्याङ्कान्तरार्था-सम्बद्धत्वेन स्वस्मिन्नेव परिसमाप्तार्थाः। महावाक्ये च परिपूर्णप्रबन्धार्थसाध्ये फले सम्बद्धाः। सकलप्रबन्धसाध्यफलोपायभूतार्थास्त्रयोऽङ्का इत्यर्थः। इह तावदामुखानन्तरं सङ्क्षेपेणाङ्कत्रयार्थोपक्षेपकं बीजं निबन्धनीयम्। तदनन्तरमङ्कद्वयमवान्तरवाक्यार्थेन परस्परनिच्छिन्नमायोज्यम्। तृतीयस्त्वङ्कस्तथा निबन्धनीयो यथाऽवान्तरवाक्यार्थ(र्था)-विच्छिन्नः सर्वाङ्कार्थसम्बन्धार्थश्च भवति। एवं हि पूर्वापरानुसन्धानावधेयधियो व्यवहितार्थानुसन्धानावहितबुद्धयश्च त्रिवर्गसिद्ध्युपायव्युत्पत्त्याऽनुगृहीता भवन्ति। अङ्कान्तरार्थानुसन्धायी च परस्परासम्बद्धाङ्कत्वादत्र न विन्दुर्निबध्यते। 'क्रमाद्' इति प्रथम-द्वितीय-तृतीयक्रमणाङ्का द्वयेकैकसन्धयः। तत्र प्रथमेऽङ्के मुख-प्रतिमुखे, द्वितीये गर्भः तृतीये निर्वहणमिति ॥ १२-१३ ॥

अथ शृङ्गारादीनि व्याख्यातुमाह—धर्म-कामार्थाः फलं हेतवश्च यस्य। तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदारवर्जनादिको धर्मः फलम्। दानादिकस्तु धर्मः स्त्र्या-दिलाभस्य हेतुः। काम-शृङ्गार-शब्दाभ्यां स्त्री-पुंसयो रतिस्तद्धेतुश्च स्त्री-पुंसादिर्गृह्यते। तत्र स्त्रीपुंसादि रूपशृङ्गारस्य रतिरूपः कामः फलम्। रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्री-पुंसादि-रूपः कामो हेतुः। अत्र च काम-शृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या, न पुनः स्व-दारा वेश्या वा। यथा शक्रस्याहल्या। स्वदाराऽऽदौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात्। अर्थो राज्य-सुवर्णधन-धान्य-वस्त्रादिः। तत्र पण्यादियो-षितां केषांचित् सुभगानां पुंसां चार्थफलः शृङ्गारः। वेश्याऽऽदिषु च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः। देवादीनामपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणां राज्याद्यर्थसमीहा भवत्येव। तदाराधकानां चार्थप्राप्तिः। अत्र च पक्षे कारणे कार्योपचाराद् देवानामर्थ-शृङ्गारो द्रष्टव्यः। अथवा-ऽर्थोऽर्थनीयं परोपकार-प्रतिज्ञानिर्वाहादिकं तच्च देवादीनामपि भवत्येवेति। मिथ्या प्रकल्पितः सत्यानुकारी प्रपञ्चः कपटः। स च यत्र वञ्चनीयः सापराधः स वञ्च्योत्थो वञ्चकस्य वञ्चनेच्छायां सत्यां कपटः। वञ्चकबुद्ध्यभावे सापराधेऽपि वञ्च्ये वञ्चनायाः सम्भवायोगात् तेन वञ्च्योत्थः कपटो वञ्चकाविनाभाव्येव। अत एवोभयजश्चतुर्थो न भवति। यत्र तु वञ्च्यापराध विना वञ्चकबुद्ध्यैव केवलया कपटो भवति, स वञ्चकसम्भवी। यत्र तु द्वयोस्तुल्यफलाभिधानवतोः काकतालीयन्याये-नैक उपचीयतेऽपरोऽपचीयते, स वञ्च्यापराधाभावेन वञ्चकस्य च वञ्चनाबुद्ध्ययोगेन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

च दैवसम्भवीति। विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः। 'त्रिः' इति प्रकारत्रययुक्तः। तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिजः। अजीवोत्थः शस्त्रादिजः। जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः, तत्र हस्त्यादेः शस्त्रादेश्च व्यापारादिति। 'अमीषु तु' इति शृङ्गारकपट-विद्रवाणां त्रिषु भेदेषु मध्ये एकैको भेदोऽङ्केषु पृथक् पृथग् निबन्धनीयः। तत्र प्रथमेऽङ्केऽन्यतमः कपट उपाये, विद्रवो व्यापत्तिसम्भावनायाम्, शृङ्गारः फलांशे। एवं द्वितीये तृतीये च। प्रथमे चाङ्के शृङ्गारः कामशृङ्गार एव, रञ्जनायां साधकतमस्य प्रथममुपादानात्। अत एव प्रहासोऽप्यत्र निबध्यत इति। पद्यं च स्रग्धरादिकम्, आदिशब्दाद् बह्वक्षरं शार्दूलादि ओजोगुणयुक्तं गृह्यते, न पुर्गायत्र्यादि, तेन हि बह्वर्थाभिधाने क्लिष्टता स्यात्। केचित् पुनरल्पाक्षरं गायत्र्यादिकमर्धसम-विषमादिकं चात्र पद्यं मन्यन्ते। अनेन च गद्यस्यात्र न निषेधः, पद्यवैशिष्ट्यविधानार्थत्वादिति। समवकारे च संक्षिप्तः सहास्यः शृङ्गारः कपटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं सम्प्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यं लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीनं मायेन्द्रजाल-प्लुतलङ्घनोच्छेद्य-पुस्तावपातादिबहुलयाऽऽरभट्या वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादि कुतूहलिनां परां तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते। यदाहुः—

> "शूरास्तु वीर-रौद्रेषु, नियुद्धेष्वाहवेषु च।
> बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव, हास्य-शोक-भयादिषु॥

परितुष्यन्तीति वाक्यशेष इति॥१४-१५॥

अथ भाणस्य क्रमप्राप्तो लक्षणावसरः—

भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः। शौर्य-सौभाग्यवर्णनाबाहुल्येनात्र वीर-शृङ्गारयोः प्राधान्यम्। शृङ्गाराङ्गत्वात् हास्योऽप्यत्राङ्गतया वर्णनीयः। तथा मुख-निर्वहणसन्धिसम्पूर्ण एकाहनिवर्तनीयत्वादेकाङ्कः। दश चात्र लास्याङ्गानि निबध्यन्ते। तानि चैतानि यथा च—

> "गेयपदं स्थितं पाठ्यम्, आसीनं पुष्पगण्डिका।
> प्रच्छेदक त्रिगूढं च, सैन्धवाख्यं द्विगूढकम्॥
> उत्तमोत्तमक चैवमुक्त-प्रत्युक्तमेव च।" इति।

प्रायेण लोकस्य पृथग्जनस्य विट-वेश्याऽऽदिवृत्तात्मकत्वाद् रञ्जनात्मकः। विट-धूर्त-कुट्टन्यादि-चेष्टितं राजपुत्रादीनामपि चातुर्यार्थं ज्ञेयमेवेति प्रायोग्रहणमिति॥१६॥

अथ कर्त्तव्योपदेशेन नायकमुद्दिशति—एको द्वितीयपात्ररहितः विटः पल्लवकः, धूर्तश्चौर-द्यूतकारादिः। वेश्याऽऽदेः पण्यस्त्री-कुलटा-शम्भल्यादेः, स्वस्यात्मनो वा स्थितिं चरितं व्योमोक्त्या रङ्गाप्रविष्टद्वितीयपात्रसम्बन्धिवचनानुवादेन वर्णयेदङ्गविकारैः सामाजिकानवगमयेदत्र भाणे। भारती चात्र वृत्तिः प्रभूततया प्रधानम्। वीर-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शृङ्गारयोः प्रधानत्वेऽपि व्योमोक्त्या वाचिक एवात्राभिनयो न सात्त्विकाङ्गिकाविति, न सात्वती कैशिकी वा प्रधानम्। अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति। अत्र केचित् विटाकल्पितं वृत्तं नायकं च विटमेव मन्यन्ते ॥१७॥

अथ प्रहसनस्य समयः—वैमुख्यं बहुमानाभावः कार्यं प्रयोजनं यस्य। प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति। वीथ्यङ्गैर्व्याहारादिभिर्यथायोगं संयुक्तं च विधेयम्। कौलीनं जनवादः तत् ख्यातं प्रसिद्धं दम्भश्चात्मन्यतथ्यसाधुत्वारोपणरूपः ख्यातोऽत्र विधेयः। यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्को गर्हणीयो न चौर्यम्। एवं दम्भोऽपि। हास्यो रसोऽङ्गी मुख्योऽत्र। भाणवच्च सन्धी मुख-निर्वहणे। एकोऽङ्कः, भारती वृत्तिश्चात्र निबन्धनीया। हास्यरसप्राधान्येऽप्यत्र न कैशिकी वृत्तिः। निन्द्यपाखण्डिप्रभृतीनां शृंगारस्यानौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव। अत एव लास्याङ्गान्यत्राल्पान्येवेति। 'द्विधा' इति द्विप्रकारं शुद्धं सङ्कीर्णं चेति ॥१८॥

तत्र नायककथनद्वारेण शुद्धमाह—निन्द्याः शीलादिना गर्हणीयाः, पाखण्डिनः शाक्य-भगवत्तापसादयः, विप्रा जातिमात्रोपजीविनो द्विजन्मानः, आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य दुष्टस्यैकस्यैव कस्यचिच्चेष्टितं वृत्तमश्लीलेन ग्राम्येण जुगुप्साऽमङ्गल्यहेतुना च असभ्येन च व्रीडाकारिणा रहितम्। परिहासप्रधानवचनबहुलं चैतदभिधायि रूपकमपि चोपचारात् शुद्धं प्रहसनम्, द्वितीयवेश्यादिचरितसाङ्कर्यरहितत्वादिति ॥१९॥

बहूनां चरितैः सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्। अत्युल्बणवेष-व्याहाराचार-परिजनम्। उद्धतत्वं च सतामनुचितत्वाद् बन्धकी स्वैरिणी, चेटो दासः, वेश्या पण्यस्त्री, आदिशब्दात् शम्भली-धूर्त-वृद्ध-षण्ढ-पाखण्डि-विप्र-भुजग-चारभटादयो विकृत-वेष-भाषाऽऽचारा गृह्यन्ते। विगर्हणीयं हास्यजनकं चेष्टितमनुष्ठानम्। एकस्य बन्धक्यादेः कस्यचिद् द्वारेण यत्रानेक एवंविध एव प्रकर्षेण हस्यते तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णम्। शुद्धे तु पाखण्ड्यादेरेकस्यैव चरितं प्रहस्यत इति पूर्वरसाद् भेदः। अन्ये तु—'स्वभाव-शुद्ध-पाखण्ड्यादेश्चरितं प्रहस्यते, तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णम्' इत्याहुः। सङ्कीर्णमनेकाङ्कं केचिदनुस्मरन्ति। अत्र च प्रथमेन श्लोकेन सामान्यलक्षणं, द्वितीयेन शुद्धस्य, तृतीयेन च सङ्कीर्णस्य लक्षणम्। उभयत्र तु विट-चेटचादेः परिजनस्य भूयस्त्वमिति। प्रहसनेन च बाल-स्त्री-मूर्खाणां हास्यप्रदर्शनेन नाट्ये प्ररोचना क्रियते। ततः सञ्जातनाट्यरुचयः शेषरूपकैर्धर्मार्थ-कामेषु व्युत्पाद्यन्ते। तथा वृत्तच्युतस्य पाखण्डिप्रभृतेर्वृत्तं शुद्धम्, बन्धक्यादेश्च धूर्तादिसङ्कुलं सङ्कीर्णं वृत्तं त्याज्यतया व्युत्पाद्यत इति ॥२०॥

अथ डिमस्य लक्षणक्रमः—शान्त-हास्य-शृङ्गाररूपरसत्रयेण विमर्शाख्यचतुर्थ-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सन्धिना च रहितत्वाच्छेषरसैरन्यसन्धिभिश्च युक्तः। शान्तस्य करुणहेतुकत्वेनोपलक्षणत्वात् करुणोऽपि निषिध्यते, दुःखप्रकर्षात्मकत्वात्। इह च करुण-रौद्र-भयानक-बीभत्साश्चत्वारो रसा दुःखात्मानः। शृङ्गार-हास्य-वीराद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मकाः। दिव्यानां च सुखबाहुल्येनाल्पदुःखत्वादन्यथा दिव्यत्वमेव न स्यादित्येषां तत्प्रभावानुगृहीतानामन्येषां च दुःखात्मानो रसा अप्रयोज्या एव। समवकारादौ तु यद् रौद्रादिवर्णनं तद् दिव्यहेतुक-स्वाभाविकसुखाबाधकत्वाददुष्टमेव। मर्त्याद्यवज्ञाऽऽदिसमुत्थो हि रौद्रः, स्वाधिकक्रोधादिसम्भवो भयानकः, मर्त्याद्यशुचिशरीराद्यवलोकनाद् बीभत्सश्च दिव्यानामागन्तुक एव, करुणः पुनरिष्टवियोगप्रभवशोकप्रकर्षरूपत्वात् स्वाभाविकसुखपरिपन्थी सर्वदैषामवर्णनीय एव, शान्तोऽपि विषयासक्तिमत्त्वादसम्भव्येव। अत्र च डिमे हास्य-शृङ्गारवर्जनमिन्द्रजालादिबहुलत्वादुचितमेवेति। ख्यातं पूर्वसिद्धं वस्त्वितिवृत्तं नायकोपायफललक्षणमत्र। रौद्रो मुख्योऽङ्गी यत्र, शेषा रसाः पुनरङ्गानि। अवस्थाचतुष्टयविशिष्टः चतुःसन्धित्वेन चतुर्दिननिवर्तनीयेतिवृत्तत्वेन च चतुरङ्कवान्। अङ्कावताररूपाश्चात्राङ्का विधेयाः। चूलिका-ऽङ्कमुखयोरपि युद्धादिवर्णने निबन्धो भवत्येव। 'सेन्द्र-' इति सहेन्द्रजाल-रणाभ्यां वर्तते। विद्यमानता चात्र सहार्थः। इन्द्रजालमसतां शब्द-रूपादीनां प्रकाशनम्, अन्यथापादनं वा। रणः सङ्ग्रामः बाहुयुद्ध-बलात्कार-पराभवादिरूपः। डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थः, तद्योगादयं डिमः, डिमेः सङ्घातार्थत्वादिति ॥२१॥

अथ कृत्यान्तरं नायकं चोपदिशति—अत्र डिमे उल्कापात-निर्घात-चन्द्र-सूर्यपरिवेष उपलक्षणपरत्वाच्चास्य लेप्य-किलिञ्ज-चर्म-वस्त्र-काष्ठकृतानि रूपाणि च प्रदर्श्यन्ते। 'सुरासुर-' इति आद्यशब्दाद् यक्ष-राक्षस-भुजगेन्द्रादिग्रहः। प्रायोग्रहणात् न्यूनाधिकत्वेऽपि न दोषः। दिव्यानामुद्धतत्वाद् धीरोद्धता एते द्रष्टव्या। स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि न विरुध्यते। एषां च परस्परविभिन्ना भावाः स्थायि-व्यभिचार्यादयो वर्णनीयाः। समवकारवत् तत्तद्देवताभक्तप्रीतिकार्यत्वाद् दिव्यनायकत्वं दिव्यचरितानुष्ठानव्युत्पत्तिश्च द्रष्टव्या। एवमीहामृगेऽपि ॥२२॥

अथ क्रमप्राप्तमुत्सृष्टिकाङ्कं निरूपयति—उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवित यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कितत्वादुत्सृष्टिकाङ्कः। पुमांसो मर्त्या अत्र स्वामिनो न दिव्या दुःखात्मकस्य करुणरसस्यात्र प्राधान्यात्। दिव्यानां च सुखबाहुल्येन तत्सम्बन्धायोगात्। ख्यातं भारतादौ प्रसिद्धं यद् युद्धं तत्र सम्भवि करुणरसबहुलं यद् वृत्तं तत् स्वयं प्रसिद्धं वा (ऽ) सदत्र निबन्धनीयम्। भाणप्रतिपादितं मुख-निर्वहणाख्यसन्धिद्वयम्। परिदेवितबाहुल्यान्मुख्या भारती वृत्तिरेकाहनिवर्तनीयचरितत्वादेकाङ्कश्चात्र कर्तव्यः। शौर्यादिमदावलिप्तानां परस्परं दोषोद्घट्टनं वाग्युद्धं तद्बहुलः, मत्वर्थीयेनो भूम्न्यत्र विधानात्। वाग्युद्धं चानुशोचन-परायणानामिति रौद्राप्रवेशेन न

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करुणस्याङ्गित्वव्याघातः। करुणो रसोऽङ्गी प्रधानं बाहुल्यनिबन्धादत्र विधेयः। ख्यातयुद्धोत्थवृत्ते वध-बन्धादिसद्भावेनेष्टवियोगादिप्राचुर्यादिति ॥ २३ ॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—अत्रोत्सृष्टिकाङ्के यासु श्रुतासु निर्वेदो जायते, ता निर्वेदवाचो बाहुल्येन निबन्धनीयाः। दैवोपालम्भात्मनिन्दाऽऽदिरूपानुशोचनात्मकं परिदेवितं च योषितां बहुधा वर्णनीयम्। पुमांसश्चोपरतोद्धतप्रहार-वध-बन्ध-ताडनादिरूपसङ्ग्रामाः पात्रत्वेन नियोज्याः। भूमिनिपात-विवर्तितोरः-शिरस्ताड़न-स्वकेशत्रोटनादिका नानाप्रकाराश्चेष्टा विसंस्थुला दर्शनीयाः। अत्र चोत्सृष्टिकाङ्के उत्तमानां च बहुविधव्यसनपातेन वैरस्यादितानां महाविपद्यप्यविषादिनां स्थिराणां च पुनरुन्नतिर्दृश्यत इत्यविषादं चित्तस्थैर्यं च विधातुं स्त्रीपरिदेवितबहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यत इति ॥ २४ ॥

अथेहामृगस्य लक्षणप्रपञ्चे पर्यायः—ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्थात्रेतीहामृगः। सह वीथ्यङ्गैर्व्याहारादिभिर्वर्त्तते। दिव्येशो दिव्यनायकः। दृप्ता उद्धता मानवा मर्त्यपुरुषपात्राण्यत्र। एकाङ्कश्चतुरङ्को वेति। अत्र च वृत्तसङ्क्षेप-विस्तरानुरोधिनी कविस्वेच्छा प्रमाणम्। एकाङ्कत्वे एकाहनिर्वर्त्यमेव चरितम्, चतुरङ्कत्वे तु चतुर्दिननिर्वर्त्यम्। ख्याताख्यातं प्रसिद्धाप्रसिद्धं यदितिबृत्तं तद्वान्। प्रशंसायां च मतुस्तेनचतुरङ्कत्वे परस्पराङ्कसंबद्धमितिवृत्तम्, न तु समवकारवदसम्बद्धम्। दिव्य स्त्रीहेतुः सङ्ग्रामो यत्र। अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति, ततस्तन्निमित्तको नायक प्रतिनायकयोः सङ्ग्रामो निबन्धनीयः। निर्गतो विश्वासः परस्मिन प्रत्ययो यस्मात्। आवेगानर्थ-परस्परस्पर्धाऽऽदयो विड्वरस्तद्युक्तः। स्त्रीनिमित्तमपहार-भेद-दण्डा यत्र। ते च यथासम्भवं स्त्रीविषया अन्यविषया वा। भेदः साम-दानादिना विश्लेषापादनम्। दण्डो बन्धादिः। प्रायोग्रहणं नायिकान्यूनाधिकत्वख्यापनार्थम् ॥ २५-२६ ॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—वधासन्ने सम(रा)नन्तरं भाविवधयोग्ये शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना रणाभावो विधेयः। आस्तां साक्षात्, नेपथ्येऽपि वधो न वर्णनीयः। रसा वीर-रौद्राद्या दीप्ताः। सन्धयो गर्भावमर्शवर्जितास्त्रयः। वृत्तयश्च कैशिकीहीनास्तिस्र एव 'सन्धि-वृत्ततः' इतीतरेतरयोगो द्वन्द्वः। अनुचिता रतिः रत्याभासः, स च प्रतिनायकस्य निष्प्रेमस्त्रीविषयत्वादिति ॥ २७ ॥

अथ क्रमप्राप्तां वीथीं लक्षयति—नाटकादिसर्वरूपकाणामेतदुक्तं वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी। सर्वे स्वामिन उत्तम-मध्यमाधमरूपाः। सर्वे रसाश्च शृङ्गारादयः पर्यायेणात्र विधातव्याः। यदाह कोहलः—

"उत्तमाधम-मध्याभिर्युक्ता प्रकृतिभिस्त्रिधा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एकहार्या द्विहार्या वा, सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ।।" इति ।

शंकुकस्त्वधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणादौ हास्यरसप्रधाने विटादेर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति । एकाङ्केत्यनेनैकदिवसयोज्यमितिवृत्तमत्रेति दर्शयति । द्वाभ्यां पात्राभ्यामुक्ति-प्रत्युक्ति-वैचित्र्यविशिष्टाभ्यामेकेन वा पात्रेणाकाश-भाषित-समन्वितेन युक्ता वीथी कविना स्वेच्छया विधेया । मुख-निर्वाहाख्यौ सन्धी यस्याम् । सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसङ्कुल-त्रयोदशाङ्गप्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका, अत एवान्ते लक्षिता । वक्रोक्तिसहस्रसङ्कुलत्वेन शृङ्गार-हास्ययोः सूचनामात्रत्वात् कैशिकीवृत्तिहीनत्वम् । अत्र च वहुविधा वकोक्तिविशेषा उत्तम-मध्यमा-धमनायकानां व्युत्पाद्यन्त इति ।।२८।।

अथास्या अङ्गान्यभिधीयन्ते—एतानि त्रयोदश वीथ्यङ्गानि विविधवक्रोक्त्या-दिरूपत्वाद् भारत्यां वृत्तौ वर्तनशीलानि । अत एव वीथ्यप्येषामङ्गभूता भारतीवृत्त्येक-देशः ।।२९-३०।।

तत्र प्रथमं व्याहारः—अन्योऽर्थः प्रयोजनं यस्याः, भाविनी वा भविष्यन्ती दृष्टिदर्शितविषयोऽर्थो यस्याः सा हास्ये लेशप्रधाना गीर्वाणी । विविधोऽर्थं आह्रियतेऽन-येति व्याहारः । तत्रान्यार्थो यथा मालति (वि) काग्रिमित्रे लास्यप्रयोगावसाने मालती (विका) निर्गन्तुमिच्छति । विदूषकः—"भोदी ! चिट्ठ दाव, विसुमरिदं खु वो किंचि तं ताव पुच्छिस्सं ।

गणदासः—वत्से ! तिष्ठ तावदुपदेशविशुद्धा गमिष्यसि ।

(मालति (वि) का स्थिता)

धारणी—गोदमवयणं पि अज्जो हियए पमाणं करेदि !

गणदासः—देवि ! मा मैवम् । देवप्रत्ययात् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शी गौतमः ।

पश्य—

मन्दोऽप्यमन्दतां याति, संसर्गेण विपश्चितः ।
पङ्कच्छिदः फलस्येव, निकर्षेणाविलं पयः ।।

(विदूषकं विलोक्य) किं विवक्षितमार्यस्य ?

विदूषकः--पढमं दाव पेक्खगे पुच्छ ! पच्छा जो मए कमभेदो लक्खिदो, तं भणिस्सं ।

गणदासः—भगवति ! गुणो वा दोपो वा यथादृष्टमभिधीयताम् ।

परिव्राजिका—यथा मे दर्शनं, तथा सर्वमनवद्यम् ।

गणदासः—देवः कथं मन्येते ?

राजा—वयमपि स्वपक्षं प्रति शिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—देव ! अद्य नर्तयिताऽस्मि ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धारणी—दिट्ठिया पेक्खगाराधणेण। (गणदासमवलोक्य) अज्जो वड्ढदि।

गणदासः—देवीपरिग्रहो मे वृद्धिहेतुः। (विदूषकं विलोक्य) वदेदानीं, यत् ते मनः कर्षति।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं बंभणस्स पूया इच्छिदव्वा, सा तए लंघिदा।

परिव्राजिका—अहो! प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः।

(सर्वे प्रहसन्ति, मालती स्मितं करोति)"

इत्ययं नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनार्थं प्रयुक्तो हास्यलेशकारित्वाद् व्याहार इति।

भाविदृष्टिर्यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के "राजा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचिं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्,
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥"

अत्र राज्ञा वासवदत्तां प्रति भाव्यर्थदर्शनं हास्येनोक्तमिति।

अन्ये तु वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति। यथा मृच्छकटयां विदूषको गणिकाया वसन्तसेनाया गृहं प्रविशन् वसन्तसेनाया मातरं दृष्ट्वा पृच्छति—का एसा बंधुला?

(चेटी—) ऐसा अज्जुआए जणणी अत्तिया।

विदूषकः—जदि मरे, ता सीयालसहस्सस्स पज्जत्तिका। अथ किं एदं पवेसिय दुवारसोहा निम्मविदा? आदु उक्खंदाव(दये)ण पवेसिदा?

चेटी—अय्य! मा एत्तियं अन्नेक्खसु, अत्तिका चाउत्थिएण बाधीयदि।

विदूषकः—भयवं चाउत्थिय! मं पि बंभणं अणुकंपेहि।" इति।

यथा नलविलासे "लम्बस्तनीकापालिकीं प्रति विदूषकः—

एक्कं दाव मे संसयं भंजेहि। मह बंभणीए माया थूलकुट्टणी, जा पाडलिपुत्ते वसदि, सा किं तुमं? आदु अन्ना का वि?" इत्यादीति।

अथाधिवलम्—मिथः परस्परं जल्पे उक्ति-प्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे स्वपक्षस्य स्वाभ्युपगमस्य परस्परप्रज्ञोपजीवनबलात् स्थापना सुघटितत्वं क्रियते यत्र; तदधिकबल-सम्बन्धादधिबलम्।

यथा कृत्यारावणे प्रथमेऽङ्के सीतावेषधारिण्या शूर्पणखया सह संवादे (नेपथ्ये)—

"हा भ्रातर्लक्ष्मण! परित्रायस्व मां परित्रायस्व।

(इति श्रुत्वा शूर्पणखा मोहमुपगता)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तस्यां च मूढायां लक्ष्मणः—आर्ये ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

शूर्पणखा—(अक्षिणी उन्मील्य सक्रोधं सहसा च) आ ! अणज्ज ! अज्ज वि तुमं चिट्ठसि य्येव । अहो ! दाणि सि तुमं निस्संसो निग्घिणो य ! चिट्ठदु दाव भादुय-सिणेहो, कध णाम इक्खाउकुलसंभवेण महाखत्तिएण भविय एवं तए ववसियं ? णं भणामि, एवमक्कंदंतो सत्तू वि न उवेक्खीयदि, किं पुण अज्जउत्तो ?

लक्ष्मणः—आर्ये ! ननु त्वदर्थं एवार्येण स्थापितोऽस्मि ।

शूर्पणखा—कुमार ! एवं मम अत्थो कदो होदि । एवं च अहं परिरक्खिदा होमि । ता सव्वधा अन्नं य्येव दे अणिट्ठं अभिप्पायं लक्खेमि ।" इत्यादि ।

यथा वा रघुविलासे —

"मयः—देव ! सीताऽपहारमतितरां जुगुप्सते लङ्कालोकः ।

रावणः—(साक्षेपम्) आर्य ! सीतापहारमतितरा जुगुप्सते लङ्कालोकः ?

मयः—(सभयम्) अथ किम् ?

रावणः—(सावहेलम्)

अविदितपथः प्रेम्णां बाह्योऽनुरागरुजां जडः,
वदतु दयितामैत्रीवन्ध्यो यथाप्रतिभं जनः ।
मम पुनरियं सीता राज्यं सुखं विभवः प्रियं,
हृदयमसवो मित्रं मन्त्री रतिर्धृतिरुत्सवः ॥

(पुनः सखेदम्) आर्य ! किमेतमस्य पामरप्रकृतेर्लङ्कालोकस्य विचारचातुरीवैमुख्यमुद्भावयामि ?

अस्यां प्रेम ममेव वाङ्-मनसयोरुत्तीर्णमन्यस्य चेद्,
वैदेह्यां नयनैकलेह्यलवणप्रारोहभूमौ भवेत् ।
कापेयं परिरभ्य स प्रकटयन्नुल्लुण्ठभूयं हठात्,
किञ्चित् कामितमादधीत कृतवान् वेधास्तु मां रावणम् ॥

अपरथा पुनरार्य !

अहंयुनिकराग्रणीरवगणय्य धर्मार्गलां,
प्रसह्य यदि जानकीमभिरमेत लङ्कापतिः ।
अमुष्य ननु रोदसीविजयनिष्णदोष्णः समि-
न्मृगव्यरसिकस्तदा क इव नाम वैतण्डिकः ! ॥

मयः—(अपवार्य मन्दोदरीं प्रति) वत्से ! यथावस्थितमभिधाने लङ्कापतौ किमतः परं विज्ञापयामि ?" इति ।

केचित् तु 'अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेद्' इति पठन्ति । एतदप्यर्थभेदादनेन सङ्गृहीतमिति ॥ ३१ ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ गण्डः अन्याभिप्रायेणाकस्मात् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयाऽनुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रक्रान्तेन यत् सम्बद्धं वचनं तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव गण्डः । यथा उत्तरचरिते—

"रामः—(सीतामालोक्य)

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—'देव ! उवत्थदो ।

रामः—अयि ! कः ?

प्रतीहारी—देवस्स आसन्नपरिचारओ दुम्मुहो ।" इति ।

अत्राकस्मात् प्रतीहारीवचनमन्याभिप्रायप्रयुक्तं प्रस्तुतरामवचसा संयुज्यमानत्वात् गण्डः ।

यथा वा बालिकावञ्चितके—

"कंसः—

रिष्टस्तावदुदग्रशृङ्गविकटः शैलेन्द्रकल्पो वृषः,
सप्तद्वीपसमुद्रजस्य पयसः शोषक्षमा पूतना ।
केशी वाजितनुः खुरैर्विघटयेतापन्नगान्मेदिनीं,
सार्धं बन्धुभिरेवमूर्जितबलं कः कंसमास्कन्दति ? ॥

(नेपथ्ये)

जो अन्नओ पसूओ, अन्नेण य वड्ढिओ महुप्पहवो ।
कण्हो सो परउट्ठो, मारेइ न कोइ धारेइ ॥"

इदं रङ्गमध्यप्रविष्टपात्रपठितेन वचसा नेपथ्यपठितमनिष्टार्थसूचकं संयुज्यमानं चूलिका गण्डः ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

राजा—कपिञ्जल ! पुरो गत्वा विलोकय, आश्रमः कियति दूरे ?

('यदादिशति देवः' इत्यभिधाय कपिञ्जलो निष्क्रान्तः ।)

राजा—(सखेदम्)

धिग् मां भ्रूणविघातिनं सकलुषं धिग् जीवितं मेऽखिल—
क्षोणीलोककरोपतापजनिता धिग् धिग् ममैताः श्रियः ।
पुण्यास्ते करुणामृतार्द्रमनसो ये नाम वाचंयमाः,
हस्तारोपितशर्मणि प्रतिकलं वृत्ताः शुभे कर्मणि ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कुन्तल ! वयमिदानीं सर्वस्वपरित्यागमीहामहे ।

(प्रविश्य) कपिञ्जलः—देव ! प्रत्यासन्नं पश्य ।

राजा —किं सर्वस्वपरित्यागम् ?

कपिञ्जलः—नहि, मुनीनामाश्रमम् ।" इति ॥

अथ प्रपञ्चः—यथा रत्नावल्याम्—"राजा कदलीगृहे चित्रगतां सागरिकां पश्यन् सुसङ्गताया दर्शने फलकं प्रच्छाद्य तामाह—सुसङ्गते ! कथमिहस्थो भवत्या ज्ञातः ?

सुसङ्गता—भट्टा ! न केवलं तुवं, समं चित्तफलएण सव्वो वुत्तंतो मए जाणिदो; ता गडुय देवीए निवेदइस्सं ।

वसन्तकः—(अपवार्य) भो ! सव्वं संभवीयदि । मुहरा खु एसा गब्भदासी, ता किंचि दइय परिदोसेहि णं ।

राजा—(सुसङ्गताया अलकान् प्रमार्जयन्) सुसङ्गते ! क्रीडामात्रकमेवैतत्, तथापि नाकारणे(णं)त्वया देवी खेदयितव्या । इदं च ते पारितोषिकम् ।"
(इति कर्णाभरणं ददाति)

सुसङ्गता—(प्रणम्य सस्मितम्) भट्टा ! पसादो मे कण्णाभरणेण ।" इत्यादि ।

'अत्र राज-सुसङ्गतयोर्मिथो देव्यै निवेदयिष्यामि इति हास्यम् । 'भट्टा ! पसादो' इति स्तवसहितमेकस्य राज्ञः सागरिकासङ्गमलाभकरणं प्रपञ्चोऽसद्भूतत्वात् । सुसङ्गताकर्णाभरणलाभस्तु मुख्यसाध्यं प्रत्यनुपयोगित्वान्न विवक्षितः । केचित् तु 'असद्भूतेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योऽन्यस्तवो हास्यहेतु, तं' प्रपञ्चमाहुः । यथा—

"रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा, मज्जं मंसं खज्जए पिज्जए वा ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा, कोलो धम्मो कस्स नो भादि रम्मो ? ॥"

अन्ये तु 'द्वयोर्लाभं विना मिथ्यारूपं हास्यं संस्तवयुक्तं' प्रपञ्चत्वेन मन्यन्ते । यथा प्रयोगाभ्युदये—

"तरङ्गदत्तकचेटी—अम्मो ! अयं खु एसो संचारिमं उवहासपट्टणं अय्यभंडीरवो इदो य्येवागच्छदि ।

विदूषकः—(उपसृत्य) भोदी ! सागदं ते ।

चेटी—(स्वगतम्) परिहासइस्सं दाव णं । [प्रकाशम्] को दाणि एसो अम्ह णं पेसणयारओ चेडउ त्ति ।

विदूषकः—अहं घडदासीणं सामिगो ।

चेटी—"किं चेडउ त्ति भणिदे कुविदो तुमं ?

विदूषकः को दाणि विसेसो घडदासीणं कुंभदासीणं च ?

चेटी—मां कुप्प, भट्टउतो त्ति भणिस्सं ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विदूषकः— भोदी ! तुवं पि मा कुप्प, अज्जा इति भणिस्सं ।

चेटी—अहो ! भट्टउत्तस्स मदी ।

विदूषकः—अहो ! अदिरूआ अज्जया ।" इति ॥ ३२ ॥

अथ त्रिगतम्—भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य । त्रिगतमनेकार्थगतम् 'शब्दस्यानेकार्थत्वात्' तेन द्व्यर्थमपि । यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसम्प्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते । यथा—

"प्रतिष्ठोक्तिषु न खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे ।

प्रत्यग्रयौवनविभूषणसङ्गमेतद्,
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपाम् ।
सक्तिं च मय्यनुपमामनुरुध्यमानः,
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि नेऽनुरागः ॥

अन्यस्त्रीशङ्कया ध्रुवदेवी— यदि भत्तिं अवेक्खसि, तदो मं मंदभाइणि परिच्चयसि ।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं तृणवत् त्वदन्तरे ।

ध्रुवदेवी— अहं पि जीविदं परिच्चयंती अज्जउत्तं पढमयरं य्येव परिच्चइस्सं ।

राजा— त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।

ध्रुवदेवी-- ममावि संपदं निप्फलो जीवलोओ सुहृ-परिच्चयणीओ भविस्सदि ।

राजा—ऊढेति देवी प्रति मे दयालुता !

ध्रुवदेवी —इयं अज्जउत्त ! ईदिसी दयालुदा ! जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एवं परिच्चईयदि ।

राजा — त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः ।

ध्रुवदेवी—अदो य्येव मंदभागा परिच्चइयामि ।

राजा— त्वय्युपारोपितप्रम्णा, त्वदर्थे यशसा सह ।
परित्यक्ता मया देवी, जनोऽयं जन एव मे ॥

ध्रुवदेवी—हंजे ! इयं सा अय्यउत्तस्स करुणदा !

सूत्रधारी—देवि ! पडंति चंदमंडलाउ [वि] चुडुलीओ, किं एत्थ करीयदि ?

राजा— देवीवियोगदुःखार्तास्त्वमस्मान् रमयिष्यसि ।

ध्रुवदेवी— वियोगदुक्खं पि दे अकरुणस्स अत्थि य्येव !

राजा—त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा ।" इति ।

एतत् स्त्रीवेषधारिचन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन देव्याः स्त्रीविषयं प्रतिपन्नमिति भिन्नार्थयोजकम् । एवं त्र्यर्थमपि श्लेषादिवशादुदाहार्यम् ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथवा श्रुतिसारूप्येणैकस्यैव प्रश्नरूपतया सतः प्रतिवचनतया भिन्नार्थस्य योजनम् । यथा विक्रमोर्वश्याम्—

"सर्वक्षितिभृतां नाथ !, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्, त्वया विरहिता मया ।।"

अत्र प्रश्ने महीभृतः प्रतिशब्देनैतदेवोत्तरम् ।

यद्वा शब्दोऽव्यक्तं ध्वनिमात्रं तत्साम्येनानेकार्थयोजनं त्रिगतम् ।

यथा इन्दुलेखायां वीथ्याम्—"राजा—वयस्य !

किं नु कलहंसनादो, मधुरो मधुपायिनां नु झङ्कारः ? ।
हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सनूपुरश्चरण इति ।।"

अथ छलम्—प्रयोजनान्तरेण प्रयुक्तं यद् वचनमन्यस्यान्यस्य हास्य-वञ्चना-रोषकारणम्, तद् वञ्चनाहेतुत्वात् छलम् । यथा—

"कस्स व न होइ रोसो, दट्ठूण पियाए सव्वणं अहरं ? ।
सवामल(भमर)—पउमग्घाइरि, वारियवामे ! सहसु इण्हि ।।"

एतद् वचः सख्या भर्तृप्रत्यायनप्रयोजनेनोक्तं विदग्धजनस्य हास्यं, स्वसु(श्वशु)-रादेर्वञ्चनां, सपत्न्या रोषं जनयतीति ।। ३३ ।।

अथासत्प्रलापः—परमार्थतो हितमुपकारपर्यवसायि यद् वचनमविवेचकत्व-मौर्ख्याभ्यां तत्त्वेन हितत्वेन नैवावबुध्यतेऽविवेचकैर्मूर्खैश्च तत् तौ प्रत्यसतोऽसाधुभूतस्य प्रलपनम् असत्प्रलापः ।

तत्राविवेचकं प्रति यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

"रावणः—प्रायशः श्रुतिमेव भवद्भिर्यथा कलत्रमात्रसाधनोऽसौ तापसस्तदपहार एव तावन्निरूप्यताम् । न च कलत्रापहरणाद् ऋते पुरुषस्यापरं परिभवस्थानमस्ति । तत्र मारीचेन साहायकं क्रियमाणमिच्छामि ।

मारीचः—स्वामिन् ! जीवतो रामस्य परिभव इत्यशक्यमेतत् । न खलु तापस इति तमवज्ञातुमर्हति देवः । अन्यदेव वस्त्वन्तरं किमपि तत् ।

रावणः— (सक्रोधम्) आः ! किं नाम वस्त्वन्तरं तत् ? मूढ !

युक्त्यैव क्षत्रबन्धोः परिभवमसमं जीवतः कर्तुमिच्छन्,
मायासाहायके त्वं निपुणतर इति प्रार्थ्यसे नासमर्थः ।
यच्चान्यत् तत्र वज्रप्रहतिमसृणितस्फारकेयूरभाजः,
सज्जास्त्रैलोक्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य ।।"

अत्र मारीचवचनं परमार्थतो हितमपि रावणेन नावगतम् ।

मूर्खं प्रति यथा भीमटविरचिते मनोरमावत्सराजे वत्सराजाभ्युदयाशंसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रुमण्वान् पाञ्चालमुच्छेत्तुकामस्तस्य कृतकभृत्यतां श्रितो विश्वासोत्पादनार्थं वत्सराजान्तःपुरमादीप्य यौगन्धरायणप्रमुखानाह—

"कौशाम्बी मम हस्त एव परया शक्त्या मया स्वीकृतः,
पञ्चालाधिपतिः प्रभुः स भवतां न ज्ञायते क्वाधुना ? ।
नन्वादीपित एष मोहितपरानीकेन लावाणकः,
देवी सम्प्रति रक्ष्यतामयमहं प्राप्तो रुमण्वान् स्वयम् ॥"

एतच्च परमार्थतः पाञ्चालोच्छेदपरं यौगन्धरायणेनावबुद्धम् वासवदत्तया सम्भ्रमकनाम्ना यौगन्धरायणानुचरेण च मौर्ख्यान्नावगतम् ।

यथा वा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे मन्त्रिपुत्रेणोच्यते—

"सर्वदा योऽक्षविजयी, सुरासेवनतत्परः ।
तस्यार्थानां सुखानां च, समृद्धिः करगामिनी ॥"

एतदपि मूर्खत्वात् प्रियांशे पाशकविजय-मद्यपानरूपे गृह्यते, न त्विन्द्रियजय-देवताराधनरूपे हितांश इति ।

अन्ये तु 'बालोत्कण्ठितादीनामसम्बद्धकथाप्रायमसत्प्रलापम्' इच्छन्ति ।

यथा—

"एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति व्यालुप्तसङ्ख्याक्रमाः,
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ।"

यथा वा रघुविलासे सीताविरहितो रामः—

"अरण्ये मां त्यक्त्वा हरिण ! हरिणाक्षी क्व नु गता ?,
पराभूतो दृष्ट्वा कथयसि न चेन्मा स्म कथय ।
अरे क्रीडाकीर ! त्वमपि वहसे कामपि रुषं,
यदेवं तूष्णीकामनुसरसि वाचंयम इव ॥" इति ॥

अथ वाक्केली—प्रश्नस्य प्रश्नयोः प्रश्नानां वोत्तरं प्रश्नोत्तरम् । सहासा छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्वा । द्वयमप्येतद् वचनक्रीडारूपत्वाद् वाक्केली । यथा—

"नदीनां मेघविगमे, का शोभा प्रतिभासते ? ।
बाह्यान्तरा विजेतव्याः, के नाम कृतिनाऽरयः ? ॥"

अत्रारय इत्येकत्र रयाभावोऽपरत्र शत्रव इत्येकं प्रतिवचनम् । एवं बहूनामपि द्रष्टव्यम् । एतत् प्रश्नोत्तरम् ॥

छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्यथा—

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किं ?'
कृष्णोऽहं दयिते ! बिभेमि सुतरां कृष्णात् पुनर्वानरात् ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुग्धेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेव तन्वीमलं,

मिथ्या[ऽ] सूच(य)यसीत्युपेत्य धनिकां ह्रीतो हरिः पातु वः ॥"

केचित् तु 'साकाङ्क्षस्य वाक्यस्य विनिवर्तनं वाक्केलीम्' अधीयते । यथा उत्तरचरिते—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,

तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ? ॥" ॥३४॥

अथ नालिका—परविप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हास्यनिमित्तं निगूढार्थत्वाद् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका । यथा रत्नावल्यां सागरिका चित्रफलहकार्थमागता कदलीगृहे वत्सराजं दृष्ट्वा बहिः स्थिता सुसङ्गतयोच्यते—

"सहि ! जस्स कए तुवं एत्थ आगदा, सो एत्थ य्येव चिट्ठदि ।

सागरिका—(सकोपमिव) सहि ! कस्स ?

सुसङ्गता—(सहासम्) अयि अप्पसंकिदे ! णं पउत्तमहूसवे चित्तफलयस्स ।"

केचित् तु 'हास्यहेतुनोपेतां निगूढार्थरूपां प्रहेलिकां नाली' मन्यन्ते । यथा बालिकावञ्चितके पारिपार्श्विकः—

"तपनीयोज्ज्वलकरकं, कुवलयारुचि भासमानमाकाशे ।

तेजोमयं दिनकराद्वितायमाचक्ष्व मे भूतम् ॥"

अत्र निगूढो नारदलक्षणोऽर्थः सूत्रधारेणास्मिन्नेव श्लोके द्वितीयमेनं मुनिं पश्यति चतुर्थपादान्यथाकरणेन व्याख्यात इति ।

अथ मृदवम्—गुणानां दोषत्वं, दोषाणां च गुणत्वं येनोत्तरेण व्यत्ययो विपर्यासः क्रियते, तन्मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम् । गुणस्य दोषीकरणं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के—

"जयद्रथमाता—जाद ! ते खु बंधुवधामरिसुद्दीविद-कोवा समरे अणवेक्खियसरीरा परिकमिस्संति ।

राजा—(सोपहासम्) एवमेतत् । सर्वजनप्रसिद्धमेवामर्षित्वं पाण्डवानाम् । पश्य ।

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया,

पाञ्चाली मम राजचक्रपुरतो गौगौरिति व्याहृता ।

तस्मिन्नम्ब ! स किं न गाण्डिवधरो नासीत् पृथानन्दनः ?,

यूनः क्षत्रियवंशजस्य कृतिनः क्रोधास्पदं किं न तत् ? ।"

अत्र धनुर्धरत्वादयो गुणा दोषीकृताः ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यथा नलविलासे—

"राजा—देवि ! उपालभ्यसेऽभ्यन्तरपरिजनापराधेन ।

दमयन्ती—कहं विय ?

राजा—

वक्त्रेन्दुः स्मितमातनोदविगते दृष्टी विकासश्रियं,
बाहू कण्टककोरकाण्यबिभृतां प्राप्ता गिरो गौरवम् ।
किं नाङ्गानि तवातिथेयमसृजन् स्वस्वापतेयोचितं,
सम्प्राप्ते मयि नैतदुज्झति कुचद्वन्द्वं पुनः स्तब्धताम् ।।"

अत्र स्तब्धा स्तनगुणो दोषीकृतः ।

अपि च । यथाऽस्मदुपज्ञे सुधाकलशे—

"लच्छी गिहीण भूसा, आपत्त-विज्जाण सा पुणो गरई ।
तत्तो पढेज्ज विज्जं, आजम्म-दुहंकरं सज्जन्नो ।"

अत्र निर्वेदाद् विबुधैर्विद्या गुणोऽपि दोषीकृतः ।

दोषस्य गुणीकरणं यथा वेणीसंहारे कञ्चुकिना सह विवादे—

"दुर्योधनः—सूक्तमिदं कस्यापि ।

गुप्तः साक्षात् महानल्पः, स्वयमन्येन वा कृतः ।
करोति महतीं प्रीतिम्, अपकारोऽपकारिणाम् ।।

येनाद्य द्रोण-कर्ण-जयद्रथादिनिहितमभिमन्युमुपश्रुत्योच्छ्वसितमिव नश्चेतसा ।

अत्र क्षत्रधर्मं त्यक्त्वाऽभिमन्युर्निहत इत्ययं स्वप्रीतिहेतुत्वेन गुणीकृतः ।

यथा वा नलविलासे—

"सर्वेषामपि सन्ति वेश्मसु कुतः कान्ताः कुरङ्गीदृशः ?,
न्यायार्थी परदारविप्लवकरं राजा जनं बाधते ।
आज्ञां कारितवान् प्रजापतिमपि स्वां पञ्चबाणस्ततः,
कामार्तः क्व जनो व्रजेत् परहिताः पण्याङ्गनाः स्युर्न चेत् ।।'

अत्र पण्यस्त्रीत्वं दोषः शृङ्गारपुष्टयर्थं गुणीकृतः ।

अपि च । यथा सुधाकलशे—

"ताण नमो निग्गुण सेहराण गुणि-सलहिज्ज-जम्माणं ।
निअ-गुण-विहलत्त-भवा, सिविणे वि न जाण अरई ।।"

अत्र निर्वेदाद् गुणिभिर्निर्गुणत्वं दोषोऽपि गुणीकृतः ।।

उभयमेकत्र यथा—

"सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः,
सर्वत्रैव जनापवादचकितास्तिष्ठन्ति दुःखं सदा ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलः,
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥"

अत्र सत्त्वं गुणोऽपि दोषीकृतः, प्राकृतत्वं तु दोषोऽपि गुणीकृत इति ॥

अथोद्घात्यकम्—पृच्छक-प्रतिवक्त्रोरन्योन्यं गूढार्थमुक्ति-प्रत्युक्तात्मकं भाषणम् उद्घाते प्रश्नात्मके साधूद्घात्यम्। यदा प्रष्टा विवक्षितोत्तरदानसमर्थः, किन्तु यन्ममाभिप्रेतं तद् युक्तमयुक्तं वेत्यभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्ता चोचितमभिधत्ते तदोद्घात्वमित्यर्थ।

यथा पाण्डवानन्दे सूत्रधार-पारिपार्श्विकयोरुक्ति-प्रत्युक्ती—

"का भूषा बलिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः,
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः,
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरच्छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥" इति ॥३५॥

अथावलगितम्—विवक्षितप्रयोजनस्यान्यकार्यकरणव्याजेन सम्पत्तिर्यत्र तदन्य-कार्यावलगनादवलगितम्। यथा उत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारदोहदयाः सीताया दोहदकार्यमिषेण जनापवादादरण्ये त्यागः।

केचित् तु 'पत्रान्तरे स्वव्यापारं निक्षिप्य यत् कार्यान्तरकरणं तदवलगितम्' इत्याहुः। यथा कृत्यारावणस्यामुखे—

"सूत्रधारः—(निःश्वस्य) आर्ये! ननु ब्रवीमि।
वाक्प्रपञ्चैकसारेण, निर्विशेषाल्पवृत्तिना।
स्वामिनेव नटत्वेन, निर्विण्णाः सर्वथा वयम् ॥

तद् गच्छतु भवती पुत्रं मित्रं वा कमपि पुरस्कृत्य क्रमागतामिमां कुजीविका-मनुवर्तयितुम्।" ततः क्रमादाह—

"परिग्रहोरुग्राहौघाद्, गृहसंसार-सागरात्।
बन्धुस्नेह-महावर्ताद्, इदमुत्तीर्य गम्यते।"

अत्र स्वजीविकां दारेषु निक्षिप्य परलोकहेतुकार्यकरणं स्वयमाश्रितम्।

अपरे तु—'प्रस्तुतेऽन्यस्मिन् कार्ये यदन्यत् स्वयमेव सिध्यति, तदवलगितम्। यथा छलितरामे—

"रामः—लक्ष्मण! तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि, तदवतीर्य गच्छामि।

कोऽपि सिंहासनस्याधः, स्थितः पादुकयोः पुरः।
जटावानक्षवलयी, चामरीव विराजते ॥"

अत्र भरतदर्शनकार्यान्तरस्यैवमेव सिद्धिरिति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथावस्पन्दितम्—स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेणोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानम् अन्यार्थकथनरूपं यत् तदवस्पन्दितं चक्षुःस्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसम्भवात्। यथा वेणीसंहारे—

"सत्पक्षा मधुरगिरः, प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः, कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥"

अत्र स्वेच्छया शरद्वर्णनाय हंसवर्णनं सूत्रधारेणोक्तम्। एतत् पारिपार्श्विकेन धृतराष्ट्रसुतानां दुर्योधनादीनाममङ्गलार्थकथनेनान्यथाऽऽख्यातम्।

यथा वा छलितरामे—

"सीता—जाद! पब्भाए तुब्भेहिं अउज्झाए गंतव्वं। सो अ राया विणएण पणमिदव्वो।

लवः—अम्ब! किमावाभ्यां राजोपजीवकाभ्यां भाव्यम्?

सीता—सो खु तुम्हाणं पिदा।

लवः—किमावयो रघुपतिः पिता?

सीता—(साशङ्कम्) न खु तुम्हाणं, सयलाइ य्येव पुहवीए। इति"

एतानि च त्रयोदश वीथ्यङ्गानि सर्वरूपकाणां सर्वसन्धिषु निबन्धनीयानि। सर्वसन्धिसाधारण्यादामुखेऽपि भावाच्च सन्ध्यङ्गेभ्यः पृथगुक्तानीति॥३६॥

अथ व्यायोगादौ रूपकान्तरे सामान्यनाटकलक्षणातिदेशमाह—

वैशेषिकीमसाधारणीं 'सन्धि-वृत्त्यादिकम्' इति आदिशब्दादङ्कपरिमाण-रस-नायकादिपरिग्रहः। 'अन्या' इति पात्रोक्तिवैचित्र्याङ्कोपाय-दशा-सन्ध्यङ्गलक्षण-नायकादिप्रकृत्यौचित्यादिका स्थितिर्व्यायोगादौ रूपकान्तरे नाटकप्रतिपादिता ज्ञातव्या। प्रकरणे तु नाटकसमानत्वमुक्तमेव। नाटिका-प्रकरण्योः पुनर्नाटक-प्रकरणान्तर्भूतत्वान्न किंचित् पृथग् वाच्यमिति सर्वं समञ्जसम्॥३७॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ
प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेकः समाप्तः॥२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

[३]

अथ वृत्ति-रस-भावाभिनय-विचारस्तृतीयो विवेकः ।

अथ रूपकोद्देशश्लोकोद्दिष्टाः क्रमप्राप्ता वृत्तयः प्रपञ्च्यन्ते—पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः। रस-भावाभिनया वक्ष्यमाणास्तांस्तन्मयत्वेन गच्छन्ति। रस-भावाभिनय-सम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये व्यापारः। 'चतस्रः' इति चतुर्भेदत्वमन्यतम-चेष्टांशप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारसवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम्। न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोप्येकाकी कायिको वाचिको मनसो वा व्यापारो लक्ष्यते। कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते। शब्दोल्लिखितं मनः प्रत्य[यं]विना रञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात्। वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविनाभाविन्य एव, ताल्वादिव्यापाराभाव वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूप-कायपरिस्पन्दाभावे मनोव्यापृत्यनुपलक्षणाच्च। मनःशून्यश्च व्यापारः कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादनिबन्धनीय एव। विदूषकोऽपि च हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते। अतः सङ्कीर्णत्वेऽप्यंशप्राधान्यापेक्षया वृत्तयश्चतस्रः नाट्य-स्याभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। 'नाट्य—' इति च प्रस्तावापेक्षम्, तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्ये, न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति। रङ्गानन्तरं च नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न किंश्चिद् दोषः। मूर्छादौ तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानिः, बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्वस्याभिमतत्वादिति ॥१॥

तत्र भारत्या लक्षणमाह – सर्वरूपकेष्वभिनेयानभिनेयेषु गमनशीला प्रायस्तन्मयत्वाद् वर्णनायाः, आमुखप्ररोचनयोरुत्थितः सम्भवो यतः प्रायो बाहुल्येन संस्कृतेन सर्वरसैश्च दीप्ता। प्ररोचनामुखयोरन्यत्रापि च रूपकैकदेशे प्राकृतादिपाठेन भारतीदर्शनात् प्रायोग्रहणमर्थवत्। सर्वरूपकभावित्वाद् रसानां च वाग्जन्यत्वात् सर्वरसात्मकत्वम्। ये तु 'भारत्यां वीभत्स-करुणौ प्रपन्नाः' तैः सर्वरसवीथी-प्रधानशृङ्गारवीरभाण-प्रधानहास्य-प्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि। 'वाचि' वाग्व्यापार-विषये वाग्व्यापारात्मिकेत्यर्थः। भारती वाग्व्यापारविषय एवेत्ययोगव्यवच्छेदः। तेन वाचिकाभिनयात्मिका सात्वत्यपि भवति। वृत्त्यन्तराणि तु सर्वथाऽभिनयविषयाणि। भारतीरूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति ॥२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ भारतीसम्भवमामुखं लक्षयति—पारिपार्श्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः। मार्षः पारिपार्श्विकः। विदूषक-नटी-मार्षैर्यस्तैः समस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रङ्गसूत्रणाकर्तुः सूत्रधारगुणानुकारस्य वा नाट्यार्थस्थापनाकर्तुः स्थापकस्य प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्याक्षेपि उपस्थापकं भाषणं वक्रोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकैः, स्पष्टोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्य प्रतिपादकैश्च यत् स्वस्याभिप्रायोत्कीर्तनं तदामुखम्। 'आङ् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धिं सम्प्राप्य निवर्तते। 'ईषदर्थे वा' तत ईषन्मुखं मुखसन्धि-सूचकत्वादारम्भः। प्रस्तावनाशब्देनाप्येतदुच्यते। इदं तावदामुखं नाट्यात् पृथग्भूतम्। तत्र कदाचिद् रङ्गसूत्रयितैवामुखार्थमनुतिष्ठति। तथा च दृश्यते—'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'। नान्द्यन्त इत्यवयवे समुदायोपचारात्। पूर्वरङ्गान्ते इति द्रष्टव्यम्। नान्दी हि पूर्वरङ्ग-स्याङ्गम्। अत्र च पक्षे आमुखार्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुखसन्धेः प्रभृति कवेर्व्यापारः। कदाचित् तु सनान्दीकं रङ्गमनुष्ठाय विश्रान्ते सूत्रधारे तत्तुल्यगुणाकृतिः स्थापक आमुखमनुतिष्ठति। तथा च अनङ्गवत्यां नाटिकायां दृश्यते—'पूर्वरङ्गान्ते स्थापकः'। अत्र च पक्षे आमुखानुष्ठानेऽपि कवेर्व्यापारः, स्थापकस्य सूत्रधारानुकारिणो रामानु-कारिणो नटस्येव कविनैव प्रवेशनात्। 'वक्रोक्त—' इति च वीथ्यङ्गानामेवंविधरूपाणां व्यावहारादीनां सद्भावमाहेति। स्पष्टोक्तिस्त्वेवं यथा नागानन्दे—'नाटयितव्ये किमित्यकारणमेव रुद्यते?' इति ॥३॥

अत्र आमुखाङ्गभूतं नाट्यपात्रप्रवेशविधिमाह—

समयः कालः। आह्वानं संज्ञा। एतैः सूत्रधार-स्थापकाभ्यामुक्तैर्हेतुभूतैः पात्रस्य मुख्यनायकादिभूमिकाधारिणो नटादिलोकस्य सङ्क्रमः प्रवेशः। वाक्यार्थयोरनूद्यमान-तया पात्रप्रवेशहेतुत्वम्, समयाह्वानयोस्तु सूचकत्वेनेति—

वाक्येन यथा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"सत्त्वैकतानवृत्तीनां, प्रतिज्ञातार्थकारिणाम्।
प्रभविष्णुर्न देवोऽपि, किं पुनः प्राकृतो जनः? ॥"

एतदेव पठन् हरिश्चन्द्रः प्रविशति।

अर्थेन यथा वेणीसंहारे—

"निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां,
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च,
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥"

इत्यस्य वाक्यस्य छन्दसा ग्रथितस्य चतुर्थपादेन 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः' इत्यनेनार्थं गृहीत्वा भीमः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समयेन यथा छलितरामे—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः,
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं,
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥"

अत्र समानविशेषणौ रामशब्दकीर्तनाच्च रामप्रवेशसूचा ।

आह्वानेन यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

"तवास्मि गीतरागेण, हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दूष्क(ष्य)न्तः, सारङ्गेणातिरंहसा ॥

अत्र नाट्यामुखयोः सम्बन्धनार्थं कविना भाविप्रवेशस्य पात्रस्य युक्त्या नामग्रहणम्। पूर्वत्र तु समानविशेषणबलान्नामाय(ग)तमित्यनयोर्विशेष इति ।

एषां च नाट्यपात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतम एवैकश्चमत्कारकारी निबन्धनीयः। अन्यथा पात्रप्रवेशग्रन्थबाहुल्येन प्रस्तुतार्थविघातः स्यादिति। शब्दव्यापारबाहुल्याच्च भारत्यंशभूतत्वमस्य। एवं प्ररोचनायाः पूर्वरङ्गाङ्गभूताया अपीति । पात्रप्रवेशस्य पूर्वो भाग आमुखम्, उत्तरः पुनर्नाट्यमिति ।

अथ प्ररोचनां व्याचष्टे—पूर्वं नाट्यात् प्रथमं गीत-ताल-वाद्य-नृत्तानि नाट्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं च प्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जनाहेतौ नाट्यशालायां स पूर्वरङ्गः। अस्य च पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादीन्यासारितान्तानि नवान्तर्जवनिकं गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकमङ्गानि प्रयोज्यानि पूर्वाचार्यैर्लक्षितानि। अस्माभिस्तु स्वनो लोकप्रसिद्धत्वात् तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वाद् विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वदुपेक्षितानि । प्ररोचना तु पूर्वरङ्गाङ्गभूताऽपि नाट्ये प्रवृत्तौ प्रधानमङ्गमिति लक्ष्यते। तत्र पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनं प्रकृतोऽर्थः प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना। यथा क्षीरस्वामिविरचितेऽभिनवराघवे—

"स्थापकः—(सहर्षम्) आर्ये! चिरस्य स्मृतम्।
अस्त्येव राघवमहीनकथापवित्रं,
काव्यप्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्नः।
भट्टेन्दुराज-चरणाब्ज-मधुव्रतस्य,
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम् ॥"

यथा वा रघुविलासे—

"सीतां काननतो जहार विहितव्याजः पुरा रावणः,
तं व्यापाद्य रणेन तां पुनरथो रामः समानीतवान्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एतस्मै कविसूक्ति-मौक्तिकमणि-स्वात्यम्भसे भूर्भुवः—
स्वर्त्यामोहनकार्मणाय सुकथारत्नाय नित्यं नमः ॥"

यथा वा नलविलासे—

"कविः काव्ये रामः सरसवचसामेकवसतिः,
नलस्येदं हृद्यं किमपि चरितं धीरललितम् ।
समादिष्टो नाट्ये निखिलनटमुद्रापटुरहं,
प्रसन्नः सभ्यानां कटरि ! भगवानद्य स विधिः ॥" इति ॥

इयं प्ररोचना पूर्वरङ्गात् प्रथमं पश्चाच्च निबध्यते । निबन्धे चास्या नावश्यम्भावनियम इति ॥४॥

अथोद्देशप्राप्तां सात्वतीं लक्षयति—सत् सत्त्वं प्रकाशस्तद् यत्रास्ति तत् सत्वन्मनस्तत्र भवा सात्वती संज्ञाशब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम् । सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं सत्त्वं-वागङ्गाभिनयैर्ज्ञाप्यम् । सत्त्वाभिनयवागभिनयाङ्गाभिनययुक्तं मानसं कर्म सात्वतीत्यर्थः । अभिनयत्रयाभिधानेऽपि मानसव्यापारस्य सत्त्वप्रधानत्वात् सत्त्वाभिनय एवात्र प्रधानमितरौ गौणौ । अत एव सत्त्वशब्दः प्रथममुपात्तः । आर्जवमकौटिल्यम् । आधर्षो वाचा न्यक्कारः । मुद् हर्षः । धैर्यं व्यसनेऽप्यकातर्यम् । एतै रौद्रादिभिश्च सह वर्त्तमानो मनोव्यापारः सात्वती । आर्जवस्योपादानादत्र कपटाभावः । आधर्षख्यापनादुद्धतपुरुषसद्भावः । मुत्प्रतिपादनाच्छोक-करुणनिर्वेदाभावः । धैर्याभिधानात् स्त्र्यादिसङ्गमौत्सुक्याभावश्चाभिहितो भवति । रौद्ररसयोगेऽपि केषांचित् सत्त्वं प्रकाशरूपं दृश्यत एवेति रौद्रोपादानम् । वीररसश्चात्र युद्ध-दान-दया-वीरादिरूपः सत्त्वबाहुल्याद् गृह्यते । 'शम' इति च शमः स्थायिभावः शान्तो रसो द्रष्टव्यः, अरिषड्वर्गजयस्य सत्त्वैकनिबन्धनत्वात् । अद्भुतोऽप्यन्यसत्त्वावलोकनात् सात्त्विकानां दृश्यत एवेति । इदं च मानसं कर्म विचित्राभिर्गम्भीरोक्तिभिः प्रारब्धकार्यापरित्यागात्, कार्यान्तरपरिग्रहेण सङ्ग्रामाय परोत्साहनेन सामादिप्रयोग-दैवादिना अरिसङ्घातभेदजननेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यत इति ॥५॥

अथ कैशिकी—अतिशायिनः सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः 'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्' तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी । हास्य-शृङ्गाराभ्यां स्त्रीबाहुल्य-विचित्र-प्रकाग्नेपथ्य-कामव्यवहाराणां सद्भावमाह । नाट्यं नृत्त-गीत-वादित्राणि । अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपो वाग्-वेष-चेष्टाभिः परिहासो नर्म । वाचा यथा—

"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन, स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥"

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—(विहस्य) विहङ्गराज ! निःशेषवेश्याचक्रवर्तिनीमेनां लम्बस्तनीमुपश्लोकय ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शुकः—पुण्यप्रागल्भ्यलभ्याय, वेश्या-पण्याय मङ्गलम् ।
यत्र प्रतीपाः शास्त्रस्य, कामादर्थप्रसूतयः ॥"

वेषेण यथा नागानन्दे विदूषक-शेखरक-व्यतिकरे ।

चेष्टानर्म यथा मालति(वि)काग्निमित्रे—"निपुणिका विदूषकस्योपरि सर्प-विभ्रमकारि दण्डकाष्ठं पातयति ।" इति ।

एतच्च क्वचिन्मानात्, क्वचिद् हास्यात्, क्वचित् शृङ्गार-हास्यात्, क्वचिद् भयहास्यात्, क्वचित् सापराधप्रिय-प्रतिभेदनात्, क्वचित् पूर्वनायिका-प्रतिभयादित्याद्य-नेकधा द्रष्टव्यम् ।

अत्र शृङ्गाररसेन रत्याख्यो मानसो, हास्येन नर्मभेदैश्च वाचिको, नाट्येन कायिकश्च व्यापारः सङ्गृहीत इति व्यापारत्रय-सङ्करात्मिकेयमिति ॥

अथारभटी—आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटास्ते सन्त्य-स्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादणि' आरभटी। अनृतमसत्यम् । द्वन्द्वयुद्धमनेकप्रकारम् । छद्म वञ्चनाहेतुः प्रयोगः, अनेनेन्द्रजाल-पुस्तप्रयोग-च्छेद्य-भेद्यादिग्रहः । दीप्ता रसा रौद्रादय औद्धत्यावेगादिहेतवः । अत्रानृतादिभिः विचित्रनेपथ्य-किलिञ्जहस्तिप्रयोग-मायाशिरोद-र्शनादिकम् । भय-हर्षातिशयाकुलितपात्रप्रवेशः । पूर्वनायकावस्थायाः परित्यागेन नाय-कावस्थान्तरग्रहोऽवस्कन्दाग्न्यादिकृतविद्रवादिकं विविधस्थायि-व्यभिचारिभावयुक्तं प्रसङ्गागतकार्यादिकं बाहुयुद्धशस्त्रप्रहारादिकं च सङ्गृह्यते । अत एवेयं सर्वाभिन-यात्मिका सर्वव्यापारात्मिका च । तत्र विचित्रं नेपथ्यं वेणीसंहारे अश्वत्थाम्नः । उदय-नचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः। मायाशिरोदर्शनं रामाभ्युदये । बलीमुखभयेन पात्र-प्रवेशो रत्नावल्याम् । हर्षेण वामनचेट्याः प्रवेशः सत्यहरिश्चन्द्रे । वालिनेतृत्यागेन च सुग्रीवनेत्रन्तरग्रहणम् । परशुरामस्यौद्धत्यावस्थात्यागेन शान्तावस्थान्तरग्रहणम् । विचित्रभावं कार्यान्तरं कृत्यारावणे । तथाहि अङ्गदेनाभिद्रूयमाणाया मन्दोदर्या भयम्, अङ्गदस्योत्साहोऽस्यैव रावणदर्शनेन 'एतेनापि सुरा जिताः' इत्यादि वदतो हासः, 'यस्तातेन निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' इति च जल्पतो जुगुप्सा-हास-विस्मयाः, रावणस्य रति-क्रोधौ । नियुद्धादि तु रामायणीयेष्विन्द्रजिल्लक्ष्मणयोरिति ॥६॥

अथ 'रस-भावाभिनयगाः' इत्यतो वृत्तिलक्षणात् प्रथमं रसानाचष्टे—प्रतिक्षण-मुदय-व्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयाऽवश्यं तिष्ठतीति स्थायी । यद्वा तद्-भाव एव भावात्, अभावे वा भावाद् रत्यादिर्व्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्यवश्यं स्थायी। उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीतिभावः । विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दी-पनरूपैर्बाह्यैर्हेतुभिः सत एवाविर्भावाद्, व्यभिचारिभिर्ग्लान्यादिभी रसिकमनः—शरीर-वर्तिभिः परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्षः । स्वीकृतसाक्षात्कारित्वानुभूयमानावस्थो यथासम्भवं सुखः-दुःख-स्वभावो रस्यते आस्वाद्यत इति रसः । तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शृङ्गार-हास्य-वीराद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः। यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत् प्रतीतबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते। तत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नट-शक्ति-कौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कवि-नट-शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुख-दुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुख-दुःखात्मकरसानुबिद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति। अपि च सीताया हरणम्, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणम्, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यम्, रोहिताश्वस्य मरणम्, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनम्, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः?। तथाऽनुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानुकार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युर्न सम्यगनुकरणं स्यात्, विपरीतत्वेन भासनादिति योऽपीष्टादिविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः, सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखितवार्तया सुखमभिमन्यते, प्रमोदवार्तया तु ताम्यतीति करुणादयो दुःखात्मान एवेति। विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोगसम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मकः। रसश्च मुख्यलोकगतः, प्रेक्षकगतः; काव्यस्य श्रोत्रनुसन्धायकद्वयगतो वेति। 'स्पष्टा—' इति स्पष्टाः सम्यग् निर्णीताः। असन्दिग्धं हि लिङ्गं भवति। अनुभावयन्ति परस्थानपि रसानवबोधयन्तीत्यनुभावाः स्तम्भ-स्वेदाश्रु-रोमाञ्च-भ्रूक्षेपादयस्तैर्यथासम्भवं सत्तया निश्चेयः। इह तावत् सर्वलोकसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः। सा च न प्रत्यक्षा चेतोधर्माणामतीन्द्रियत्वात्, तस्मात् परोक्षैव। परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्त्वन्तरात्। अत्र च रसे अन्यस्य वस्त्वन्तरस्यासम्भवात् कार्यमेवाविनाकृतं परगतविभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भ-स्वेदादयो भवन्तीति। नैषां रसनान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम्। तेषां परगतरसजनकत्वेनाकार्यत्वात्, नटगता हि स्तम्भादयः प्रेक्षकगतरसानां कारणम्, प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि। परोक्षं चार्थं बुभुत्सुना परोक्षार्थनान्तरीयके लिङ्गस्वरूपे निपुणेन प्रतिपत्त्रा भाव्यम्। नटेऽपि च रसं गमयन्त्येव यदा रसकार्या भवन्ति, न च नटस्य रसो न भवतीत्येकान्तः। पण्यस्त्रियो हि धनलोभेन पररत्यर्थं रतादि विप-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ञ्जयन्त्यः कदाचित् स्वयमपि परां रतिमनुभवन्ति। गायनाश्च परं रञ्जयन्तः कदाचित् स्वयमपि रज्यन्ते। एवं नटोऽपि रामादिगतं विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाणः कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्येवेति। तद्गता अपि रोमाञ्चादयस्तत्र रसं गमयेयुरेव। अत एव 'स्पष्टानुभाव—' इत्युक्तम्। रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वात् विभावमध्यवर्तिनः। प्रेक्षक-श्रोत्रनुसन्धात्रादिस्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापकाः। तत्र विभावाः परमार्थेन सन्तः प्रतिनियतविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्ययः। युवा हि रागवतीं युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयाऽऽस्वादयति। यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति, तत्र न नियतविषयः शृङ्गाररसास्वादः; विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात्। बन्धुशोकार्ता च रुदतीं स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव करुणरसास्वादः। एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष सामान्यविषयत्वं द्रष्टव्यम्। ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोत्रनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः। न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति, अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः। नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। तथा परमार्थसतामभिनयकाव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारणत्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्या(न्) प्रति क्षेपात्मेत्ययोगव्यवच्छेदेन, न पुनरन्ययोगव्यवच्छेदेन। एवं च लोके काव्ये वा सर्वरसिकसाधारणो रसास्वादो, न पुनः सर्वथाऽप्याधारानुल्लेखी। आधारोल्लेखनिरपेक्षायाश्चित्तवृत्तेः कस्याश्चिदनुपलक्षणात्। चित्तवृत्तिविशेषश्च रसः। अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव ग्राह्याः। यदा हि विभावैः स्त्र्यादिभिः काव्यनटगतैर्वाऽन्यस्य रत्यादयो रसोन्मुखत्वेनोन्मील्यन्ते, तदा यथायोगं व्यभिचारिणोऽपि तत्र प्रादुःषन्ति, नहि स्त्र्यादिचिन्तां शृङ्गारः, धृतिं हास्यः, विषादं करुणः, अमर्षं रौद्रः, हर्षं वीरः, त्रासं भयानकः, शङ्कां बीभत्सः, औत्सुक्यमद्भुतः, निर्वेदं शान्तः सहचारिणं विना प्रादुर्भवति। अन्यगतचेतसो विरक्तचेतसो वा वाक्यार्थविबोधे वनितादिदर्शनेऽपि वा चिन्ताद्यभावे रसाभावात्। सौक्ष्म्यादाशुभावाच्च क्वचिदनुपलक्षणेऽपि न दोषः। प्रादुर्भूताश्च व्यभिचारिणो रसोन्मुखं स्थायिनं पोषयन्तो रसत्वमापादयन्ति। अत एव रसत्वोन्मुखानां स्थायिनां व्यभिचारिणः सहचारिणो विभावास्तु प्राग्भाविनः। ये पुनः स्त्र्यादिगताः काव्याभिनयोपदर्शिताश्च व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसोन्मुखत्वेन स्थायिनमुन्मीलयन्ति ते विभावा एव जनकत्वात्। व्यभिचार्यनुभावव्यपदेशः पुनरेतेषां स्त्र्याद्यपेक्षया वर्णनीयानुकार्यापेक्षया च। यदप्युच्यते 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति, तत्राप्यनुभावा व्यभिचारिणश्च स्त्र्यादि-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्णनीयानुकार्यापेक्षयैव द्रष्टव्याः। तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गमः सुख-दुःखात्मा लोकस्य नटस्य काव्यश्रोत्रनुसन्धात्रोः प्रेक्षकस्य च रसः। केवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो विभावानां परमार्थसत्त्वादत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ श्यामलेनैव रूपेण विभावानामपरमार्थ-सतामेव काव्यादिना दर्शनात्। अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानुसारेणास्पष्टा एव। अत एव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते। काव्यस्य च रसाविर्भावकवि-भाववत्त्वात् सरसत्वम् न पुनः काव्यमेव रसः, काव्ये वाऽऽधारे रसः। श्रितोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूपः स्थायी भावो रसः। स चाचेतनस्य काव्यस्यात्माधेयो वा कथं स्यात्?। ततः काव्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तॄणां रसाविर्भावः। प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति, न पुनर्बहिःस्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति। अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो [रसस्य]; नहि बहिःस्थितस्य रसस्य प्रत्ययमात्रेण रसास्वादश्चर्वणात्मकः सङ्गच्छते। भयानक-करुणविभावाद्धि काव्यार्थात् प्रतिपत्तुश्चेतोधर्मतया स्थितौ भय शोकौ भयानक-करुणतया परिणमतः। यदि च प्रतिपत्तुः स्थाय्येव न रसतया भवति, तदा बहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययोऽपि न प्राप्नोति। काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्यासत्त्वात्, असतश्चापि प्रत्ययेऽहृदयस्यापि प्रतीतिः स्यात्। ततो विभावप्रतिपादक काव्यप्रतिपत्ते-रनन्तरं प्रतिपत्तुरेव स्थायी रसो भवति, तद्धेतुत्वाच्च काव्यं रसवदिति॥७॥

अथ रसभेदकथनावसरेऽपि प्रस्तावागतानामनुभावादिसंज्ञानां विषयं लक्षयति— स्थायिनामादिशब्दाद् रसभावानां च यथासम्भवं ये लोकसिद्धाः कार्यहेतुसहचारिणस्ते काव्यवर्त्मन्यभिनेयानभिनेयभेदभिन्ने यथासङ्खयमनुभाव-विभावव्यभिचारिसंज्ञाभिः कीर्त्यन्ते काव्यसंस्कारतिरस्कृतात्मभिः कदाचिल्लोकेऽप्येवं व्यवह्रियन्ते। तत्रानु लिङ्ग-निश्चयात् पश्चा[द् भाव] यन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः। वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्त्याविर्भावनाविशेषेण प्रयोज-यन्तीत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः। रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशि-ष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्त्तन्त इति व्यभिचारिणः। आभिमुख्यं च पोषकत्वं च यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः स्वविभावव्य-भिचारिणः भावे भावात्, अभावेऽभावाच्च। रसायनमुपयुक्तवतो हि ग्लान्यालस्य-श्रम प्रभृतयो न भवन्त्येव। तत्र स्थायिनो रत्यादयः संविदात्मकत्वादजडा एव। धैर्यादीनां स्वेदादीनां चानुभावानां वनिताऽऽदीनां पर्वतादीनां च विभावानां निर्वेदादीनां व्याध्या दीनां च व्यभिचारिणां यथासङ्खयं संविन्मयत्व-शरीरधर्मत्वादिना जडाजडात्मकत्वम्। एते चानुभावादयः स्थायिनं प्रति कार्य-कारणसहचारिरूपत्वादेवाप्रधानम्। स्थायी तु प्रकर्षप्राप्त्यैषां प्रच्छादकत्वात् प्रधानम्। तथा व्याघ्रादेर्विभावस्य क्रोध-भयाविर्भावकत्वात् श्रम-चिन्ताऽऽदेश्च व्यभिचारिणो भयोत्साहादिपोषकत्वात् स्तम्भ-वेपथु-स्वेदादेश्चानु-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भावस्य शृङ्गार भयानकादिजत्वात् क्वचिदपि न पार्थक्ये नियमः, सामग्रीपतितस्य तु नियम इति सामग्र्येवैषामाविर्भाविका पोषिका ज्ञापिका चेति ॥८॥

अथ प्रस्तुतानेव रसभेदानाह—तत्र कामस्य सर्वजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचित-तया च सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। ततः शृङ्गारानुगामित्वाद् हास्यः। ततो हास्यविरोधित्वात् करुणः। कामस्य चार्थजत्वात् ततोऽर्थप्रधानो रौद्रः। कामार्थयोश्च धर्मजन्यत्वात् ततो धर्मप्रधानो वीरः। अस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् ततो भयानकः। भीतस्य च सात्त्विकैर्जुगुप्सनीयत्वात् ततो बीभत्सः। बीभत्सस्य च विस्मयेनापनीयमा-नत्वात् ततोऽद्भुतः। धर्मस्य च शममूलत्वादन्ते शम इति। एते शृङ्गारादयो नवैव रसा रञ्जनाविशेषेण पुरुषार्थोपयोगाधिक्येन च सद्भिः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टाः। सम्भवन्ति त्वपरेऽपि यथा गर्द्धस्थायी लौल्यः, आर्द्रतास्थायी स्नेहः, आसक्तिस्थायि व्यसनम्, अरतिस्थायि दुःखं, सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि। केचिदेषां पूर्वेष्वेवान्तर्भावमाहु-रिति ॥९॥

अथ सभेदं शृङ्गारं निरूपयति—विलासिनोरन्योन्यानुकूलवर्तिनोः प्रेमपरयोर्यद् दर्शन-स्पर्शनादिः, स सम्भोगः। परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः। एतौ द्वावप्यवस्थाविशेषावात्मा स्वभावो यस्यावस्थातुर्दं-शाद्वयानुयायिन आस्थाबन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृङ्गारस्य, तेन शृङ्गारस्य नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शावलेय-बाहुलेयावपि तु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसम्भावनासद्भावाद्, विप्रल-म्भेऽपि मनसा सम्भोगानुवेधादुभयसंवलितस्वभावः शृङ्गारः। उत्कटत्वाच्चैकदेशेऽपि सम्भोगशृङ्गारो विप्रलम्भशृङ्गार इति चोपचारेणोच्यते। अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः। यथा—

"एकस्मिन् शयने ~~पराङ्~~मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतोः,
अन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषोः,
भग्नो मानकलिः सहास-रभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥"

अत्र ईर्ष्याविप्रलम्भ-सम्भोगयोर्विभावादिकृता सातिशया चमत्कृतिः। प्रथमः सम्भोगाख्यो बहुः परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रवक्रोक्त्यादिभेदतोऽनन्तप्रकारः। यथा—

"किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्,
अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः,
अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥" इति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपरो विप्रलम्भः। ईर्ष्या-प्रणयभङ्गाभ्यां वैमनस्यं मानः। यथा—

"याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां,
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद् गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम्॥"

सन्निहितदेशस्यापि रूपान्तरापादनं शापः। यथा कादम्बर्यां महाश्वेतया वैशम्पायनस्य शुकरूपापादनम्। मातापित्रादिपारतन्त्र्याद् भाविनवसङ्गमयोः सङ्गमाभिलाष इच्छा। यथा—

"उद्धच्छो पियइ जलं, जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिया वि तह तह, धारं तणुअं पि तणुएइ!॥"

यथा वाऽस्माकं सुधाकलशे—

"रत्थाइ संचरंतं, नियच्छिउं पाडिवेसियज्जुयाणं।
कम्मयरीकम्मं पि हु, धणवइधूआ सयं कुणइ!॥"

सम्भूतभोगयोर्मात्राद्यभावेऽपि कार्यान्तरव्यापृततयाऽननुसर्पणं विरहः। यथा—

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्,
यो मां नेच्छति नागतश्च स हहा! कोऽयं विधेः प्रक्रमः?।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे,
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि॥"

इति॥१०॥

अथोभयात्मनोऽपि शृङ्गारस्य विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

इह शृङ्गारे स्त्री-पुंसौ परस्परं मुख्यविभावौ। तयोश्चोत्तमप्रकृतिकयोरुपयोगी काव्यादिः। काव्यं च सरसमभिनेयानभिनेयभेदभिन्नम्। गीतेन वाद्य-नृत्ताद्यपि गृह्यते। ऋतवो वसन्ताद्याः। माल्येन विलेपन-ताम्बूल-विशिष्टभवनादि लक्ष्यते। वेषो विशिष्टवस्त्राभरणादि नेपथ्यम्। इष्टो विदूषक-चन्द्रोदय-चक्रवाक-हंसालेख्यादिः। यद्वा नयन-वदन-प्रसाद-स्मित-मनोज्ञाङ्गविकार-वक्रोक्त्यादयो ग्लान्यालस्य-श्रमादयश्चेष्टाः। एवंविधा हि विकाराः परस्परं स्त्री-पुंसयोरिष्टा भवन्ति। केलयः पुष्पावचयोपवनगमनजलक्रीडाऽऽदयश्चेष्टाविशेषाः। एवमन्येऽप्युपलक्षणादेवंविधा विभावा द्रष्टव्याः। एभ्यो यथायोगमुभयात्मापि जायते। रतिस्थायी शृङ्गारः। स च शृङ्गारो लब्धसत्ताकः सन्नभिनेयो वाचिक-सात्त्विकाङ्गिकाहार्याभिनयैर्नटेन सामाजिकानां साक्षाच्चर्वणागोचर उत्साहादिभिः कर्तव्यः। उत्साहो नयन-वदनप्रसादकारी चित्तोल्लासः। अयं च स्थाय्यपि वीरस्यात्रागन्तुकत्वादनुभावः। एवं रसान्तरं प्रति व्यभिचारित्वमपि स्थायिनां सहचारितया भवत्येव। अस्य च स्था[य्य]नुभावाभिनयद्वारेणात्राभिनयहे-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तुत्वम् । एवं रत्यादावपि वाच्यम् । तपोऽभिमताप्राप्तेः काय-मनःपीडा । मन्युरीर्ष्या प्रणयभङ्गाभ्यां चित्तोद्वेगः । उत्साह चाटुभ्यां नयनचातुर्य-भ्रूक्षेप (प)रस्याङ्गविकारादिः सम्भोगश्शृङ्गारस्यानुभावः सूचितः । तापाश्रु-मन्युभिः पुनः परिदेवनादिर्विप्रलम्भश्शृङ्गार-स्यानुभावो लक्षितः । तत्र सम्भोगे सुखमया धृत्यादयो व्यभिचारिणः, विप्रलम्भे त्वालस्यौ+ग्रच-जुगुप्सा-वर्जा निर्वेदादयो दुःखप्राया इति ॥११॥

अथ हास्यः—विकृतः प्रकृति-देश-काल-वयोऽवस्थादिविपरीतः । अङ्गस्य च विकृतत्वं विरूपो व्यापार, खञ्ज-कुण्टत्वादि वा । उपलक्षणाच्च धाष्टर्य-लौल्यादीनाम-नुचितानां मर्मोद्घटनान्यहसनावलोकनादेश्च ग्रहः । विस्मापनं कक्षा-नासावादन-ग्रीवा कर्ण-चूडा-भ्रूनर्तन-परभाषाऽद्यनुकरणादिकं विटचेष्टितम् । एभ्यः स्वपरस्थेभ्यो हासस्थायी हास्यरसः प्रादुरस्ति । नासया गण्डौष्ठादयोऽश्रुणा चाकुञ्चन-प्रसारणादयो नेत्रविकारा जठरग्रहेण पार्श्वग्रह-करताडनमुखरागादयः सङ्गृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चा-स्यावहित्था-हर्षोत्साह-विस्मयादय इति ॥१२॥

अथास्य भेदानुपदिशति—तत्र हसनं मधुरस्वरं सास्यराग-समयप्राप्तं च विह-सितम् । सांस शिरःकम्पमुपहसितम् । एतौ भेदौ मध्यमप्रकृतौ । अलक्षितद्विजं स्मितम् । किञ्चिल्लक्ष्यदन्तं हसितम् । इमौ भेदावुत्तमप्रकृतौ । अनवसरप्राप्तं साश्रु-नेत्रमुत्कम्पितांस-शिरश्चापहसितम् । करोपगूढपार्श्वं विक्रुष्टस्वरमुद्धतं चातिहसितम् । अमू भेदावधमप्रकृतौ । एवं षडेते हास्यभेदाः । अयं च हास्यो रसः प्रायो बाहुल्येनाध-मप्रकृतौ पामरप्राये भवति । स्ववर्गापेक्षया च स्त्रियाः प्राधान्येऽपि, पुरुषापेक्षयाऽधमत्वे-वेति तस्यामपि । एवं करुण-भयानक-बीभत्साद्भुता अप्यधमप्रकृतौ भूयस्त्वमनुभवन्ति । पामरप्रायः सर्वः प्रकर्षेण हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते, स्वल्पेनापि सुभाषि-तेन सर्वत्र विस्मयते इति ॥१३॥

अथ करुणः—शापोऽभिमतवियोगहेतुर्दिव्यप्रभाववत आक्रोशः । व्यसनमनर्थः । अनेक देशोच्चाटनादेर्जातं विप्लवजातं सङ्गृह्यते । एभ्यो विभावेभ्यः शोकस्थायी करुणो रसः सम्भवति । बाष्प-वैवर्ण्याभ्यां निःश्वास-मुखशोष-स्मृतिलोप-स्रस्तगात्रताऽऽदयोऽनु-भावाः सूचिताः । निन्दनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भः । अनेन रुदित-प्रलपितोरस्ता-डनादि गृह्यते । व्यभिचारिणस्तस्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्तौत्सुक्य-मोह-श्रम-भय-विषाद दैन्य व्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-वैवर्ण्याश्रु-स्वरभेदादय इति ॥१४॥

अथ रौद्रः—परमविदारयतो विदारयतश्च शस्त्रादिव्यापारणं प्रहारः । अनेन गृह-भृत्याद्युपमर्दनस्य ग्रहः । असत्येन वध-बन्धाद्यभिधाय[क]-वाक्पारुष्यस्य [ग्रहः] । गुणेष्वसूया मात्सर्यम् । द्रोहो जिघांसा । दारादिखलीकार-विद्या-कर्म-देश-जात्यादि-निन्दा राज्यसर्वस्व-हरणादिराधर्षः । अन्यायोऽपनीतिः । अनेनौद्धत्यं सूचितम् । एतेभ्यो विभा-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेभ्यः क्रोधस्थायी रौद्रो रसो जायते। घातेन छेदन-भेदन-रुधिराकर्षणादिरनुभावो गृह्यते। दन्तौष्ठ-पीडनेन गण्डौष्ठस्फुरण-हस्ताग्रनिष्पेषाद्यनुभाववृन्दं सूच्यते। व्यभिचारिणश्चास्य मोहोत्साहावेगामर्ष-चापलौग्र्य-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्चादय इति। स्थायिनोऽपि चोत्साहादयो रसान्तरं प्रति व्यभिचारितां स्वीकुर्वन्ति। स्तंम्भ-स्वेदादयश्च न रसकार्या व्यभिचारिणः, किन्तु स्थायिकार्या इति ॥१५॥

अथ वीरः – प(राक्रमः प)रकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम्। बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन-धान्यमन्त्र्यादिसम्पत्, शारीरिकी शक्तिर्वा। न्यायः क्षमादीनां सम्यक्प्रयोगः। अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते। यशः सार्वत्रिकी शौर्यादिगुणख्यातिः। अनेन शत्रुविषये सन्तापकर्तृत्वप्रसिद्धिरूपः प्रतापो गृह्यते। तत्वं याथात्म्यं तस्य विनिश्चयः। एवमादिभिर्विभावैरुत्साहस्थायी वीररसः सम्भवति। स चानेकधा युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जनाद्युपाधिभेदात्। धैर्यं महत्यपि परसैन्ये विपदि वाऽकातर्यम्। अनेन सैन्योत्तेजन-पराक्षेपादेरनुभावस्य ग्रहः। दानेन प्रमोद-माध्यस्थ्य-शान्तचेष्टाऽऽदेः। व्यभिचारिणश्चास्य धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्ष स्मृति-रोमाञ्चादयः। वीररसे च युद्धादिभावेऽपि न रौद्रत्वम्, उत्साह-न्यायप्रधा [नत्वा]त्। रौद्रे तु मोहाहङ्कारापन्यायप्राधान्यमित्यनयोर्न साङ्कर्यमिति ॥१६॥

अथ भयानकः—रौद्राः स्वराकार-वैकृत्येन भीषणाः पिशाचोलूकादयः। आजिः शस्त्राघातः, अयं चोपलक्षणं वध-बन्धयोः शून्यं निर्जनं गेहारण्यादि। दोषो गुरु-नृपादेरपराधः। एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्याश्चिन्त्यमानेभ्यो वा विभावेभ्यो भयस्थायी भयानको रसो जायते। गात्रस्याचलनं स्तम्भः। कम्पनं कर-चरणादीनां प्रवेपनम्। एभिर्गात्र-मुख-दृष्टि-विकारगलशोष-वैवर्ण्य-मूर्छाऽऽदयोऽनुभावाः सङ्गृह्यन्ते। व्यभिचारिणश्चास्य शङ्का मोह-दैन्यावेगचपलता-त्रासापस्मार-मरण-स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्च-वेपथु-स्वरभेद-वैवर्ण्यादय इति ॥१७॥

अथ बीभत्सः—जुगुप्सनीया मालिन्य-कुथितत्व-दुर्गन्धित्व-कर्कशत्वादिभिरमनोज्ञा रूपादयो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दलक्षणा विषयाः। परस्य विपक्षस्य श्लाघा स्तुतिः। एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्यो विभावेभ्यो जुगुप्सास्थायी बीभत्सो रसः समुद्भवति। परश्लाघायां हि विशेषतो दोषदर्शनेन जुगुप्सते। निष्ठेवः कफनिरसनम्। उद्वेगो गात्रधूननम्। निन्दनं दोषोद्घट्टनम्। एभिर्गात्रसङ्कोचन-मुखविकूणन-नासा-कर्ण-प्रच्छादन-हृल्लेखादिरनुभावः सूच्यते। व्यभिचारिणश्चास्य व्याधि-मोहावेगापस्मार-मरणादय इति ॥१८॥

अथाद्भुतः—दिव्याः शक्रादयः। इन्द्रजालं मन्त्र-द्रव्य-हस्तयुक्त्यादिनाऽसम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम्। रम्यः सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः शिल्पकर्म-रूप-वाक्य-गन्ध-रस-स्पर्श-नृत्त गीतादिकस्तस्य दर्शनं साक्षात्कारः। अनेन स्वयं कीर्तनं श्रवणं च गृह्यते। अभीष्टमत्यन्तमीप्सितम् तस्य सिद्धिः प्राप्तिर्निष्पत्तिर्वा। एवमादिभ्यो विभावेभ्यो विस्मयस्थायी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अद्भुतो रसो भवति । हर्षेण स्वानुभावाः सूच्यन्ते । एभिर्नयनविस्तार-गात्रोल्लुकसना-निमिषप्रेक्षण-चेलाङ्गुलिभ्रमण-गद्गदवचन-वेपथु-स्वेदादेरनुभावस्य ग्रहः । व्यभिचारिणश्चास्यावेग-जडतां-सम्भ्रम-स्तम्भाश्रु-गद्गद-रोमाञ्चादय इति ॥१९॥

अथ शान्तः—देव-मनुष्य-नारक-तिर्यग्रूपेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् । भयम् । वैराग्यं विषयवैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्य-पापादिरूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतुप्रतिपादकस्य विमर्शनं पुनः पुनश्चेतसि न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः काम-क्रोध लोभ-मानमायाऽऽद्यनुपरक्तपरोन्मुखताविवर्जिताक्लिष्टचेतोरूप-शमस्थायी शान्तो रसो भवति । तर्जनवध-बन्धादिसहनं क्षमा । ध्यानं जीवाजीवादितत्त्वभावनम् । अनेन स्वानुभावा निश्चलदृष्टितादयः सूचिताः । उपकारेण मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यादयोऽनुभावा गृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयः । अयं च कैश्चिन्नोक्तः, तेषां सकलक्लेशविमोक्षलक्षण-मोक्षपुरुषार्थपराङ्मुखत्वमेव दूषणमिति ॥२०॥

अथ काव्येषु रसनिबन्धेऽवहितैर्भाव्यमित्युपदिशति—शब्दार्थावभिनेयानभिनेय-भेदस्य काव्यस्य वपुः शरीरम् । रसाः पुनः प्राणाः, तैर्विभावो निबन्धन(क)रणोपनीतैः सहृदयहृदयेषु काव्यं विसर्पति । तेन हेतुना कविम्मन्यानामञ्जसा मुख्यतो रसेषु सौहार्दं प्रीतिः । रसाविर्भाविना प्रयत्नेनैवोपनीतस्यालङ्कारस्यापि निबन्धः स चेतश्चमत्करोत्येवेत्यञ्जसेत्युक्तम् । यथा—

"कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥"

यथा राघवाभ्युदये—

"तल्लावण्यमनन्यवृत्ति वचसां तत् कौशलं पेशलं,
तद् सौभाग्यमभाग्यमर्त्यविमुखं तद् यौवनं पावनम् ।
एकेन प्रियसङ्गमेन मनसो विश्रामधाम्ना विना,
व्यर्थं सा हृदि सर्वमेव मनुते व्यालोलनेत्रोत्पला ॥"

यथा वाऽस्मदुपज्ञे मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे मकरन्दः—

"आस्यं हास्यकरं शशाङ्कयशसां बिम्बाधरः सोदरः,
पीयूषस्य वचांसि मन्मथमहाराजस्य तेजांसि च ।
दृष्टिर्विष्टपचन्द्रिका स्तनतटी लक्ष्मीनटीनाट्यभूः,
औचित्याचरणं विलासकरणं तस्याः प्रशस्याबधेः ॥"

यथा वाऽस्मदुपज्ञायां वनमालायां नाटिकायाम्—

"राजा—(दमयन्तीं प्रति)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलेयं,
कम्पः किमेष पदमोष्ठदले बबन्ध ?।
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य,
वक्त्रस्य कुङ्कुममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम् ?॥"

एषु रसप्रयत्नेनैव शब्दार्थालङ्कारलाभ इति ॥२१॥

अमुमेवार्थं द्रढयति—न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दग्रथनमेव काव्यम्, तर्क-व्याकरणयोरपि तथाभावप्रसङ्गात्, किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः। विपाक-कमनीयमपि सहकारफलं विरसमुद्वेगमावहति। अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमक-श्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ॥२२॥

अथ विरुद्धरसानां विरोधे व्यवस्थामाह—एकस्मिन्नाश्रये नायकादौ तस्मिन्नेव प्रक्रमे परस्परविरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु भिन्ने। यथाऽर्जुनचरिते—

"समुत्थिते धनुर्ध्वनौ, भयावहे किरीटिनः।
महानुपप्लवोऽभवत्, पुरे पुरन्दरद्विषाम् ॥"

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानकः।

यथा वा—

"दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥"

अत्र तस्मिन्नेव प्रक्रमे मुनि-कामुकयोर्भिन्नयोर्न शृङ्गार-शान्तौ विरुद्धाविति।

तथा स्वैरिणोः स्वतन्त्रयोः सतोर्विरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु परतन्त्र-स्वतन्त्रयोर्मुख्यस्यायत्तयोर्वा। यथा—

"कुरबक ! कुचाघातक्रीडा-सुखेन वियुज्यसे,
बकुलविटपिन् ! स्मर्तव्यं ते मुखासव-सेचनम्।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक ! सशोकताम्,
इति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥

अत्रोद्दीपनविभावैः कुरबकादिभिरुद्दीप्यमानः शृङ्गारो विशेषतः करुणं स्वतन्त्रमङ्गिनं द्विषत्स्त्रीणां पोषयति।

यथा वा—

अयं स रस(श)नोत्कर्षी, पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरु-जघनस्पर्शी, नीवीविस्रंसनः करः ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि पतितबाहुदर्शनेन तत्प्रियाणां शृङ्गारः स्मर्यमाणः करुणं पोषयति।

मुख्यस्यायत्तौ यथा—

"क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतो व्याददानोंऽशुकान्तम्,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साक्षनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥"

अत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुण-शृङ्गारावङ्गभूतौ। परस्परविरोधेऽपि चान्यमुखप्रेक्षित-पारतन्त्र्यदुःखाभिघातेन स्वात्मपुष्टिमलभमानयोर्नृपसमीपस्थिताततायिद्वयवत् कुतः करुण-शृङ्गारयोर्घात्य-घातकभाव इति।

तथैकाश्रययोरपि तुल्यबलयोर्विरोधो न तु हीनाधिकबलयोः। यथा पुरूरवाः प्राह—

"क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा!,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो! कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः! स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति?॥"

अत्र शृङ्गार-शान्तयोर्न परस्परमङ्गाङ्गिभावोऽपोष्यपोषकत्वात्। तृतीयस्याभावादङ्गभावोऽपि नास्ति, किन्तु स्वतन्त्रौ, तथापि न विरोधः; शान्तस्यागन्तुकत्वेनाल्पबलत्वात्। अत एवात्र पर्यन्ते शृङ्गारे विश्रान्तिः। एवमन्यत्राप्युदाहार्यम्।

तथैकाश्रययोः स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्विरुद्धयोर्योगे नैरन्तर्ये विरोधः, न त्वविरुद्धेन रसान्तरेण व्यवधाने। यथा नागानन्दे—

"रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः।"

इत्यादिनोपक्षेपात् प्रभृति शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारः। 'अहो! गीतमहो! वादित्रम्' इत्यादिनाऽद्भुतमन्तरे कृत्वा निबन्धः। एवमन्येष्वप्युदाहार्यमिति। विभाव-व्यभिचारिणां तु रसानुरोधेन विरोधः परिहारश्च द्रष्टव्यः।

अथ रसदोषानाह—सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यं, तच्चानेकधा। तत्र क्वचित् प्रतिकूलविभावनिबन्धो यथा—

"त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते, स्मरमते रमते स्म वधूजनः॥"

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशरूपो विभावो निबद्धः।

क्वचिदकाण्डे प्रथनम्। यथा वेणीसंहारे धीरोद्धतप्रकृतेरपि दुर्योधनस्य भीष्मप्रमुखमहावीरलक्षक्षयकारिणि प्रवृत्ते समरसंरम्भे भानुमतीं प्रति शृङ्गारवर्णनम्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

क्वचिदकाण्डे विच्छेदो यथा वीरचरिते राघव-भार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तिः।

क्वचिदुत्तमाधम-मध्यमानां प्रकृतीनामन्यथा वर्णनम्। यथोत्तमानां हास्य-बीभत्स करुणभयानकाद्भुतप्रकर्षः, मध्यमाधमानां त्वग्राम्यः शृङ्गारः, वीर-रौद्र-शान्तप्रकर्षश्च। उत्तमेष्वपि दिव्येषु सम्भोगशृङ्गारवर्णनं पित्रोः सम्भोगवर्णनसमं यथा कुमारसम्भवे उमा-महेश्वरयोः। अदिव्येषूत्तमेष्वपि सद्यःफलदक्रोध-स्वः-पातालगमन-समुद्रलङ्घनाद्युत्साह-वर्णनम्। धीरोदात्तधीरोद्धत-धीरललित-धीरशान्तेषूत्तमेव वीर-रौद्र-शृङ्गार-शान्तानाम-वर्णनं विपरीतरसवर्णनं वा। मध्यमाधमेषु त्वेषु वीरादिरसप्रकर्षवर्णनम्।

क्वचिद् वर्ण-समासान्यथाप्रथनम्। तत्र दीप्तेषु रसेषु संयुक्तैर्मूर्द्धन्यैश्च वर्णैः समासदैर्घ्येण च प्रायः प्रसन्नो मसृणश्च बन्धः। अदीप्तेषु तु शृङ्गार-हास्य-करुण-शान्तेषु मूर्द्धस्थवर्गपञ्चमैर्ह्रस्वैश्च वर्णैरसमासेन मध्यसमासेन च प्रायः प्रसन्नो बन्धः। सर्वेषु च प्रसिद्धैरक्लिष्टैरग्राम्यैः पुष्टार्थैः पदैर्न्यासः।

क्वचिदुत्तमस्योत्तमनायिकायां व्यलीकसम्भावना। क्वचिन्नायिकापादप्रहारादिना नायकस्य कोपः। क्वचिद् वयो-वेष-देश-कालावस्था-व्यवहारादीनामन्यथा वर्णनम्। एवमन्यदपि यमक-श्लेष-चित्रादिकमृतु-समुद्रादि-चन्द्रार्कोदयास्तादिप्रकर्षवर्णनं च रसान-ङ्गमनौचित्यं द्रष्टव्यमिति।

अथाङ्गौग्र्यम्। अङ्गस्य मुख्यरसपोषकतया अवयवभूतस्यौग्र्यं विस्तरेणोत्कटत्वं दोषः। यथा कृत्यारावणे जटायुवध-लक्ष्मणशक्तिभेद-सीताविपत्तिश्रवणेषु रामस्य मुहुर्मुहुः करुणाधिक्यम्। अङ्गभूतो हि रसो न धाराधिरोहमर्हति, अन्यथाऽङ्गिनं वीररसं तिरोदधीत। केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायक-स्याल्पवर्णनात्। तत्र हि वीरो रसः, स विशेषतो वध्यस्य शौर्य-विभूत्यतिशयवर्णनेन भूष्यत इति।

अपोष इति धाराऽनधिरोहणमपोषो दोषः। यथा—

"बीभत्सा विषया जुगुप्सिततमः कायो वयो गत्वरम्,
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो वियोगावहः।
हातव्योऽयमसम्भवाय विरसः संसार इत्यादिकम्,
सर्वस्यापि हि वाचि (चे)तसि पुनः कस्यापि पुण्यात्मनः॥"

अत्र कविना वाचीत्युपनिबध्नता विषय-बिभत्सत्वादीनां शान्तजननं प्रति मन्द-त्वमुक्तम्, अन्यथा सर्वस्य चेतस्यपि स्यात्। अपोषश्चाङ्गिनोऽङ्गाङ्गिभाववर्जितस्य वा मुक्तकोपात्तस्य अङ्गभूतस्यापोष पुनरदोष एवेति।

अत्युक्तिरिति धाराधिरूढस्यापि रसस्य नैरन्तर्येण पुनः पुनरुद्दीप्तिर्दोषो यथा कुमारसम्भवे रतिप्रलापेषु। लब्धपरिपोषो हि रसः पुनः पुनः परामृश्यमानो म्लायती-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

माल्यमिव म्लायति । अत एव प्रकर्षप्राप्तरसविशिष्टानां कवीनामल्पीयानेव वाग्विलास इति ।

अङ्गिभिदिति बहुरसे प्रबन्धे अवयवभूतरसापेक्षयाऽङ्गिनोऽवयविभूतस्य रसस्य भिदननुसन्धानं दोषः । अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं रसपोषस्य, स्मृत्यभावे पुनरपोष एव । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमनात् सागरिकाविस्मृतिरिति ।

अङ्गाग्र्यादयश्च दोषाः परमार्थतोऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्य-व्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः । केचित् तु 'व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषम्' आहुस्तदयुक्तम्, व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टेः ।

"दूराद्दुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किं चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो ! प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥"

इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायं तस्मादव्युत्पन्नोक्तित्वादवक्रोक्तिरेवेयम् ।

एवमुभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधिगमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव । यथा—

"परिहरति रतिं मतिं लुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति वत विषमा दशा स्वदेहं, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ? ॥"

अत्र म(र)तिपरिहारादीनां विभावानां करुणादावपि सम्भवात् शृङ्गारं प्रति भावत्वसन्देह इति ॥२३॥

अथ वृत्तिलक्षणे रसानन्तरमुद्दिष्टानां भावानामवसरस्तत्रापि रसानुरोधेन प्रथमं स्थायिन उच्यन्ते—स्त्री-पुंसयोरास्थाबन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वङ्गो रतिः । एषा च कामावस्थाऽनुवर्तिन्या अभिलाषमात्रसाराया व्यभिचारिण्याः, देवतादिषु बन्धुषु मनोहर-वस्तुषु च प्रीतिरूपायाश्च रतेर्विलक्षणैव । रञ्जनोन्मादानुविद्धश्चित्तस्य विकासो हासः । निर्वेदानुविद्धं दुःखं शोकः । अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापावेशः क्रोधः । धर्म-दान-युद्धादिकर्मण्यनालस्यमुत्साहः । वैक्लव्यं भयम् । कुत्सितत्वाध्यवसायो जुगुप्सा । उत्कृष्टत्वाध्यवसायो विस्मयः । निःस्पृहत्वं शमः । रसानां शृङ्गारादीनां स्थायिनः परिणामिकारणानि क्रमाद् इति रसोद्देशक्रमेण, तेनामी रसान्तराणां व्यभिचारिणो-ऽनुभावाश्च भवन्ति, तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् । सहभावित्वेन पोषकत्वे व्यभिचारिता, कार्यत्वे त्वनुभावता । तथैषां विभावा अनुभावाश्च ये शृङ्गारादिषु रसेषूक्तास्त एवेति न पृथगुच्यन्ते ॥२४॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रयस्त्रिंशद् इति द्वन्द्वानुवादमात्रम्, अन्येऽपि पुनः सम्भवन्ति यथा क्षुत्-तृष्णा-मैत्रीमुदिता-श्रद्धा-दयोपेक्षा-रति-सन्तोष-क्षमा-मार्दवार्जव-दाक्षिण्यादयः, तथा स्थायिनोऽनुभावाश्चेति। यथायोगम् इति रसौचित्यानतिक्रमेण। तेन केचित् साधारणाः, केचित् पुनरसाधारणाः। एतच्च यथारसं निर्णीतमेवेति ॥२५-२७॥

अथैषां प्रत्येकशः स्वरूपप्रतिपादकं लक्षणमुच्यते क्लेशा दारिद्र्य-व्याध्यपमानेर्ष्या-श्रमाक्रोश-ताडनेष्टवियो[ग]-परविभूतिदर्शनादयः। तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैर्यद् वैरस्यं स निर्वेदः, स च निःश्वास-सन्तापयोरुपलक्षणत्वादन्येषां च चिन्ताऽश्रु-वैवर्ण्य-दैन्यादीनामनुभावानां कारक इति। अयं च रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी, न स्थायी। एवमन्येष्वपि वाच्यम्। मम्मटस्तु 'व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, प्रतिकूलविभावादिग्रह इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च' ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।

अथ ग्लानिः—पीडा व्याधि-वमन-विरेक-क्षुत्-पिपासाऽऽदिभिरनेकधा काय-मनोदुःखम्। आयासा व्यायामाध्वगति-सुरतादिभिः, कायक्लेश-पीडा-जराऽऽयासैः, उपलक्षणादन्यैश्च निद्रोच्छेद-मनस्तापादिभिर्विभावैर्याऽशक्तिः सामर्थ्याभावः सा ग्लानिः। सा च कार्श्यं कायक्षामता। कार्श्य-कम्पौ उपलक्षणत्वात् क्षामवाक्य-मन्दपदोत्क्षेप-वैवर्ण्यानुत्साहादींश्चानुभावान् भजत इति ॥२८॥

अथापस्मारः—ग्रहाः परग्रहणशीलाः पिशाचाद्याः। धातुवैषम्यं दोषः। बहुवचना-दुच्छिष्टशून्यस्थानसेवनाशुचिसम्पर्कादिर्यद् वैकल्यं कृत्याकृत्याविवेचकत्वं सोऽपस्मारः। निन्द्यं विगर्हितं सहसा भूमिपात-फेनमोक्ष-निश्वसन-धावन-प्रवेपन-स्तम्भ-स्वेदादिकं चेष्टितमत्रेति ॥

अथ शङ्का—दौरात्म्यम् अकार्यकरणम्। उपलक्षणत्वाच्चास्य सादृश्यादयोऽपि विभावा ग्राह्याः। दोलनं क्षोभ-सन्देहाभ्यामनवस्थितत्वं चेतसः। आदिशब्दान्मुहुरवलोकनावगुण्ठन-मुखौष्ठकण्ठशोष-जिह्वापरिलेहन-वेपथु-चलदृष्टित्वादयोऽनुभावा गृह्यन्ते इति ॥२९॥

अथासूया—आदिशब्दादपराध-गर्व-परसौभाग्यैश्वर्य-विद्या-लीलादर्शनादिग्रहः। सद्गुणा ज्ञानक्रियाऽऽदयो विशिष्टधर्माः। एषा च दोषान् वञ्चकत्वादीन् असतः सतो वा दर्शयति। उपलक्षणाद् भ्रूभङ्गावज्ञा-गुणनिह्नव-मन्यु-क्रोधादयोऽनुभावा गृह्यन्त इति।

अथ मदः—ज्येष्ठ उत्तमः। आदिशब्दान्मध्यमाधमौ गृह्येते। निद्रया स्मित-मधुरास्यराग-रोमहर्षदव्याकुलवचन-सुकुमारगत्यादयः, हास्येन स्खलन-घूर्णन-बाहुस्रंसन-कुटिलगमनादयः, अश्रुणा च निष्ठीवन-जिह्वास्खलन-स्मृतिनाश-गतिभ्रंश-छर्दित-हिक्का-कफादयो गृह्यन्ते। क्रमाद् इति उत्तमादौ यथासङ्ख्यं निद्रादयोऽनुभावाः। नार्ये च

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रञ्जनानिमित्तमापानमपि क्वचिदभिनीयते। तत्र च मदो व्यभिचारी सम्भवति। यत् पुनः पात्रं पीतमद्यमेव प्रतिशति, तस्य त्रासादिना-मदोऽपनेयोऽन्यथा कार्यव्याघातः स्यादिति ॥३०॥

अथ श्रमः—आदिशब्दादध्वगति-व्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः। सादोऽङ्गादीनां शोषः। द्वितीयादिशब्दान्मुखविकूणन-विजृम्भणाङ्गमर्दन-मन्दपदोत्क्षेपादेरनुभावस्य ग्रह इति।

अथ चिन्ता—आधिर्मानसी पीडा। प्रियस्येष्टस्याप्राप्तिरप्रियप्राप्तिर्वा प्रियानाप्तिः। शून्यता विकलेन्द्रियता उपलक्षणत्वादेकाग्रदृष्टित्व-स्मृत्यादयोऽप्यनुभावा इति ॥३१॥

अथ चापलम्—साहसम् अविमृश्यकारिता। आदिशब्दाज्जाड्यादेर्ग्रहः। स्वैरित्वं स्वच्छन्दाचारः। आदिशब्दाद् वाक्पारुष्य-ताडन-वध-बन्धादेरनुभावस्य ग्रह इति।

अथावेगः—सम्भ्रमः सङ्क्षोभः। अतर्क्यमचिन्तितोपनतमिष्टमनिष्टं च। तत्रेष्टं देवता-गुरुमान्य-वल्लभ-सम्पच्छ्रवण-दृष्ट्यादि। अनिष्टमग्नि-भूकम्पाद्युत्पात-वात-वर्ष-कुञ्जर-चौर-सर्पामनोज्ञ-श्रवण-दर्शनादि। तत्राभ्युत्थान-पुलकालिङ्गन-वस्त्रादि-प्रदानादयः प्रियाः, सर्वाङ्गस्रस्ततामुखवैवर्ण्य-पिण्डीभाव-प्रधावनाकुलनेत्रता-त्वरितापसरण-पश्चादवलोकन-शस्त्रादिग्रहणोर्वीपतनकम्प-स्वेद-स्तम्भादयोऽप्रियाश्चाङ्गिकाः। हर्ष-विस्मयादयः प्रियाः, शङ्का-विषाद-भयादयोऽप्रियाश्च मानसाः। स्तुति-चाटुकाराशंसावाच्यादयः प्रियः, क्रन्दन-परिदेवनासम्बद्धवचनादयश्चाप्रिया वाचिका विकारा यथायोगं प्रियाप्रियातर्क्यवस्तुजावेगस्यानुभावाः सर्वेऽप्येते विकारा उत्तमस्य स्थैर्यानुविद्धाः, नीचस्य तु चापलानुविद्धा इति ॥३२॥

अथ मतिः—नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा प्रतिभानम्। शास्त्रं शास्त्रविषयं चिन्तनम्। तर्कौ विधि-निषेधविषयौ सम्भावनाप्रत्ययावन्वय-व्यतिरेकप्रत्ययौ वा। भ्रान्तिः संशयो विपर्ययो वा। आदिशब्दादुपदेशादिग्रह इति ॥

अथ व्याधिः—दोषाः कफ-वात-पित्त-सन्निपातादयः। स्तनितम् आर्तस्वरः। उपलक्षणान्मुखशोष-दन्तवीणावादन-शीताभिलाष(भाव)विक्षिप्ताङ्गता-सन्तापादयोऽप्यनुभावा गृह्यन्त इति ॥ ३३ ॥

अथ स्मृतिः—दृष्टाभासः पूर्वं दृष्टमिति ज्ञानम्। तुल्यदृष्टिः सदृशदर्शनम्। आदिशब्दात् सदृशश्रवण-चिन्तन-संस्कार-रात्रिपश्चाद्भागनिद्रोच्छेद-प्रणिधान-पुनः पुनः परिशीलनपूर्वं दर्शनपाटवादेर्विभावस्य ग्रहः। भ्रून्नतेर्भ्रुव ऊर्ध्वक्षेपस्योपलक्षणाच्छिरःकम्पनावलोकनादेश्चानुभावस्य क्रिया निष्पत्तिर्यस्याः सा तथेति ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ धृतिः—ज्ञानं विवेकज्ञानं बाहुश्रुत्यं वा। इष्टस्येप्सितस्य लाभः प्राप्तिः। आदिशब्दाच्छौचाचरण-क्रीडा-देवतादिभक्ति-विशिष्टशक्त्यादेर्विभावस्य ग्रहः। देह-पुष्टिरुपलक्षणं गताननुशोचनादीनाममनुभावानामिति ॥ ३४ ॥

अथामर्षः – क्षेपस्तिरस्कारः, आदिशब्दादपमानादेर्विभावस्य ग्रहः। अपकारिणि स्वयमपकरणाभिलाषः प्रतिकारेच्छा, परस्यापकाराभावेऽपि परानर्थकरणाभिप्रायरूपः क्रोध इत्यनयोर्भेदः। अस्मिन्नमर्षे आदिशब्दादधोमुखचिन्तन-प्रस्वेदोत्साहध्यानोपाया-न्वेषणतर्जन-ताडनादीनामनुभावानां ग्रह इति ॥

अथ मरणम्—व्याधयो वात-पित्त-श्लेष्म-वैषम्य-ज्वर-विचर्चिका-पिटकादयः। आदिशब्दाँच्छस्त्राभिघात-विषपानाहिदंश-श्वापद-गज-तुरगाद्याक्रमण-वाहनोच्चस्थानपत-नादेर्विभावस्य ग्रहः। मृत्युसङ्कल्पो दुष्प्रतिकारोऽयमनर्थस्तस्मादवश्यं मरिष्यामीत्य-ध्यवसायः। विकलानि स्वविषयग्रहणं प्रत्यसमर्थानीन्द्रियाणि यस्मिन्। उपलक्षणाद्। विह्वलचेष्टित-हिक्का-निःश्वासपरिजनावेक्षणाव्यक्ताक्षरभाषणवदनदैन्य-सहसाभूमिपतन-कम्पन-स्फुरण-कार्श्य-फेन-जाड्यह[स्त]-स्कन्धभङ्गानपेक्षितगात्रसञ्चारादयोऽनुभावा गृह्यन्ते। प्राणानिरोधरूपं तु मरणं न नाट्ये प्रयोज्यमिति न तस्य विभावानुभावस्वरू-पाणि प्रतिपाद्यन्त इति ॥३५॥

अथ मोहः—अचैतन्यं प्रवृत्ति-निवृत्तिज्ञानाभावः, न तु सर्वथा गतचेतनत्वम्। प्रहारो मर्मण्यभिघातः, आदिशब्दात् तीव्रवेदनाऽशक्यप्रतीकार-चौर-राजाहि-व्याघ्राद्या-क्रमण-देशविप्लवाग्न्युदकाद्युपघात-वैरिदर्शनऽश्रवणादेर्विभावस्य ग्रहः। अत्र मोहे आदि-शब्दाद् भ्रमणपतनेन्द्रियाव्यापारादेरनुभावस्य ग्रहः।

अथ निद्रा—इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, न तु मनस्तस्य निद्रायामपि व्यापारात्। अव्यापृतिर्विषयग्रहणोपरतिः। आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरणात्याहार-मद श्रम-क्लमचिन्ता-शयालुताऽऽदेर्विभावस्य ग्रहः। मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनविकास-निःश्वास-नेत्रघूर्णनाङ्गभङ्गाक्षिमीलन-सर्वक्रियासम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्त इति ॥३६॥

अथ सुप्तम्—प्रकर्षो गाढतमावस्था, स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आयितं प्रतीतिर्यतस्तत् स्वप्नायितं प्रलपितम्। खानां मनः षष्ठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैमुख्यं निद्रायां मनसोऽवधानमस्ति, अत्र तु तदपि मनागुपरुध्यत इति भेदः। विभावास्तु निद्रागता एवात्र ग्राह्याः ॥

अथौग्र्यम्—दुष्टे हिंस्रत्वानृतवादित्व-वञ्चकत्वादियुक्ते अपराधादकार्यका-रित्वाद् दौर्मुख्यचौर्यादिरूपाद् विभावाद् यद् राजादेर्नैर्घृण्यं निर्दयत्वम् तदौग्र्यं, तच्च बन्धवधाभ्यामादिशब्दात् ताडन-निर्भर्त्सन-स्वेद शिरःकम्पादि[भि]रनुभावैरभिनेतव्य-मिति ॥३७॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ हर्षः—प्रसत्तिश्चेतोविकासः। इष्टं प्रियसंयोगाप्रियसंयोगनिवृत्ति-देव-गुरु-राज-भर्तृप्रसादभोजनाच्छादन-धन-पुत्रादिगतहर्ष-विषयोपभोगोत्सवादि। गद्‍गदो बाष्परुद्धकण्ठस्य वाक्। उपलक्षणान् पुलक-प्रियभाषण-नेत्र-मुखप्रसादादेरनुभावस्य ग्रह इति॥

अथ विषादः—तान्तिरनुत्साहाक्रान्तश्चित्तसन्तापः। इष्टं प्रारब्धनिर्वहण-दैवाप्रतिकूलत्वादि, तस्यानाप्तिरलाभो विपरीतलाभो वा। चिन्तनमुपायानाम्। बहुवचनात् सहायान्वेषणवैमनस्यादिभिर्मध्यमोत्तमगतैर्मुखशोष-निद्रा--ध्यान-जिह्वापरिलेहादिभिस्त्वधमगतैरनुभावैरभिनीयत इति॥३८॥

अथोन्मादः—विप्लुतिर्विसंस्थुलता क्वचिदप्यविश्रान्तिरिति यावत्। ग्रह-दोषावपस्मारे व्याख्यातौ। अयुक्तमनुचितं गीत-नृत्त-पठितोत्थित शयित-प्रधावित-रुदिताक्रुष्टासम्बद्धप्रलापनानिमित्तहसित-भस्म-पांस्ववधूलन-निर्माल्य - वीरघटक्वत्र-शरावाभरणोपभोगादि। अयं चोत्तमस्य विप्रलम्भेऽधमस्य करुणे व्यभिचारी। अपस्मारस्तु वीभत्स-भयानकयोः। स च मनोवैकल्यमयं तु मनोऽनवस्थितिरिति भेद इति॥

अथ दैन्यम्—आपदो दौर्गत्य न्यक्कारादेः। स्वान्तनीचत्वं मनःक्लैब्यं कार्ष्ण्यं वदनश्यामता। अवगुण्ठनं शिरो-गात्र वरणम्। बहुवचनाच्छरीरासंस्कार-गौरवपरिहार-वस्त्रमालिन्याद्यैश्चानुभावैरभिनेतव्यमिति॥३९॥

अथ व्रीडा—अकृत्यकरणादनु पश्चात् तापो मानसो विवेकः। गुरुर्माता पित्रादिः। आदिशब्दात् प्रतिज्ञातानिर्वहण-गुरुव्यतिक्रमावज्ञानासंस्तवादेर्विभावस्य ग्रहः। अधार्ष्टचमवैयात्यम्। गात्रगोपनेनोपलक्षणादधोमुखचिन्तन-नखनिस्तोदन-भूविलेखन-वस्त्राङ्गुलीय-स्पर्शनादेरनुभावस्य ग्रह इति॥

अथ त्रासः—घोरं भीषणं निर्घाताशनिपात-महाभैरवनाद-महारौद्रसत्त्व-शव-दर्शनादि। चकिततोद्वेगकारी चमत्कारः। अनर्थसम्भावनातः सत्त्वभ्रंशो भयमित्यनयोर्भेदः। बहुवचनात् स्तम्भरोमाञ्चमूर्छागद्गदवचनादिभिश्चायमनुभावैरभिनीयत इति॥४०॥

अथ तर्कः—वादो विप्रतिपत्तिस्तमादादिग्रहणात् सन्देहबाधकबलोद्भूतपक्षान्तराभावज्ञानविशेषप्रतीत्यभिलाषादेर्विभावाद् यद्येकस्य पक्षस्य सम्भावनं भवितव्यमनेनेति प्रत्ययः स तर्कः। अङ्गस्य भ्रू शिरोऽङ्गुल्यादेर्नर्त्तक इति।

अथ गर्वः—आधिक्यधीः परजुगुप्साक्रान्तः स्वस्मिन् बहुमानः। आदिशब्दाज्जाति-कुललाभ-बुद्धि-वाल्लभ्य-यौवनैश्वर्यादेर्विभावस्य ग्रहः। रीढाऽवज्ञा तया, उपलक्षणात् पारुष्यासूया-धर्षणानुत्तरदानाङ्गावलोकनोपहसनालङ्कार-व्यत्यासादिभिश्चानुभावैरभिनेतव्य इति॥४१॥

अथौत्सुक्यम्—आभिमुख्यमौत्सुक्यं स्मरणमिष्टस्य। आद्यशब्दान्मनोज्ञदिदृक्षा-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऽभिष्वङ्ग-लोभादेर्विभावस्य ग्रहः । त्वरा मनो-वाक्-काय-दृष्टि-चापलम् । आदिशब्दात् कृत्यविस्मरण दीर्घनिःश्वासासम्बद्धवचन-स्वेद-हृत्तापादेरनुभावस्य ग्रह इति ।।

अथावहित्था—धाष्ट्र्यं प्रागल्भ्यम् । आदिशब्दाद् भय-लज्जा-गौरव-कुटिलाशयत्वादेर्विभावस्य ग्रहः । सर्वानुगतत्वख्यापनार्थं धाष्टर्यं प्रथममुपात्तम् । सभयादिरपि ह्यप्रगल्भो न शक्नोत्याकारं संवरीतुम् । विक्रिया भ्रूविकारं-मुखरागादिका, तस्या रोधः संवरणम् । रोधकारकत्वेनोपचाराच्चित्तविशेषोऽपि रोधः, न बहिःस्था चित्तवृत्तिरिति पृषोदरादित्वादवहित्था । अत्रावहित्थायां प्रस्तुतक्रियातोऽन्य-कथनावलोकन-कथाभङ्ग कृतकस्थैर्यादिकं क्रियान्तरमिति ।।४२।।

अथ जाड्यम्— इष्टं प्रियं तस्य दर्शन-श्रवणे अपीष्टे । आदिशब्दादनिष्टदर्शन-श्रवण-व्याध्यादेर्विभावस्य ग्रहः । कार्याज्ञानं नेत्राभ्यां पश्यतोऽपि, श्रोत्राभ्यां शृण्वतोऽपि चेदानीं किं कृत्यमित्यनिश्चयः । नेदं वैकल्याचैतन्यस्वभावमित्यपस्मार-मोहाभ्यां भिन्नम् । मौनं तूष्णींम्भावः, अनिमेषणं अनिमेषनिरीक्षणम् । बहुवचनात् परवशत्वादिभिरनुभावैरभिनेतव्यमिति ।।

अथालस्यम्—आदिशब्दात् सौहित्य-स्वभाव-व्याधिगर्भादिभिर्विभावैः स्त्री-नीचानामनुद्यमरूपमालस्यं भवति । श्रमस्य व्यभिचारित्वेऽप्यन्यव्यभिचारिणं प्रति विभावत्वे न दोषः, व्यभिचारिता तु परस्परं व्यभिचारिणां स्थायित्वप्रसङ्गाद् दुष्टैव । एवं व्यभिचारिणामनुभावत्वमपि भवत्येव । जृम्भितेनादिशब्दादासितेनाहारवर्जित-पुरुषार्थानारम्भादिभिश्चानुभावै स्तदभिनेतव्यम् । अलसोऽपि ह्यवश्यमाहारं करोत्येवेति ।।४३।।

अथ विबोधः—आदिशब्दात् स्पर्श-स्वप्नान्ताहारपरिणामादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणात् जृम्भाक्षविमर्दन-शयन-मोक्षण-भुजाक्षेपाङ्गुलित्रोटनादिरनुभावो द्रष्टव्यः । पर्यन्ते चकारः सर्वव्यभिचारिसमुच्चयार्थ इति ।।

अथैषां रसादीनां मध्ये केषाञ्चित् परस्परं कार्यकारणतामाह – आदिशब्दाद् व्यभिचारिणां यथा वीराददद्भुतः । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयं फलं साक्षादनुसन्धत्ते । तथा द्रौपदीस्वयंवरादौ वीराच्छृङ्गारोऽपि, रौद्राच्च वध-बन्धादिफलानन्तरं करुण-भयानकौ । तथा सर्वरसेभ्योऽनन्तरं सर्वे सजातीया रसा भवन्ति । यथा शृङ्गारिणं दृष्ट्वा शृङ्गारः, हसन्तं दृष्ट्वा हास्य इत्येवं सर्वरसेषु हेतुफलभावो वाच्यः । सर्वरसानां चाभासा अनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् हास्यरसस्य कारणम् । रावणस्य ह्यविषयप्रवृत्तत्वात् शृङ्गाराभासः सतां हास्यमुपजनयति । हास्याभासादपि हास्यो भवति । यथा—

"लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एषः,
सम्मन्यते यदि किमङ्ग ! वदाम नाम ? ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यत् त्वत्र हासमुखरत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ? ॥"

व्यभिचारिणामप्युत्पाद्योत्पादकभावो यथा व्याधेर्निर्वेदः, चिन्ता-विबोधाभ्यां स्मृतिः, श्रमादालस्यमित्यादि । व्यभिचार्याभासादप्यनौचित्यप्रवृत्ताद् हास्यो भवतीति ॥४४॥

अथ रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणामनुभावानां च कार्यभूताननुभावान् प्रतिपादयति —आद्यशब्दात् प्रसादोच्छ्वास-निःश्वास-क्रन्दन-परिदेवितोल्लुकसन-भूमिविलेखन-विवर्तनोद्वर्त्तन-नखनिस्तोदन-भ्रुकुटिकटाक्ष-तिर्यगधोमुखनिरीक्षण-प्रशंसन-हसन-दान ,चाटुकारास्यरागादयः क्वचित् स्थायिनो व्यभिचारिणश्च यथायोगं रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणामनुभावानां च सहस्रसङ्ख्या अनुभावा इति ॥४५॥

अथ ते प्रत्येकशो लक्ष्यन्ते । तत्र वेपथुः—आदिशब्दाद् रोग-हर्ष-शीत रोष-प्रियस्पर्शादेर्विभावस्य ग्रहः । स्पन्दः किञ्चिच्चलनम् । वागादेरादिशब्दाद् गतिचेष्टादेर्विक्रिया यस्मादित्यनुभावकथनमिति ॥

अथ स्तम्भः—अङ्गानां हस्त-पादादीनामन्तःपरिस्पन्देऽप्यक्रिया चलनाभावः स्तम्भः । आदिशब्दाद् विस्मय-भय-मद-रोगादेर्विभावस्य ग्रह इति ॥४६॥

अथ रोमाञ्चः—आदिशब्दाद् व्याधि-शीत-क्रोध-स्पर्शादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनादङ्गमेदुरप्रमुख-नेत्रविकास-दन्तवीणावादनादिभिरभिनेतव्यः ॥

अथ स्वरभेदः—अन्यत्वमुपचयापचयाभ्यां भेदः । आदिशब्दाद् भय-जरा हर्ष क्रोध-राग-रौक्ष्यादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणाद् व्रीडा-निर्वेदादयोऽप्यनुभावा द्रष्टव्या इति ॥४७॥

अथाश्रु—आद्यशब्दादनिमेषप्रेक्षणान (मं) न्दामर्ष-धूमाञ्जन-जृम्भण-भय-पीडा हास्यादेर्विभावस्य ग्रहः नासायाः स्पन्दः श्लेष्मस्रवणम् । बहुवचनान्निष्ठीवन-गद्गदस्वरादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

अथ मूर्छनम्—आद्यशब्दाद् मदादेर्विभावस्य ग्रहः । खग्लानिरिन्द्रियाणामभिभवः । उपलक्षणात् स्वेद-श्वासादयोऽप्यनुभावा इति ॥४८॥

अथ स्वेदः—आदिशब्दाद् भय-हर्ष-लज्जा-रोग-ताप-ग्रह दुःख-घर्म-व्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनाद् वाताभिलाष-स्वेदापनयनादिभिरप्यभिनेतव्य इति ॥

अथ वैवर्ण्यम्—छाया शोभा तस्या विकारो विरूपत्वम् । क्षेपस्तिरस्कारः । आदिशब्दात् सन्ताप-भय-क्रोध-व्याधि-शीत-श्रम-तीव्रांशुकरादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनान्नखनिस्तोदनव्रीडाऽऽदिभिरप्यभिनेतव्यमिति ॥४९॥

अथ रस-भावानन्तरोद्दिष्टस्याभिनयस्यावसरः । स च वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाहार्य-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भेदैश्चतुर्द्धा। तत्र प्रथमं वाचिकं लक्षयति—वागनुकार्या प्रयोजनं हेतुरस्येति "प्रयोजनम्" (हैम० ६।४।११७) इतीकणि वाचिकः। सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेत्यभिनयः। वाचां संस्कृत-प्राकृतादीनां सार्थिकानामनर्थिकानां वा यथाभावं क्रोधाहङ्कार-जुगुप्सोत्साह-विस्मय-हास-रति-भय-शोक-सुख-दुःख-मोह-लोभ माया-ऽसूया-शङ्काऽऽदीनां वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्छा-वैवर्ण्य-प्रसादादीनां वा भावानामनतिक्रमेण। तथा च कवयः सक्रोधं सावेगमित्यादीन्यनु कार्यभावप्रकाशकानि क्रियाविशेषणान्युपनिबध्नन्ति। तेनैकेनोक्तमपरस्य यथाभावमनुवदतोऽनुवाद एव न वाचिकोऽभिनय इति। अनुक्रिया च वागादीनां तदध्यवसायवशान्न पुनर्वस्तुतः। रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमलम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नानुकर्तुरनुकर्तुत्वमनुमन्यते। तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्यात्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमीत्यध्यवस्यति, परमार्थतस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते। प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति। विषण्णोऽपि च हसिते हसति, न तु रोदि (ती) त्यादि। प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसङ्केतश्रवणादतिहृद्यसङ्गीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-देश-कालभेदेनातथाभूतेष्वप्यभिनेयचतुष्टयाच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति। अत एव तासु तासु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति। अपरे तेषु तु नामसङ्केत-सङ्गीतकाभिनयेषु रामाद्यध्यवसायहेतुषूपदेशपरमेतदिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते। अथवा इह तावदित्थमाकृतिरित्थं गतिरित्थं जल्पितमित्थं क्रोधादिललितमित्येवमशेषमपि रामादिललितमृषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासान्नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव। अपि च कदाचिन्मांसदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति, न पुनर्ज्ञानदृशः। तत्र मुनिज्ञानदर्शितमर्थदर्शनादप्यधिकतरमवगतं वस्तुत एवानुकुर्वाणो दुर्विदग्धबुद्धिभिः कथंकारमपाक्रियते वराको नटः? प्रेक्षकाणां तु सत्यसति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय एव, अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामादिसुख-दुःखेषु तन्मयीभवेयुः। उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृङ्गारादयः। कामिनी-वैरि चौरादीनधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथमपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति ॥

अथाङ्गिकः—कर्मणोऽनुकार्यचेष्टाया अङ्गैः शिरो-हस्त-वक्षः-कटी-पार्श्व-पादादिभिः, उपाङ्गैश्च नेत्र-भ्रू-पक्ष्माधर-कपोल-चिबुकादिभिः साक्षाद् भावनं परोक्षस्यापि सामाजिकेभ्यः साक्षादिव कारणम् आङ्गिकः। अङ्गानि प्रयोजनं हेतवोऽस्येत्याङ्गिकः। यथाभावमित्यत्रापि स्मर्यते, तेन रामादेरनुकार्यस्य ये क्रोधोत्साहावेग-वमनस्य हर्ष-वैवर्ण्यास्यराग-भ्रूकुट्यादयश्चेष्टाविमिश्रा भावास्तैरनुरयूतस्य कर्मणः साक्षाद् भावनं, न तु केवलस्येति। तत्रोत्तमाङ्गस्याकम्पिताकम्पितादयस्त्रयोदश। दृष्टेः कान्ता-भयानकादयः षट्त्रिंशत्। नेत्रतारकयोर्भ्रमण-वलनादयो बहवः क्रियाभेदाः समासाभ्या (सा)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दयो दर्शनप्रकाराश्च । अक्षिपुटयोरुन्मेष-निमेषादयो बहवः । भ्रुवोरुत्क्षेप-पतनादयः सप्त । नासिकाया नता-मन्दादयः षट् । गण्डयोः क्षाम-फुल्लादयः षट् । अधरस्य विवर्तन-कम्पादयः षट् । चिबुकस्य कुट्टनखण्डनादयो बहवः । ग्रीवायाः समा-नतादयो नव । हस्तयोः पताक-त्रिपताकादयश्चतुःषष्टिः । वक्षस आभुग्न-निर्भुग्नादयः पञ्च । पार्श्वयोर्नत-समुन्नतादयः पञ्च । उदरस्य क्षामखल्ल-पूर्णलक्ष्म(क्ष)णाः त्रयः । कट्याश्छिन्नानिवृत्तादयः पञ्च । ऊर्वोः कम्पन-वलनादयः पञ्च । जङ्घयोरावर्तित-नतादयः पञ्च । पादयोरुद्घटित-समादयः षट् । तथैकपाद-प्रचाररूपाः समपादा-स्थितावर्तिकादयो भौम्यः षोडश, अतिक्रान्तापक्रान्तादयः षोडश आकाशिक्यश्च चार्यः । स्थिरहस्त-पर्यस्तकादयोऽङ्गहारा द्वात्रिंशत् । तलपुष्पपुट-वर्तितादीनि करणान्यष्टोत्तरं शतमित्यादिः सर्वोऽपि चेष्टाविषयोऽङ्गोपाङ्गप्र-भवत्वादाङ्गिक एवाभिनयः । गतयोऽप्येवम् । तत्रोत्तम-मध्यम-नीचानां क्रमेण धीरा मध्यमाद्रुता च सामान्येन गतिः । विशेषस्तु वृद्ध-व्याधित-क्षुधित-श्रान्त-तपःक्लान्त क्षुभित-सावहित्थ-शोक-शृङ्गारान्वित-स्वच्छन्दादीनां मन्थरा । हर्षावेग-कुतूहल-भयौत्सु-क्यादिमतां त्वरिता । प्रच्छन्नकामुक-वैरि-चौर-रौद्रसत्त्वादिशङ्कितादीनां निःशब्दपदस-ञ्चारा उन्मार्गा दिगवलोकनवती च शीत-वर्षार्दितयोः कम्पमाना सम्पीडिताङ्गा । घर्मार्तस्य स्वेदापनयना छायावलोकनवती । प्रहारार्त-स्थूलयोरङ्गाकर्षण-श्वासवती स्थिरा च । यतिनां नेत्राचापल्य-पुरतोयुगमात्रनिरीक्षणवती । उन्मत्त-मत्तयोर्विघूर्णितनेत्रा स्खलिता च । बिदूषकस्यासम्बद्धेक्षणवती । जले पादविकर्षवती, प्रतरणे जठर-शय-काया-बाहुभ्यां जलविपाटनवतीं च । जलह्रियमाणस्य तु विसंस्थुलाङ्ग-केश-बसनवती । अन्धान्धकारगतयोराकृष्यमाणमन्दपदा पुरःप्रसारितविलोलहस्ता च आरोहणे ऊर्ध्वावलो-कनपरा, विपरीता त्ववरोहणे । आकाशे समाभ्यां पादाभ्यां वाहनैः पक्षाभ्यां वा । आकाशान्यतो विसंस्थुलाङ्गकेशांशुकेत्याद्यनेको गतिप्रकार इति । तथा रूपस्य शिरसि हस्तौ कृत्वा किञ्चदास्यचालनानिमिषप्रेक्षणाभ्याम्, शब्दस्य शिरसा पार्श्वनतेन, स्पर्शस्य नेत्राकुञ्चनेन, रसगन्धयोश्चैकोच्छ्वासेनाभिनयः । सर्वोऽपि चाभिनय इष्टो मध्योऽनिष्टश्चेति त्रिप्रकारः । तत्रेष्टः सौमुख्य-पुलकगात्र-नेत्रविकासादिना क्रियते, मध्यो माध्यस्थ्येन, अनिष्टः शिरःपरावर्तन-नेत्र-नासाविकोणनादिति । चतुर्विधश्चात्र मुखरागः प्रसन्नः स्वाभाविको रक्तः श्यामश्चेति रसौचित्यानतिक्रमेण भवति । यदपि सर्वशरीरसाध्यं भूपातादिकं तदप्याङ्गिक एव, अङ्गोपाङ्गरूपत्वाच्छरीरस्येति ॥५०॥

अथ सात्त्विकः—अवहितं मनः सत्त्वं तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः । मनोऽनवधाने हि न शक्यन्त एव स्वरभेदादयो नटेन दर्शयितुम् । आदिशब्दाद् वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्छन-स्वेद-वैवर्ण्याश्रु-निःश्वासोच्छ्वास-सन्ताप-शैत्य-जृम्भा-कार्श्य-मेदुर-त्वोल्लुकसनावहित्थ-सावधानता-लाला-फेनमोक्ष-गात्रस्रंसन-हिक्कादेर्ग्रहः । नायमभि-नयो वाचिकः, शब्दाननुकारात् । नाप्याङ्गिकः, अङ्गोपाङ्गसाध्यस्पष्टचेष्टाया अभावा-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दिति । स्वरभेदाद्यनुभावप्रदर्शनं रसोत्तम-मध्यमाधमप्रकृत्याद्यौचित्यानुसारतो द्रष्टव्यमिति ॥

अथाहार्यः—वर्णःश्वेतादिः, आदिशब्दाद् रस-गन्धाकल्पायुध-वाहनाङ्गाधिक्य-के(दे)श-नदी-नगरवन-पक्षि-द्विपद-चतुष्पदापद-प्रासाद-पर्वतादेर्ग्रहः । बाह्यं शरीरव्यतिरिक्तं भस्म-धातु-जतु-रागहरिताल-मषी-मृत्तिका-वस्त्र वेणुदलादिकं निमित्तमस्येति । वाचिकादयस्तु शरीरनिमित्ता इति भेदः । अयं च देश-काल-कुल-प्रकृति-दशा-स्त्रीत्व-पुंस्त्व-पण्ढत्वाद्यौचित्यानुसारतो विधेय इति । यस्तु पञ्चमश्चित्राभिनयः प्रोक्तः, सोऽप्यङ्गोपाङ्गकर्मविशेषरूपत्वादाङ्गिक एवान्तर्भवति । अभिनयद्वय-त्रय-चतुष्टय सन्निपातरूपः सामान्याभिनयः पुनर्वाचिकादिलक्षणेनैव चरितार्थ इति ॥५१॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ वृत्तिरस-भावाभिनयविचारस्तृतीयो विवेकः ॥३॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

[४]

अथ चतुर्थो विवेकः

सर्वरूपक-साधारणलक्षण निर्णयः ।

अतः परं सर्वरूपकोपयोगि किञ्चिदुच्यते—मुख्यग्रहणं सरस्वती-कवि-प्रभृती-नामुपलक्षणार्थम् । मङ्गलाभिधा सद्भूतगुणोत्कीर्तनमाशीर्वचनं वा । नित्या एवंविधरूपैव, अपरेषां तु पाठ्यानामुत्थापनादीनां पूर्वरङ्गाङ्गानां प्रयोगवशादन्यथात्वमपि भवति, अवश्यम्भावाद् वा नित्यत्वम्, शेषाणां हि रङ्गाङ्गानां नावश्यम्भावः, अहरहःप्रयोज्यत्वाद् वा नित्यत्वम् । यावद्धि रूपकस्याभिनयस्तावदेषा नान्दी प्रयोक्तव्यैव । रूपकस्य नाटकादेर्मुखे प्रारम्भे नान्दी प्रयोगस्थानकथनमेतत् । नान्दीत्वं च मङ्गलाभिधायाः प्रत्यूहापसारणेन समृद्धिजनकत्वात् । पदानि वाक्याङ्गानि । केचित् तु 'पूर्णवाक्यापेक्षयाऽवान्तरवाक्यानि पदानि' इत्याहुः । तथा च भरतमुनिर्नान्दीं पठति (नाट्यशास्त्रे अ० ५, ११०-११३)—

"नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो, द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
जितं सोमेन वै राज्ञा, शिवं गो-ब्राह्मणाय च ॥
ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु, हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमां महाराजः, पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां, चैव, रङ्गस्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो, भवतु ब्राह्मभाषितम् ॥
काव्यकर्तुर्यशश्चापि, धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं, प्रीयन्तां देवता इति ॥"

अत्र द्वादशावान्तराशीर्वाक्यानि । षड्भिरिति त्र्यस्रमष्टभिरिति चतुरस्रं रङ्गापेक्ष्य-मध्यमनान्द्या निर्देशः । त्र्यस्ररङ्गे चोत्तमा द्वादशभिरधमा त्रिभिः पदैर्नान्दी चतुरस्ररङ्गे पुनरुत्तमा षोडशभिरधमा चतुर्भिरिति । नान्दी च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपालक्षिका, तेन 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु केषांचिल्लोकप्रसिद्धत्वात्, केषांचिन्निष्फलत्वात्, केषांचिदनवश्यम्भावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी त्ववश्यम्भावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्यारम्भस्येति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लक्षिता। अत एव कवयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति पठन्ति। यत्र तु कविकृता नान्दी। न दृश्यते, तत्रापि रङ्गसूत्रणाकर्तृकृता द्रष्टव्या। नान्दीपाठकाश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिपार्श्विका इति ॥१॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—रूपकं कविध्रुवेति सम्बन्धः। प्रविशतः पात्रस्य रस-भाव प्रकृत्यवस्थाऽऽदिकं प्रवेशशब्देनोच्यते। तदनुसारेण श्लेष-समासोक्त्याद्यलङ्कृतं यद् रूपकं गीयते सा, प्रवेशः प्रयोजनमस्या इतीकणि प्रावेशिकी।

यथा अनर्घ्यराघवे—

"दिणयरकिरणुक्केरो, पियायरो को वि जीवल्लोयस्स।
कमलमउलंकवाली-कय-महुअर-कड्ढण-वियड्ढो।"

इयं स्वाश्रमरक्षणार्थं रामाकर्षणाय आगच्छतो विश्वामित्रस्य आदित्योदयवर्णनाव्याजेन प्रवेशसूचिका।

यथा वा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमेऽङ्के—

"एसो सियकर-वित्थर-पणासियासेस-वेरि-तिमिरोहो।
निय विहिवसेण चंदो, गयणं गणं लंघिउं विसइ ॥"

इयं स्वापायशङ्किनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेशप्रतिपादिकेति।

अङ्कान्तेऽङ्कमध्ये वा सनिमित्तं रङ्गात् पात्रस्य बहिर्निःसरणं निष्क्रमः, तत्प्रयोजना, अनुशक्तिकादेराकृतिगणत्वादिकण्युभयपदवृद्धौ नैष्क्रामिकी।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमाङ्कान्ते—

"बहुविह-कज्जविसेसं, अइगूढं निण्हवेइ मयणादो।
निक्खलइ खुद्धचित्तउ, रत्ताहुत्तं मणो रिउणो ॥" इति।

इयम् उन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुलगमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति।

प्रस्तुतरसोल्लङ्घनेन रसान्तरोद्भावनमाक्षेपः, तत्प्रयोजना आक्षेपिकी। यथा उदात्तराघवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारोल्लङ्घनेन—"अरे रे तापस! स्थिरीभव, क्वेदानीं गम्यते?

स्वसुर्मम पराभवप्रसव एकदत्तव्यथः,
खरप्रभृतिबान्धवोद्दलनवातसन्धुक्षितः।
तवेह विदलीभवत्तनुसमुच्छलच्छोणित—
च्छटाच्छुरितवक्षसः प्रशममेतु कोपानलः ॥"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इत्यादि-नेपथ्यवाक्याकर्णनेन वीररसाक्षेपः ।

प्रस्तुतस्य रसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं प्रसादः । प्रविष्टपात्रस्यान्तर्गतचित्तप्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा प्रसादः । प्रसादप्रयोजना प्रासादिकी । इयं च प्रावेशिक्याक्षेपिक्यनन्तरमवश्यं प्रयोज्येति वृद्धसम्प्रदायः ।

अन्तरं छिद्रं तत्र भवा आन्तरी अनुकर्तुर्यदा अनाशङ्कित एव धनविघातादिना विघात उद्धतप्रयोगश्रमाद् वा मूर्छा-भ्रमादिसम्भावना बस्त्राभरणादेर्वा प्रच्युतिस्तदा तत्संवरणावकाशदित्सयेयं गीयते । अस्यां च प्राक्तनं भावि वा र[स]स्य स्वरूपमनुवर्त्यम् । छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनत्वाच्चास्या न सार्थकपवना(द-न्या)सनमुपयोगीति शुष्काक्षराण्येवास्यां निबध्यन्ते ।

सङ्गतं प्रवेशाद्यनुरूपार्थम् । चित्रो नानाप्रकारः सरः—काननादिर्दिवस-रात्रि-सन्ध्याऽऽदिरुत्तममध्यमाधमप्रकृतिर्गज-वाजि-सिंहादिर्भावो रत्यादिकश्चार्थो यत्र । अर्थश्च तथा निबन्धनीयो यथोपश्रुतिशकुनन्यायेन प्रत्ययेन प्रस्तुतोपयोगी भवति । रूपकं नियतमात्राक्षरं छन्दः । गेयं स्वर-तालैर्गानार्हम् । पञ्चधा प्रवेशादिभिः पञ्चप्रकारा, उपयोगबाहुल्यापेक्षं चैतत् । अपरे च ध्रुवाप्रकाराः सन्ति, अल्पोपयोगित्वात् तु न लक्षिताः । कविध्रुवा इति कवेः प्रबन्धकर्तुरियं पञ्चविधा ध्रुवा । अनेन रङ्गमध्यवर्त्तिनीनां ध्रुवाणा रङ्गविध्यनन्तरं नाट्याचार्यकल्पितानां गानध्रुवाणां च व्युदास इति ॥२॥

अथ नाट्यपात्राणां प्रकृतिभेदानाह—उदित्यब्ययमुत्कृष्टेऽर्थे, ततः प्रकृष्टार्थे तमप्युत्तमा । प्रकर्षेण क्रियन्ते बाह्या चेष्टा अस्या इति प्रकृतिर्जन्मसहभवं शुभाशुभं शीलम् । त्रिधेति तिस्रोऽपि प्रकृतयः स्वस्थाने उत्तमा-मध्यमा-नीचाश्चेति । गुणाः प्रत्येकं प्रकृतिषु वक्ष्यमाणाः । प्रकृष्टस्य किञ्चिदाधिक्य-बहुत्वभाविनोस्तरप्-तमप्प्रत्यययोरनुकृतिस्तर-तमाविति तयोर्भावस्तारतम्यं सामान्य-किञ्चिदाधिक्य-सातिशयाधिक्यलक्षणावस्थात्रययोगित्वमिति ॥३॥

अथोत्तमप्रकृतेः पुंसो गुणानाह—शरणमापद्गतत्राणं तत्र साधुः । दक्षिणोऽनुकूलः । लोकशब्देनात्र लोकव्यवहार उच्यते, तत्र विचक्षणः । एवमादयोऽन्येऽप्युत्तमपुरुषगुणा द्रष्टव्या इति ॥४॥

अथ मध्यमप्रकृतिः—मध्या नाप्युत्कृष्टा नाप्यपकृष्टा गुणा लोकव्यवहार-चातुर्यकलाविचक्षणत्वादयो धर्मा अस्येति ॥

अथ नीचप्रकृतिः—पिशुनः कर्णेजपः क्लीबो हीनसत्त्व इति ॥५॥

अथोत्तमां स्त्रियमाह—वत्सला स्नेहलेति ॥६॥

अथ मध्यमा-नीचे— मध्यम-नीचपुरुषवन्मध्यमा-नीचे स्त्रियौ वोद्धव्ये । एषा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नृ-स्त्रियोस्त्रिधा प्रकृतिरनुरूपा विरूपा रूपानुरूपिणी चेति पुनस्त्रिप्रकारा। तत्रानुरूपा पुंसः पौंस्त्रः, स्त्रियास्तु स्त्रैणो वयोऽवस्थानुरूपो भावः। विरूपा तु बालोचितभावस्य स्थविरेण स्थविरोचितस्य तु बालेन दर्शनम्। रूपानुरूपिणी पुरुषोऽपि स्त्रीरूपेण भूत्वा, स्त्रिया पुंरूपया स्त्रीपुंसभावदर्शनमिति॥

अथ प्रबन्धेषु नीचप्रकृतिकमपि नायकमाह—कथा वृत्तं तस्या वशः सामर्थ्यं हसनीयत्वादि तस्माद्, भाण-प्रहसनयोः कस्यांचिद् वीथ्यां च नीचोऽपि नायकः। प्रथमविवेके मध्यमोत्तमयोर्नायिकत्वमुक्तम्, तदपवादोऽयमिति॥

अथ सर्वरूपकेषु मुख्यनायकं लक्षयति—व्यसनं स्त्र्याद्यासक्तिर्विपद् वा॥ ७॥

अथास्य गुणानुद्दिशति—अष्टावित्युक्तपरिगणनम्, न तु सङ्ख्यानियमोऽन्येषामपि सम्भवात्। सत्त्वं विपुलाशयत्वम्॥ ८॥

अथैषां प्रत्येकशो लक्षणम्—क्षेपस्तिरस्कारः। आदिशब्दाद् दैन्यावज्ञादिर्ग्रहः। प्राणात्ययेऽपि छेति प्राणात्ययमप्युपगम्येत्यर्थः। तेनासहिष्णुत्वमक्षमा, न तु देश-कालावस्थाद्यपेक्षया नीत्या(ता,वसहनपूर्वकं निर्यातनमिति॥

अथ विलासः—वृषो महोक्षः। धीरत्वमुदात्तत्वमिति॥ ९॥

अथ माधुर्यम्—प्रस्तुताद् रूपाद् रूपान्तरं विकृतिः। स्तुत्या रोमाञ्च-परिकर-बन्ध-श्मश्रु-केशसमारचन शस्त्रावलोकनादिकात्। क्षोभः सत्त्वचलनमिति॥

अथ शोभा - चिह्नं घृणादेः सत्तानिश्चयहेतु शरीरविकारः। घृणा नीचार्थ-जुगुप्सनम्। स्पर्द्धाऽधिकेन सह साम्याधिक्याभिलाषः। उद्यम उत्साहः। एषामुन्नयः सत्तानिश्चय इति॥ १०॥

अथ स्थैर्यम्—विघ्नः प्रत्यूहः। अचलनं दार्ढ्यम्। अशुभमिह-परलोकानुचित-मिति॥

अथ गाम्भीर्यम्—सहजा सुखराग-दृष्टिविकारादि-रहिता। मूर्तिर्देहस्वभावः। आदिशब्दाद् भयशोकादि-ग्रहः। गोपनी प्रच्छादिकेति॥ ११॥

अथौदार्यम्—बहुवचनान्मध्यस्थानां ग्रहः। प्राणितशब्देन स्वजीवितव्यस्य दानमुच्यते। अपिशब्देन दान-प्रियभाषणादि-ग्रहः। उपग्रह उपकार इति॥

अथ ललितम्- शृङ्गारिण्यः शृङ्गाररसजनिताश्चेष्टास्तिर्यग्विलोकन-वक्रोक्ति-भाषण-शरीरसंस्कारादिकाः। निर्विकारा गर्हारहिताः। स्वभावजा अबुद्धिपूर्वका इति॥ १२॥

अथ मुख्यनेतारमुक्त्वा गौणमाह—अमुख्यत्वं प्रधानफलापेक्षयाऽवान्तरफल-भाजनत्वात्। नायकत्वं बहुतरवृत्तव्यापकत्वान्मुख्यनेतृसहायभूतत्वाच्च। किञ्चिदूनं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्वल्पन्यूनं वृत्तं शौर्य-त्याग-बुद्धयादिकं यस्य । अयं च पताका-प्रकरीरूपो नायको द्रष्टव्य इति ॥

अथ प्रतिनायकमाह—मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः । यथा राम-युधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनवदिति ॥१३॥

अथ विदूषकादीनां प्रकृतिं केषांचिल्लक्षणं चाह—क्लीबो नपुंसकः । एषां च नीचत्वं नैसर्गिकम् । स्वामिचित्तानुरोधादौपाधिकं × तु मध्यमत्वमपि । तत्राद्यो विदूषको हास्यं हास्यनिमित्तं भवति । चास्याङ्ग-नेपथ्यवचोविकारात् त्रेधा । तत्राङ्गहास्यं खलति-खञ्ज-दन्तुरविकृताननत्वादिना । नेपथ्यहास्यमत्यायताम्बरत्वोल्लोकित-विलोकित-गमनादिना । वचोहास्यमसम्बद्धानर्थकाश्लीलभाषणादिना भवति । नृपे नृपस्य सम्बन्धी श्यालः पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चायं हीनजातिः । हास्यायेत्यत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिर्नृपश्यालः शकारः, किं तर्हि ? विकृतहास्यहेतुः परिचारक एव । एकं राजोपयोगि किंचिद् गीतादिषु मध्ये वेत्तीत्येकविद् विटो ज्ञेय इति ॥ ॥१४॥

अथ धीरोद्धतादीनां नेतृणां प्रत्येकं विभिन्नान् विदूषकानाह—स्निग्धाः सुहृदः । आदिशब्दाद् धीरो[दा]त्त-धीरललित-धीरशान्ता गृह्यन्ते । एषां वियोगिनां विप्रलम्भशृङ्गारवतामौचित्यानतिक्रमेण लिङ्ग्यादयो यथासम्भवं सन्धि विग्रहं विग्रहेण, सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्तीति विदूषकाः । उचितश्च लिङ्गी देवतानाम्, ब्राह्मणस्य शिष्यः, राज्ञां तु शिष्यवर्जास्त्रयः, एवं वणिगादेरपीति ॥१५॥

अथैषामेव धीरोद्धतादीनां सहायानाह आदिशब्दादाटविक-सामन्तादप्रस्ताप-सादयश्च गृह्यन्ते । एते च केचिदर्थ-कामयोः सहायाः । केचिद् धर्मसहायाः । तथा सहायायत्तसिद्धिरेव धीरललितः । सहायव्यापारश्च नायकव्यापार एव, एतावद्रूपत्वा-न्नायकस्य । धीरोद्धतादयस्तु स्वान्योभयसिद्धय इति ॥१६॥

अथ शुद्धान्तोचितं परिवारमाह—शुद्धान्तमन्तःपुरं तस्मिन्नाचारवानार्यो हीन-सत्त्वः पुमान् कारुकः । स द्वारपालो दक्षो नपुंसकः । कञ्चुकी अदूष्यजातिः स्त्री-स्वभावः । तुच्छसत्त्वो विनीतश्च वर्षवरः । अतिनिःसत्त्वोऽकर्मश्च निर्मुण्डः, स च स्त्रीणां दास्यादीनां प्रेषणकारकः । रक्षा भूत्यादिकर्म । स्वस्तिर्मङ्गलवाचनम् । चित्रं पत्रवल्ल्यादि । आदिशब्दाद् गन्धपुष्प-शिल्प-शय्याऽऽसन-च्छत्र-मण्डन-संवाहनाक्रीड-व्यजनादिग्रह इति ॥१७-१८॥

अथ नायिकां लक्षयति—कुलजा विप्र-वणिगादि-कुलसम्भूता । अन्तिमेति पण्य-कामिनी ललितोदात्ता रूपकेषु वर्णनीया, कामार्थप्रधानत्वात् । पूर्वा कुलजा पुनरुदात्ता, नय-विनयगुरुभीत्यादिबहुलत्वात् । परे द्वाभ्यामन्ये त्रिधा धैर्य-ललित्योदात्तत्वेन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रिप्रकारे, दिव्योत्तमजातित्वाभ्यां कामार्थनिष्ठत्वाच्च । शान्तत्वप्रकारस्तु भोगभूमिजत्वेन दिव्यानां दिव्यासाहचर्येणोपात्तत्वाच्च क्षत्रियाणां नैव गृह्यते इति ।।१९।।

अथासां विशेषमाह— प्रहसनवर्जिते रूपके गणिका नायिका रागिण्येव विधेया । यथा मृच्छिकटिकायां चारुदत्तस्य वसन्तसेना । प्रहसने तु हास्यनिमित्तमरक्ताऽपि । नृपदिव्यनायकयोश्च गणिका न नायिका निबन्धनीया । एषा गणिका यदि दिव्या भवति, तदा राज्ञः क्वापीतिवृत्तानुरोधान्नायिकात्वेन भवति । यथोर्वशी पुरूरवसः । 'नृपे दिव्ये च न प्रभौ' इत्यस्यापवादोऽयमिति ।।२०।।

अथासां त्रैविध्यमाह—इमाः कुलजादय इति ।।

अथ मुग्धा —रतं सुरतं तत्र विपरीता अनभिज्ञत्वात् । अत एवेषदीर्ष्या-कोपा । रोहत् प्रवर्धमानं वयो यौवनं स्मरश्च यस्या इति ।।२१।।

अथ मध्या— मध्या अनधिरूढप्रौढवयःकाम-माना यस्याः । मूर्छान्तमचैतन्यपर्यवसायि मोहनं सुरतं किञ्चिदभिज्ञत्वादस्याः । एषा च धीरा अधीरा धीराधीरा चेति त्रिधा । तत्र धीरा कृतागसि प्रिये सोत्प्रासवक्रोक्तिपरा । अधीरा साश्रुपरुषभाषिणी । धीराधीरा साश्रुत्प्रासं परुषवक्रोक्तिवादिनीति ।।

अथ प्रगल्भा—इद्धा दीप्रा वयो-मन्यु-कामा यस्याः । प्रियेण स्पृष्टाऽपि प्रकृष्टकामत्वादेषा चैतन्यं मुञ्चति । एषाऽपि मध्यावत् त्रिप्रकारा । तत्र धीरा कृतागसि प्रिये सावहित्थादरा कृतौदासीन्या च रते । अधीरा सन्तर्जन-ताडनपरा । धीराधीरा सोत्प्रासवक्रोक्तिपरेति ।।२२।।

अथ प्रकारान्तरेण नायिकानां प्रसिद्धान् भेदानाह—कार्यं धनार्जन-राजप्रयोजनादि तस्माद् देशान्तरं गते प्रिये अभूषा केशसम्मार्जनादि-भूषा-रहितेति ।।

अथ विप्रलब्धा – पत्याविति सर्वेषु स्त्रीभेदेषु स्मरणीयम् । तेन कार्यतः कृतसङ्केते दूतीं वा प्रेष्यानागते पत्यौ विप्रलब्धेति सम्बन्धः ।।२३।।

अथ खण्डिता—अपरस्त्र्यभिष्वङ्गादुचितं वासकर्म कुर्वाणे प्रियेऽसूयावती खण्डिता । विप्रलब्धायां नान्यस्त्र्यासक्तिरित्यस्या भेद इति ।।

अथ कलहान्तरिता—ईर्ष्या-कलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्स(विध)मनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरितेति । अत्रेर्ष्यया कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगाभिलाषः । पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासङ्गिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ।।२४।।

अथ विरहोत्कण्ठिता—अन्यनारीव्यासङ्गादिना प्रस्तुतस्त्रीकृतापराधाभावेऽपि तत्रागन्तुकामेऽपि विलम्बं कुर्वाणे पत्यौ नायकोत्सुका सती विरहोत्कण्ठिता । अत्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रियागमनमचिरादवश्यम्भावि, परस्परं कलहश्च नास्तीति सर्वाभ्यो भिन्नेयमिति।

अथ वासकसज्जा—प्रियेण सह रात्र्यादिवसनं वासकः, तत्रोचिते उद्यमपरा। एष्यति विवक्षितकालागमनवति प्रिये स्वमण्डनवती नायिका वासकसज्जा। पूर्वासु सर्वासु विप्रलम्भश्शृङ्गारोऽत्र तु सम्भोगश्शृङ्गार इति भेदः ॥२५॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—सुभगमात्मानं मन्यते या नायिका सा वश्ये आसन्ने च पत्यावेतदीयरूपयौवनाद्याक्षिप्तहृदयत्वात् स्वाधीनभर्तृका। आसन्नवर्तिप्रियतमत्वेन पूर्वस्या भिन्नेयमिति॥

अथाभिसारिका—सरन्तीं स्वयं तस्य पार्श्वे, सारयन्ती वा तं प्रियमात्मसमीपे रिरंसुः सुरतार्थिनी नायिकाऽभिसारिका। अत्र नायिकायाः प्रियसन्निधौ गमनमिति भेद इति ॥२६॥

अथ स्त्रीणां यौवनस्थान् धर्मानाह—यौवने उत्तमप्रकृतीनां च वनितानां च भाव हावादयोऽलङ्काराः कटक-केयूरादिवद्वपुर्विभूषाहेतवः प्रादुर्भवन्ति। बाल्येऽपि किञ्चिदुन्मीलन्ति, वार्धके तु प्राचुर्येण नश्यन्ति। एते च यौवने स्त्रीणां प्राधान्यतोऽलङ्काराः। पुंसां तूत्साहादयो मुख्यतोऽलङ्काराः। तेन नायकभेदेषुद्धतादिषु धीरत्वं विशेषणमुक्तम्।' भावादयस्तु पुरुषाणामुत्साहाद्याच्छादिता एव भवन्तीति ते गौणाः। भावादीनां च विंशतिसङ्ख्यात्वमत्रोद्दिष्टभेदापेक्षया, अपरथा यौवने वनिताऽलङ्काराणामनन्तसङ्ख्यात्वमेव। तत्र प्रथमे त्रयोऽङ्गाद् यौवनोद्बोधशालिनः प्रियदृष्टि-वस्त्र-माल्यादि-बाह्यनिमित्तरहिताद् गात्रमात्राज्जायन्ते। तेभ्यः परं दश स्वस्माद् रतिलक्षणाद् भावात् प्रियोपभोगानुपभोगयोर्जायन्ते। एते च दर्शकद्वित्र्यादिविकल्पेन भावन्नावश्यम्भाविनः। तथाऽङ्गजाः स्वाभाविकाश्च क्रियारूपाः स्त्रीचेष्टात्मकाः मिलिताश्च त्रयोदशसङ्ख्याः। ततः परे सप्त यत्नमन्तः परिस्पन्दं विना देहधर्मरूपाः पुरुषोपभोगे सति भवन्ति। पूर्वे तु चेष्टात्मकाः। इच्छातो यत्नस्ततो देहचेष्टेति यत्नजा इति ॥२७-२८॥

अथ भावादीनां प्रत्येकशो लक्षणमाह—वाचामादिशब्दात् कर-पादादीनां वैशिष्ट्यं हृद्यो विकारोऽन्तर्गतरतिभावस्य पामरनायिकावैलक्षण्येनोत्तमप्रकृतिकत्वस्य च निश्चयहेतुर्भावः। भवति हि तथाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्योद्बुद्धोऽयमन्तः कामप्रदीपोऽस्या इत्युत्तमप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति।

अथ हावः—नेत्रयोरादिशब्दाद् भ्रू-चिबुक-ग्रीवाऽऽदेश्च सातिशयो विकारः शृंगारोचित उद्भिद्योद्भिद्य विश्रान्तिमत्त्वेनासन्ततो हाव इति ॥२९॥

अथ हेला—तदेव सातिशयं नेत्रादिविकृतं सन्ततं प्रसरणशीलं सशृङ्गारं समुचितविभावविशेषोपग्रहविरहादनियतविषयं प्रबुद्धरतिभावसमन्वितं हेला। अस्यां च तारुण्यस्य प्रकर्षगमनम्। एते च त्रयोऽङ्गजाः परस्परसमुत्थिता अपि भवति। तथा हि कुमारीशरीरे प्रौढतमकुमारगत-भाव-हाव-हेला-दर्शन-श्रवणाभ्यां भावादयोऽनुरूपा विरू-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पाश्च भवन्ति । किन्तूत्तरानपेक्ष एव भावः । हावस्तु भावापेक्षः, हावापेक्षणी च हेला । पूर्व-पूर्वोत्कर्षरूपत्वादनयोरिति ॥

अथ स्वभावजेषु प्रथमं विभ्रममाह—अथेत्याङ्गिकानन्तर्यार्थः । रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानः । आदिशब्दान्मदहर्षादि-ग्रहः । मदो मद्यकृतश्चित्तोल्लासः । हर्षः सौभाग्यगर्वः । अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा वचनम्, हस्तेनादातव्ये पादेनादानम्, कटीयोग्यस्य कण्ठे निवेशनमित्यादिकश्चेष्टाविपर्यासो विभ्रमः । विशिष्टविभावलाभे रतिप्रकर्षाद् देहविकाराः स्वाभाविकाः । अङ्गजास्तु विशिष्टविभावमन्तरेणेति विशेषः ॥३०॥

अथ विलासः—आदिशब्दात् सम्भाषणादि-ग्रहः । चारुत्वं तात्कालिकः सातिशयो विशेषः । कर्म स्थानासन-गमन-निरीक्षणादिचेष्टेति ॥

अथ विच्छित्तिः—स्वल्पाप्याकल्परचना प्रकृष्टसौभाग्यादिगुणयुक्तत्वात् परां शोभां स्त्रियां वितन्वती विच्छित्तिरिति ॥३१॥

अथ लीला—आदिशब्दाद् वेष व्यापारादि-ग्रहः । प्रियतमप्रात्यातशयेन दयितवागादेः सशृङ्गारं स्वस्मिन् न्यासः सम्यक् करणं लीलेति ॥

अथ बिव्वोकः—मानश्चित्तसमुन्नतिर्दर्पः सौभाग्यगर्वः । इष्टं वस्त्र-माल्यालङ्कारादीति ॥३२॥

अथ विहृतम्—जल्पकालो भाषणस्योचितः समयः । मौनमभाषणम् । व्याजः छद्म । उपलक्षणत्वादनायत्तत्व-बाल्यादयोऽपि गृह्यन्ते । आत्मनो ह्र्यादिप्रकाशननिमित्तं समयेऽप्यभाषणं विहृतमित्यर्थः ॥

अथ ललितम्—गात्रस्य नेत्र-हस्तादेः सञ्चारो व्यापारः सुकुमारोऽतिमनोहरो द्रष्टव्यं विना दृष्टिक्षेपो ग्राह्यमृते हस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम् । 'सप्रयोजनस्तु व्यापारो विलासः' इत्यनयोर्भेद इति ॥२३॥

अथ कुट्टमितम्—आदिशब्दात् स्तन-करादि-ग्रहः । प्रियतमेन कचादिषु गृह्यमाणाया अन्तः प्रमोदेऽपि व्यलीककोपकरणं कुट्टमितमिति ॥

अथ मोट्टायितम्—प्रियस्य दर्शन-श्रवणानुकरणादिषु तद्भावभावनात्मकरागवशादङ्गमर्दनपर्यन्तं योषित [:] चेष्टितमिति ॥३४॥

अथ किलि (ल) किञ्चितम्—आदिशब्दाद् भय-हसित-श्रम-रोष-गर्व-दुःखाभिलाषादि-ग्रहः । गर्वाद् वारं वारं स्मितादीनां सङ्कीर्णतया योषिता यत् करणं तत् किलि (ल) किञ्चितम् । एते दश स्वाभाविका भुक्तायामभुक्तायां च योषिति रतिभावोद्बोधाद् भवन्तीति ॥

अथायत्नजेषु सप्तसु शोभा प्रथमं लक्ष्यते—यौवनस्यादिशब्दाद् रूप-लावण्या-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा। अथेति स्वाभाविकानन्तर्यार्थं इति ॥३५॥

अथ कान्ति-दीप्ती—शोभैव रागावतारघना कान्तिः। कान्तिरेव चातिविस्तीर्णा दीप्तिः। यौवनादीनामौज्ज्वल्यस्य मन्द-मध्य-तीव्रावस्थाः क्रमेण शोभा-कान्ति-दीप्तय इत्यर्थ इति ॥

अथ माधुर्यौदार्ये—शोक-क्रोध-भयामर्षेर्ष्यादिजः सन्तापस्तापः। अपिशब्दाद् व्रीडा-रत्यादिजेऽस्वास्थ्येऽपीति। तापेऽपि सत्युचितस्य विनयादिकस्याच्युतिरपरित्यजनमौदार्यम्, माधुर्यमाक[ा]राविकृतिरित्यनयोर्विशेष इति ॥३६॥

अथ धैर्य-प्रागल्भ्ये— अविकत्थनमात्मश्लाघा-चापलाभ्यां रहितं चेतो धैर्यमिति। कौशलं वैशारद्यं रते सुरतक्रियायां यत् तत् प्रागल्भ्यम्। एते यत्नमन्तरेण पुरुषोपभोगनिष्पन्नाः स्त्रीणां सप्त गुणा इति ॥

अथैवंविधालङ्कारवतीनां स्त्रीणां नायकेषु विनियोगमाह—औचित्यं प्रकृत्यवस्थाऽऽचार-देश-कालाद्यविरोधः; तदनतिक्रमेण धीरोद्धतादीनां नायकानां कुलजाऽऽदयो नायिका नाटकादिषु निबन्धनीया इति ॥ ३७ ॥

अथासां नायिकानां सहायिन्य उच्यन्ते—धात्रेयी स्तन्यदायिनी। लिङ्गिनी परिव्राजिकाऽऽदिलिङ्गवती। प्रातिवेशिका निकटावसथा। शिल्पिनी चित्रादिशिल्पकारिका। चेटिका दासी। सखी समानगुणा मैत्र्यमुपगता। एवमादिकाः प्रियघटने सहायिन्यः। एताश्च गुप्ता रहस्यधारणसमर्थाः। दक्षा देश-काल-समयादिविदः। मृद्व्योऽनहंकृताः। स्थिराश्चापलवर्जिताः। एवमन्येऽपि गुणा द्रष्टव्या इति ॥ ३८ ॥

अथ सामान्येन भाषाविधानमुच्यते—देवशब्देन सुराः सुर्यश्चैकशेषाद् गृह्यन्ते। एषां च नीचवर्जितानामुत्तम-मध्यमनराणां च स्त्रीणां प्राकृतस्यैव विधानात्, पुरूपाणामेव संस्कृता भाषा। कदाचित् पुनः कार्यवशतः कृताभिषेकाया राज्ञ्या मन्त्रिजा-पण्यस्त्रियोलिङ्गिनां चैकशेषेण पुं-स्त्रीरूपाणां परिव्राड्-मुनिशाक्य-श्रोत्रियादीनां संस्कृतं द्रष्टव्यम्। लिङ्गिनश्च दम्भं विना ये गृहीतव्रतास्तेषां संस्कृतम्, सामर्थ्याच्च व्याजलिङ्गिनां प्राकृतमिति लभ्यते। स्वगोपनार्थमेतैर्भाषाऽन्यथात्वस्य का(क)रणात्। तत्र महिष्याः सन्धि-विग्रहचिन्तनादिना, मन्त्रिजाया न्यायप्रवृत्त्यादिना, वेश्याया वैदग्ध्यादिना, लिङ्गिनां च सर्वविद्याकौशलख्यापनादिना कार्येण संस्कृतमन्यत्र तु प्राकृतमवगन्तव्यम्। 'योषिताम्' इति महिष्यादीनां प्राकृतस्यैव प्राप्तौ 'देवानीचनृणाम्' इति च लिङ्गिनां संस्कृतस्यैव प्रसङ्गे जातुचिदित्यप्राप्तर्थं, प्राप्तनिषेधार्थं चोपात्तम्, तेन लिङ्गिनां बाहुल्येन प्राकृतं भवतीति ॥ ३९ ॥

अथ प्राकृतं पाठ्यमाह—ग्रहैः शनैश्चरादिभिः कदाग्रहैर्वा ग्रस्ता दूषिता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ग्रहग्रस्ताः। स्त्रीरूपाः स्त्रीप्रकृतयः पुरुषाः। बालादीनामज्ञत्व-नीचप्रकृतिक[त्व]-तुच्छ-स्वभावत्वादेः प्राकृतेन पाठः। तथोत्तमप्रकृते[र]पि धीरोदात्तादेर्दारिद्र्यैश्वर्याभ्यामुप-लक्षणाद् धनभ्रंशादिना च मूढमनसः प्राकृतपाठ इति ॥ ४० ॥

अपरमपि वाक्प्रकारमाह—अत्यन्तनीचः प्रकृष्टाधमप्रकृतिः। आदिशब्दात् पिशाचादिग्रहः एषु पैशाची मागधी च साङ्कर्येण भाषा भवति। नीचमात्रप्रकृतेः पुनः शौरसेनी। देशस्य कुरु-मगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्वस्वदेशसम्बन्धिनी भाषा निबन्धनीयेति ॥ ४१ ॥

प्रकारान्तरमप्याह— तिर्यञ्चः पशवः पक्षिणश्च। जात्यन्तराणि वणिग्-विप्र-चण्डालादीनि। एतानि चैकस्मिन्नपि देशे भवन्ति। आदिशब्दाद् ग्राम्य-नागर-कारण्याटविकदेवकुलिकादिग्रहः। एवंविधपात्रणामानुरूप्येण यस्य तिर्यगादेर्या या भणितिरीतिः प्रसिद्धा सा सा तस्य सम्यग् वर्णनीया, येन स एवायं तिर्यगादिरिति ताद्रूप्यावगमो भवति। इयं च देशगीश्च प्रायोऽपभ्रंशे निप[त]तीति ॥

अथ भाषादेरन्यथात्वमपि भवतीत्याह—भाषायाः संस्कृत-प्राकृतादेर्वाचः प्रकृतेरुत्तम-मध्यमाधमरूपाया वृत्तस्याचारस्येतिवृत्तस्य वा, आदिशब्दात् धीरोद्धत-त्वादिधर्माणां नेपथ्यादेर्वा केनचित् प्रयोजनेन लङ्घनमिति क्रमो विधेयः। एतच्च यथायथं क्वचित् किञ्चित् प्रदर्शितमेव, स्वयं वा(चा)भ्यूह्यमिति ॥ ४२ ॥

अथ रूपकेषु यो येन नाम्ना व्यवहर्तव्यस्तस्य तदाह आर्यशब्द इत्यन्तोऽविव-क्षितलिङ्ग-सङ्ख्या-कारकः शक्तिस्वरूपमात्रेण ग्रहणार्थमुपात्तः; तेन नानालिङ्ग-सङ्ख्या-कारकेषु प्रयुज्यते। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। पत्नी सधर्मचारिणी। अम्बाऽपीति न केवलमार्याशब्देन, किन्त्वम्बाशब्देनापि जननी-वृद्धे उच्येते। पूज्या मान्या। सा चात्रेषद्वृद्धा सती भवतीति शब्देनार्याशब्देन च वाच्या। भ्रात्राऽनुजेनाग्रजो ज्येष्ठो भ्राताऽधमैर्हीनैर्मन्त्री राज्ञः सचिवो नटीसूत्रधारौ मिथः परस्परं नट्या सूत्रधारः, सूत्रधारेण च नटी, पुरोधः सार्थवाहाभ्यां कर्तृभ्यां पत्नी पत्न्या च कर्त्र्या वृद्धः पतिरार्येति शब्यते इति सम्बन्धः। 'आर्येति शब्यते पत्नी' इत्यनेनैव सिद्धेऽपि 'पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी' इति यौवनेऽप्यार्येति वेति नियमार्थम् ॥ ४३-४४ ॥

अन्यदप्याह—पत्न्येति जरन्निति चानुवर्तते. [ते]न पत्न्या जरन्नृपो महाराजेति। सर्वस्तु नृपोऽन्यश्च पतियौवने वर्तमान आर्यपुत्रेति पत्न्या कीर्त्यते। आर्यपुत्रेति हि श्वशुरेण व्यपदेशो यौवनस्य शृङ्गारोचितत्वख्यापयार्थः। यौवनादन्यत्र त्वार्येत्येवं कीर्त्यते। भोक्तव्या भोक्तुमभिलषिता प्रथमपरिचये पुरुषेण स्त्री भद्रेति, दयिता भार्या पुनर्यौवने प्रियेति कीर्त्यते। अथवा दयिता पिता-पुत्रयोर्यदभिधानं नद्योगैस्तेन युज्यमानैः शब्दैर्माठरपुत्रि! सोमशर्मजननीत्येवमादिभिः पुरुषेणाभाष्या।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुख्या कृताभिषेका दयिता पुनर्देवीति, अपिशब्दात् प्रियेति च राजभिर्बहुवचनादन्यैश्च पुम्भिः। तथा विदूषकेण राज्ञी राजपत्नी चेटी च भवतीति वाच्या। तथा सर्वा अपि नृपस्त्रियो राजपत्न्यः परिजनेन भट्टिनी स्वामिनी देवीति शब्दैः शब्द्यन्ते। वेश्या पण्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाया नामान्तरविधानात्, परिजनेनाज्जुकेति सेति वेश्या, वृद्धा पुनरत्तेति। तुल्या समानकुल-शील-वयो-ऽवस्थाऽऽदिका वनिता च समानया स्त्रिया हलेति वाच्या इति॥ ४५-४७॥

अन्यदप्याह—उत्तमप्रकृतिरहिता युवतिरप्रेषणीया सत्यनुत्तमा सा प्रेष्या च हंजेशब्देन कीर्त्यते। देवता सरस्वत्यादिका। तपःस्था व्रतविशेषवती। एते च स्वतन्त्रे, न तु कञ्चनापि पतिमाश्रिते। अर्च्याः पूज्यतमाः। बहुविद्या बहुश्रुता एते अर्च्यादयः सयोषितो भार्याऽप्येतदीया भगवच्छब्देनोच्यत इत्यर्थः। तथा मान्यः प्रसिद्धनामपरिहारेण नामान्तरैः प्रशंसासूचिभिरमात्य! श्रेष्ठिन्! वत्सराज! सोमवंशमौक्तिकमणे! इत्यादिभिराभाषणीयः। प्रायिकं चैतत्, तेन चाटुकारादौ 'उदयने महीं शासति को विपदामवकाश.?' इति स्वनाम्नाऽप्याभाष्यः। मान्यादन्यस्तु मध्यमः स्वनामभिर्वाच्यः। नीचस्य सम्भाषणं तु वक्ष्याम इति। लिङ्गिना च राजन्शब्देन शब्द्यते भूपतिरित्युत्तरेण सम्बन्धः। उपलक्षणात् कौरव्येत्याद्यपत्यप्रत्ययान्तैरपि। विदूषकैः पुनर्भूपतिर्वयस्य-शब्देनापिशब्दात् राजन्शब्देन च। अधमैश्च नीचप्रकृतिभिर्भूपतिर्भट्टिन्शब्देन लौकैश्चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभिर्जनैर्भूपतिर्देवशब्देन शब्द्यत इति॥४८-४९॥

किञ्च—वयस्य-सखीत्यादयो मित्राख्याः ताभिर्विदूषको राज्ञा सम्भाष्यः। सूत्रत्वाच्च विदू इत्येकदेशनिर्देशो न विरोधी। कुमारो युवराजः कौमारे वयसि वर्तमा-नोऽन्यो वा एष भर्तृदारक इति, भर्तृदारको वा कुमार इत्यभिधातव्यः। एवं कुमार्यपि द्रष्टव्या। मुनिर्निर्ग्रन्थः, शाक्यः सौगत एतौ भदन्तेति। अपरः पाशुपतादिव्रती स्वसमय-प्रसिद्धनामभिर्वाच्यः। यथा पाशुपतस्य भापूर्वं 'भासर्वज्ञ' इत्यादि सम्भाषणम्। तथा सूत्री सूत्रधारोऽनुगेनानुचरेण कर्त्रा भावशब्देन सम्भाष्यः। असावित्यनुगः सूत्रधारात् किंचित्न्यूनगुणस्तेन सूत्रधारेण मार्ष इत्यभिधातव्यः। तथा समो वयोऽवस्थागुणादिना तुल्यः समेनैव सखेति वाच्यः, मित्राभिधायिना शब्देन सम्भाष्य इत्यर्थः। अनेन च विधानेन समस्य प्रसिद्धस्वनाम्ना सम्भाषणं न निषिध्यते। असम्भवायोगयोर्व्यवच्छेद-फलत्वात् सर्वस्यापि नामविधानस्य तेन आर्यादिनामविधानेऽपि नान्यशब्देन कीर्त्तन-निषेधः। शिष्यात्मजानुजा इति। शिष्यो दीक्षितोऽध्यापितो वा। आत्मजः पुत्रः। अनुजो लघीयान् भ्राता। एते गुरु-जनक-ज्येष्ठभ्रातृभिर्यथासङ्ख्यं पुत्रशब्देन वा सम्भाष्याः। तातशब्देन पुनर्जरन्, अपिशब्दात् शिष्यात्मजानुजाश्च कीर्तनीयाः। तथा नीचप्रकृतिर्मध्यमोत्तमाभ्यां सौम्य इति भद्रमुख इति च शब्द्यते। पामरैर्नीचैः पुनर्नीच एव हंडेशब्देनोपलक्षणादरे! हंहो! इत्यादिना च वाच्यः। येनेति कर्म वाणिज्य-कृषि-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पाशुपाल्य-गीत-नृत्त-वाद्यवादन-चित्र-राजसेवा-शस्त्रश्रमादि-व्यापारः। आदिशब्दाज्जातिकुलादि-ग्रहः। येन केनचित् कर्मादिना यः कश्चित् प्रसिद्धः, स तेन कर्मादिनोपाधिना शब्दप्रवृत्तिनिमित्तेन सङ्कीर्तनीयः। यथा गान्धिकः ताम्बूलिकः कृषीवलः पशुपालो गोपालो गान्धर्वश्चित्रकरः सेवकः वैद्यः क्षत्रियो ब्राह्मण इत्यादि। तथा स्वयं वा यत् कल्प्यते तदपि कर्माद्यानुरूपे (प्ये) णैवेति ॥५०-५२॥

अथ कल्पनीयनाम्नां कल्पनाप्रकारमाह—शूरे सत्त्वप्रधाने पुरुषे विक्रमस्य शौर्यस्य संसूचकं नाम कल्पनीयम्; यथा भीमपराक्रमोऽरिमर्दन इत्यादि। वाणिजे पुनः प्रायशो बाहुल्येन दत्तशब्दान्तं नाम विधेयम्, यथा समुद्रदत्तः, सागरदत्त इत्यादि। प्रायोवचनाद् धनपतिरित्याद्यपि। विप्रे तु गोत्र-कर्मणोरानुरूप्येण नाम्न कल्पनीयम्, यथा शाण्डिल्यो गार्ग्यायण इत्यादि, आथर्वणिकः सामको अग्निहोत्रिय इत्यादि, प्रायोवचनादग्निशर्मा सोमशर्मेत्यपि। तथा नृपस्त्रियां शुभं शुभसंसूचकं नाम कर्तव्यम्, यथा सुलक्षणा विजयवतीत्यादि। पणयोषिति वेश्यायां पुनर्दत्ताशब्दान्तं सेनाशब्दान्तं च नाम करणीयम्, यथा देवदत्ता, वसन्तसेना। प्रायोग्रहणाद् विदग्धमित्रा, वसन्तश्रीरित्याद्यपि। तथा चेट्यां प्रेष्यायां योषिति मालिनी, मल्लिकेत्यादीनि पुष्पवाचकान्यादिशब्दाच्चूतलतिका, प्रियङ्गुमञ्जरीत्यादीनि च नामानि कल्पनीयानि। चेटे प्रेषणीयपुरुषे पुनर्मङ्गलं मङ्गलकारणं वस्तु कीर्त्यते शब्द्यते येन नाम्ना तत् सिद्धार्थकेत्यादि सिद्धि नेयम्। एवमन्यदप्यत्रोत्तम-मध्यमाधमपात्राणां प्रयोजनानुसारतो नाम रूपकेषु कीर्त्तनीयमिति ॥५३-५४॥

तदेवं नाटकादीनि वीथ्यन्तानि द्वादशरूपाणि सप्रपञ्चं लक्षितानि ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्यान्यपि च रूपकाणि दृश्यन्ते । यदाहु :—

"विष्कम्भक-प्रवेशक-रहितो यस्त्वेकभाषया भवति ।
अप्राकृत-संस्कृतया, स सट्टको नाटिकाप्रतिमः ॥१॥

तत्र— श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्युः ।
वर्णयति शौर्य-धैर्य-प्रभृतिगुणानग्रतः सख्याः ॥

पत्या च विप्रलब्धा, गातव्ये तं क्रमादुपालभते ।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥२॥

चौर्यरतप्रतिभेदं, यूनोरनुरागवर्णनं चा (वा) पि ।
यत्र ग्राम्यकथाभिः, कुरुते किल दूतिका रहसि ॥

मन्त्रयति च तद्विषयं, न्यग्जातित्वेन याचते च वसु ।
लब्ध्वाऽपि लब्धुमिच्छति, दुर्मिलिता नाम सा भवति ॥३॥

प्रथमानुराग-मान-प्रवास-शृङ्गारसंश्रयं यत् स्यात् ।
प्रावृड्-वसन्त-वर्णन-परमन्यद् वाऽपि सोत्कण्ठम् ॥

अन्ते वीररसाढ्यैर्निबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।
प्रस्थानमिति ब्रुवते, प्रवासमुपलक्षयत् सुधियः ॥
नृत्यच्छिन्नानि खण्डान्यपसाराः ॥४॥

गोष्ठे यत्र (त् तु) विहरतः, चेष्टितमिह कैटभद्विषः किञ्चित् ।
रिष्टासुरप्रमथन-प्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥५॥

यन्मण्डलेन नृत्तं, स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत् प्राहुः ।
तत्रैको नेता स्याद्, गोपस्त्रीणामिव मुरारिः ॥६॥

यस्य (च्च) पदार्थाभिनयं, ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।
तन्नर्तनकं शम्या-लास्य-च्छलित (कं)-द्विपद्यादि ॥७॥

किन्नरविषयं लास्यं नृत्तं शम्या । शृङ्गाररसप्रधानं लास्यम् । शृङ्गार-वीर रौद्रादिप्रधानं छलितम् । द्विपद्यादयः छन्दोभेदाः ॥

रथ्या-समाज-चत्वर-सुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभिः ।
पात्रविशेषैर्यत् तत्, प्रेक्षणकं कामदहनादि ॥८॥

षोडश द्वादशाष्टौ वा, यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः, रासकं तदुदाहृतम् ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी, गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।
भेदनाद् भेद्यको जातो, लताजालापनोदतः ॥९॥

कामिनीभिर्भुवो भर्तुः, चेष्टितं यत् तु (त्र) नृत्यते ।
रागाद् वसन्तमासाद्य, स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥१०॥

आक्षिप्तिकाऽथ वर्णो, मात्राध्रुवकोऽप्यभग्नतालश्च ।
पद्धति (टि) का छर्दनिका, यत्र स्युस्तदिह काव्यमिति ॥११॥

हरि-हर-भानु भवानी स्कन्द प्रमथाधिप-स्तुतिनिबद्धः ।
तद्ध (उद्ध) त करणप्रायः, स्त्रीवर्जो वर्णनायुक्तः ॥

यदि चैव (वैष) शुद्धवाचा, शुद्धः सङ्कीर्णया च सङ्कीर्णः ।
सर्वाभिर्भाषाभिः, चित्रैश्च विचेष्टितैश्चित्रः ॥

अयमुद्धतोऽथ ललितो, भाणो ललितोद्धतश्च सम्भवति ।
अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयसत्त्वा (भावा) च्च ॥१२॥

यद् दुष्करमभिनेयं, चित्रं वा (चा) ऽत्युद्भटं च (यत्) सम्भवति ।
तद् भाणकेऽभिनेयं, युतमनुतालैर्वितालैश्च ॥

प्रायो हरिचरितयुतः, स्त्रीकृतगाथादिवर्णमात्रस्य (श्च) ।
सुकुमारतः प्रयोगाद्, भाणोऽपि हि भाणिका भवति ॥१३॥"

इत्यादीनि । एतानि च स्वल्पमात्ररञ्जनानिमित्तत्वाद्, वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृत्तावेव कीर्तितानीति ॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ सर्वरूपक-साधारणलक्षण-निर्णयो नाम चतुर्थो विवेकः ॥४॥

समाप्तं
सविवरणं नाट्यदर्पणम्

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Parimal Sanskrit Series No. 11

RĀMĀYAṆA

OF

VĀLMĪKI

WITH THE COMMENIARIES

TILAK OF RAMA RAMAYANASIROMANI OF SIVASAHAYA

AND BHUSANA OF GOVINDARAJA

EDITED BY

SHASTRI SHRINIVAS KATTI MUDHOLKAR

Includes an exhaustive introduction
and Index of verses

BY

SATKARI MUKHOPADHYAYA

Complete in 8 volumes

Rs. 2000-00 per set

PARIMAL PUBLICATIONS

Oriental Publishers & Book-Sellers

DELHI - AHMEDABAD

...m. Kathmandu, Nepal